मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

द्वैमासिक (संयुक्तांक)
मार्च 2021–जून 2021
30 रुपये

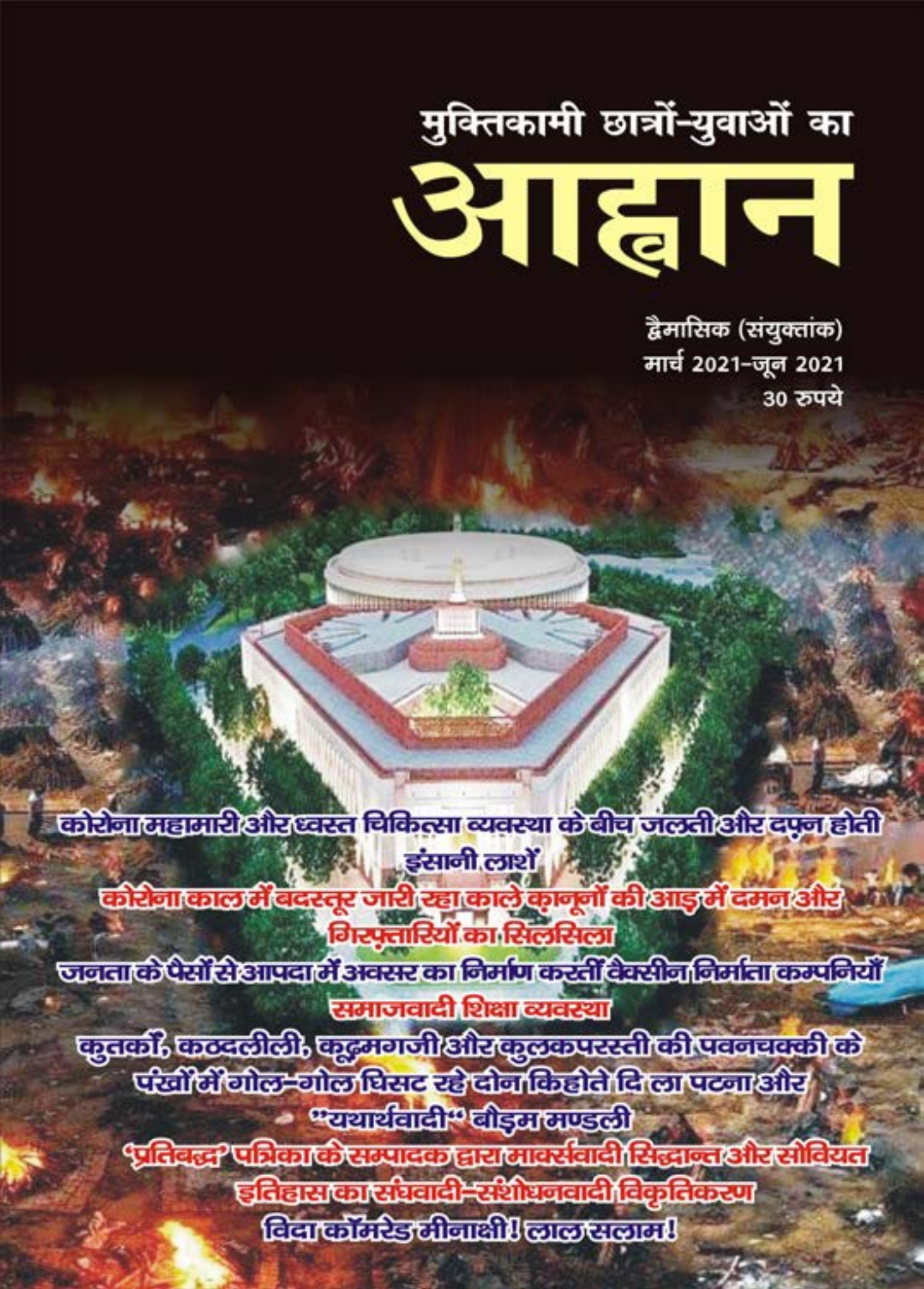

कोरोना महामारी और ध्वस्त चिकित्सा व्यवस्था के बीच जलती और दफ़्न होती इंसानी लाशें

कोरोना काल में बदस्तूर जारी रहा काले क़ानूनों की आड़ में दमन और गिरफ़्तारियों का सिलसिला

जनता के पैसों से आपदा में अवसर का निर्माण करतीं वैक्सीन निर्माता कम्पनियाँ

समाजवादी शिक्षा व्यवस्था

कुतर्कों, कठदलीली, कूढ़मगजी और कुलकपरस्ती की पवनचक्की के पंखों में गोल-गोल घिसट रहे दोन किहोते दि ला पटना और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली

'प्रतिबद्ध' पत्रिका के सम्पादक द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्त और सोवियत इतिहास का संघवादी-संशोधनवादी विकृतिकरण

विदा कॉमरेड मीनाक्षी! लाल सलाम!

धीमी मौत - मार्था मेदेइरोस

जो बन जाते हैं आदत के गुलाम,
चलते रहे हैं हर रोज़ उन्हीं राहों पर,
बदलती नहीं जिनकी कभी रफ्तार,
जो अपने कपड़ों के रंग बदलने का
जोख़िम नहीं उठाते,
और बात नहीं करते अनजान लोगों
से,
वे मरते हैं धीमी मौत।
जो रहते हैं दूर आवेगों से,
भाती है जिन्हें सियाही उजाले से
ज़्यादा,
जिनका 'मैं' बेदखल कर देता है उन
भावनाओं को,
जो चमक भरती हैं तुम्हारी आँखों में,
उबासियों को मुस्कान में बदल देती
हैं,
ग़लतियों और दुःखों से उबारती हैं
हृदय को,
वे मरते हैं धीमी मौत।
जो उलट-पुलट नहीं देते सबकुछ
जब काम हो जाये बोझिल और
उबाऊ,
किसी सपने के पीछे भागने की
ख़ातिर
चल नहीं पड़ते अनजान राहों पर,
जो ज़िन्दगी में कभी एक बार भी,
समझदारी भरी सलाह से बचकर
भागते नहीं,
वे मरते हैं धीमी मौत।

जो निकलते नहीं यात्राओं पर,
जो पढ़ते नहीं,
नहीं सुनते संगीत,
ढूँढ़ नहीं पाते अपने भीतर की लय,
वे मरते हैं धीमी मौत।
जो ख़त्म कर डालते हैं ख़ुद अपने
प्रेम को,
थामते नहीं मदद के लिए बढ़े हाथ,
जिनके दिन बीतते हैं
अपनी बदकिस्मती या
कभी न रुकने वाली बारिश की
शिकायतों में,
वे मरते हैं धीमी मौत।
जो कोई परियोजना शुरू करने से
पहले ही छोड़ जाते हैं,
अपरिचित विषयों के बारे में पूछते नहीं
सवाल,
और चुप रहते हैं उन चीज़ों के बारे में
पूछने पर
जिन्हें वे जानते हैं,
वे मरते हैं धीमी मौत।
किश्तों में मरते चले जाने से बचना है
तो याद रखना होगा हमेशा
कि ज़िन्दा रहने के लिए काफ़ी नहीं
बस साँस लेते रहना,
कि एक प्रज्ज्वल धैर्य ही ले जायेगा
हमें
एक जाज्वल्यमान सुख की ओर।

आह्वान के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ **'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नयी क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ क़ायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी क़ायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नयी क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में क़ैद; नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज़ लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज़ कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।**

➢ **'आह्वान' ज़िन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिये नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।**

इस अंक में

पाठक मंच	**2**
अपनी ओर से	
कोरोना महामारी और ध्वस्त चिकित्सा व्यवस्था के बीच जलती और दफ़्न होती इंसानी लाशें	3
सामयिकी	
कोरोना महामारी में चरमराई भारत की स्वास्थ्य व्यवस्था	11
कोरोना की दूसरी लहर और रोज़गार का संकट	26
कोरोना काल में बदस्तूर जारी रहा काले कानूनों की आड़ में दमन और गिरफ़्तारियों का सिलसिला	28
लक्षद्वीप में भाजपा का फ़ासीवादी हस्तक्षेप	31
स्वास्थ्य बजट की कहानी	34
जनता के पैसों से आपदा में अवसर का निर्माण करतीं वैक्सीन निर्माता कम्पनियाँ	37
शिक्षा जगत	
समाजवादी शिक्षा व्यवस्था: शिक्षा के क्षेत्र में समाजवादी चीन में हुए प्रयोगों पर एक संक्षिप्त चर्चा	39
विश्व पटल पर	
फ़िलिस्तीन की जनता के बहादुराना संघर्ष ने एक बार फिर ज़ायनवादियों को धूल चटाई और पीछे हटने को मजबूर किया!	15
ब्राज़ील में बोल्सोनारो के ख़िलाफ़ तेज़ हुआ जनान्दोलन - परन्तु चुनौती सरकार-विरोधी आन्दोलन को व्यवस्था-विरोधी रूप देने की है	48
विशेष लेख	
कुतर्कों, कठदलीली, कूढ़मग़ज़ी और कुलकपरस्ती की पवनचक्की के पंखों में गोल-गोल घिसट रहे दोन किहोते दि ला पटना और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली	50
'प्रतिबद्ध' पत्रिका के सम्पादक द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्त और सोवियत इतिहास का संघवादी-संशोधनवादी विकृतिकरण	92
स्मृति शेष	
विदा कॉमरेड मीनाक्षी! लाल सलाम!	126
विदा कॉमरेड लाल बहादुर वर्मा! लाल सलाम!	128
फ़िल्म समीक्षा	
दि ग्रेट इण्डियन किचन	124
गतिविधियाँ	
प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट लीग द्वारा ऑनलाइन प्रदर्शनी का आयोजन	132

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान

वर्षः 14 अंकः 2-3

मार्च-जून, 2021 (संयुक्तांक)

सम्पादक
अभिनव
सह-सम्पादक
कविता
सज्जा
रामबाबू

एक प्रति का मूल्य: **30 रुपये**
वार्षिक सदस्यता: **200 रुपये**
द्विवार्षिक सदस्यता: **400 रुपये**
पंचवर्षीय सदस्यता: **900 रुपये**
आजीवन सदस्यता: **2,500 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय: बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फ़ोन: 08858288593

ईमेलः ahwan.editor@gmail.com वेबसाइटः ahwanmag.com फ़ेसबुकः facebook.com/muktikamiahwan

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक **अभिनव सिन्हा** द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

मैं कई वर्षों से 'आह्वान' पत्रिका का नियमित पाठक और सदस्य हूं। मुझे लगता है कि आज फ़ासीवादी सरकार के दौर में छात्रों- युवाओं और मजदूरों के बीच गहरा असन्तोष है तब ऐसी पत्रिका का होना बहुत ज़रूरी है। जो उनके सामने हो रही घटनाओं का सही नज़रिए से विश्लेषण करती हो। आज के दौर में कॉरपोरेट मीडिया सच दिखाने या बताने की हिम्मत नहीं रखती क्योंकि आज की मीडिया राजनेताओं और पूँजीपतियों के हाथों की कठपुतली है। उन्हें जनता के दुःख-दर्द से कोई हमदर्दी नहीं है। वे केवल राजनेताओं और पूँजीपतियों की चाटुकारिता करते रहते हैं तब ऐसी स्थिति में यह पत्रिका उनके विचारों को लेकर जा रही है इसके लेखों से युवाओं को विभिन्न चीजों को देखने और समझने का नजरिया मिलता है। इसके लेख भाजपा और संघ परिवार की राजनीति की पोल खोल कर रख देते हैं।

अत: यह पत्रिका गाँव की ओर भी ले जाया जाए।

-अंशुरीश

(बी.ए., प्रथम वर्ष, इविवि)

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश : • जनचेतना, 114, जनता मार्केट, रेलवे बस स्टेशन रोड, गोरखपुर • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 से 8) • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मन्दिर गेट, बीएचयू, वाराणसी • प्रसेन, इलाहाबाद, फ़ोन: 8115491369 • करण, एस14, श्री जी रेज़ीडेंसी, मथुरा - 281001

दिल्ली : • योगेश, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • हेम बुक सेण्टर, जे.एन.यू. • सेण्ट्रल न्यूज़ एजेंसी, कनॉट प्लेस, • पी.पी. एच. बुकशॉप कनॉट प्लेस, लता, जे.एन.यू., फ़ोन: 8800105101

बिहार : • विक्रान्त कुमार, द्वारा, हीरालाल, कुट्टी मशीन गली, गोसाईं टोला, पाटलिपुत्र कॉलोनी, पटना-800013 • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो- करनौल, ज़िला मुजफ्फरपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, शब्दसदन, सिकन्दरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • प्रगतिशील साहित्य सदन, पटना कालेज गेट के सामने, अशोक राजपथ, पटना • श्री चन्द्रेश्वर, एल.एच. 3/8, हाउसिंग कॉलोनी, चन्दवा, आरा, ज़िला-भोजपुर • सन्तोष ओझा द्वारा रघुनाथ ओझा, शिवचन्द्र पथ, काली मन्दिर रोड, हनुमान नगर, कंकड़ बाग़, पटना • रामप्रवेश कुमार, ग्राम व पोस्ट-रूस्तमपुर (बेलदारी पर) थाना, हुलासगंज, वाया इस्लामपुर, नालन्दा

राजस्थान : • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर

हरियाणा : • शहीद-ए-आज़म लाईब्रेरी, गोल मार्केट, हाऊसिंग बोर्ड कॉलोनी रेलवे रोड़, नरवाना, ज़िला-जींद • हैप्पी बुक डिपो, स्टूडेण्ट एक्टिविटी सेण्टर, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यायल, रोहतक • अजय, जींद, फ़ोन: 8685030984 • अरविन्द, रोहतक, फ़ोन: 8010156365

पंजाब : • अवतार सिंह, मकान नं. 19041, गली नं. 14, बीबी वाला रोड, बठिण्डा, 151001, फ़ोन: 9501070001 • इनजिन्दर सिंह, शिवम कालोनी, गली नं. 5, संगरूर, फ़ोन: 9888080820 • दीपक शर्मा, मकान नं. 30, गुरुद्वारा खुही-सर, गली नं. 3, सतजोत नगर, ढांढरा रोड, लुधियाना-141116 • प्रभदीप, लुधियाना, फ़ोन: 9888808876 • शुभम रौतेला, 119/7, सेक्टर - 32ए, चंडीगढ़, फ़ोन: 8196803093

हिमाचल प्रदेश : • वृषाली द्वारा चेतन गुप्ता, जनरल मर्चेंट एंड ट्रांसपोर्ट एजेंट, टुटू, शिमला-171011, फ़ोन: 9582712837 • सुरेश सेन निशान्त, गाँव सलाह, डाक- सुन्दरनगर-1, ज़िला-मण्डी • जय प्रकाश, दिग्विजय अपार्टमेंट्स, विजय नगर, टूटू (शिव मन्दिर के पास), शिमला

महाराष्ट्र : • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई • खन्ना जी, विश्वभारती प्रकाशन, धनवते चैम्बर्स, सीतावर्दी, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, रूम नं.: 103, बिल्डिंग: 61-ए, लल्लूभाई कम्पाउण्ड, मानखुर्द, मुम्बई (पश्चिम) • गोपाल नायडू, कौशल्या अपार्टमेण्ट चूना भट्ठी, अजनी रोड, नागपुर • शहीद भगतसिंह पुस्तकालय, पंचशील विद्यामन्दिर, शाळेसमोर, बौद्धवस्ती, सिद्धार्थनगर, अहमदनगर, महाराष्ट्र • अभिजीत, 6, गुलमोहर, समर्थ सोसाइटी, वारजे, पुणे -58

मध्यप्रदेश : • संजय बुक स्टॉल, शाप नं- 43, ग्वालियर

उत्तराखण्ड : • अपूर्व, (देहरादून), फ़ोन: 7042740669 • वर्मा एजेंसी, हनुमान चौक सोमेश्वर, अल्मोड़ा • राजेन्द्र जोशी द्वारा श्रमजीवी पत्रकार संगठन द्वितीय तल, ज़िला पंचायत भवन, पिथौरागढ़ • दख़ल, द्वारा श्री रमाशंकर नेलवाल नज़दीक उत्तर उजाला ऑफिस, चौहान पाटा, मालरोड, अल्मोड़ा • बुक वर्ल्ड, 10- ए, एस्ले हाल, देहरादून

जम्मू : • श्री पुरुषोत्तम, लेक्चरर, हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय

छत्तीसगढ़ : • शेख अंसार, रायपुर व राजनांदगाँव, फ़ोन: 9993233537 • जैनेन्द्र ठाकुर, रायपुर, फ़ोन: 9009755117 • श्री देवांशु पाल, सं. 'पाठ', गायत्री विहार, गली विनोबा नगर, बिलासपुर

केरल : • राजीव साची, फ्लैट नं. डी4, गैलेक्सी लक्ज़र, सेंट सेबस्टियन रोड, पोन्नूरन्नी, वायटिला, कोच्चि-19

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का 'आह्वान' के नये-पुराने अंक तथा आह्वान पुस्तिकाएँ आप निम्नलिखित वेबसाइट से भी प्राप्त कर सकते हैं : www.ahwanmag.com, इसके अलावा आप आह्वान के लेख व्हाट्सऐप पर भी पा सकते हैं। इसके लिए आपको 9892808704 (सत्यनारायण) फ़ोन नम्बर अपनी फ़ोन सूची में जोड़कर व्हाट्सऐप से इस पर मैसेज भेजना होगा। विभिन्न विषयों पर 'आह्वान' की ओर से प्रस्तुत सामग्री के लिए हमारा फ़ेसबुक पेज भी फ़ॉलो करें: @ muktikamiahwan

कोरोना महामारी और ध्वस्त चिकित्सा व्यवस्था के बीच जलती और दफ़्न होती इंसानी लाशें

कोरोना महामारी की दूसरी लहर हमारे देश के लाखों लोगों के लिये मौत का ऐसा भयानक ताण्डव बनकर आई जिसे कोई भी इंसाफ़पसन्द इंसान कभी नहीं भूल पाएगा। ऑक्सीज़न, दवा, बेड के लिये चारों ओर भयंकर अफ़रा-तफ़री मची हुई थी। लोग तड़प-तड़पकर मर रहे थे। तीमारदारी में लगे मरीज़ों के परिजन, दोस्त, शुभचिन्तक अपने माँ, बाप, भाई-बहन, बेटा-बेटी, रिश्तेदार, दोस्त को बेबस अपनी आँखों के सामने मौत के मुँह में जाते देख रहे थे। मौत की सूचनाएँ बारिश की तरह बरस रहीं थीं और हर इंसान इस आतंक के साये में जी रहा था कि अबकी बारी किसकी है? गाँवों, कस्बों और शहरों के ग़रीबों-मेहनतकशों के लिये श्मशान और क़ब्रिस्तान तक ठीक से मुहैया नहीं थे, स्वास्थ्य सुविधाओं की तो बात करना ही बेमानी है। पूरा देश लाशों के जलने की गन्ध और रुदन से भर गया। कितनों की मौत तो ऐसे हुई कि अभी साथ ही निकले थे और बस हमेशा के लिये गायब हो गये! लेकिन मौत का ताण्डव यहीं तक नहीं था। लाशें गंगा में सड़कर ऊपर आ गईं, लाशों को कुत्तों और सुअरों ने नोच-नोचकर खाया। नदियों के किनारे अनगिनत लाल चुन्नियों को देखकर ऐसा लगता है जैसे उनके नीचे दबी लाशें हमारी ओर देख रही हैं।

इस वीभत्स और भयानक मंज़र के लिये क्या केवल कोरोना ज़िम्मेदार है? क्या इतनी मौतें केवल कोरोना से हुईं? कतई नहीं! कोरोना महामारी को इस स्थिति तक पहुँचाने के लिये वर्तमान फ़ासिस्ट मोदी सरकार ज़िम्मेदार है जो इंसानों के लिये कोरोना से भी कई गुना ज़्यादा घातक है। इस स्थिति के लिये आज़ादी के बाद से तथाकथित लोकतन्त्र की सभी रहनुमा चुनावी पार्टियाँ और उनकी स्वास्थ्य नीतियाँ ज़िम्मेदार हैं। वायरल संक्रमण प्रकृति और मनुष्य की अन्तर्क्रिया के दौरान अनिवार्य रूप से पैदा होते ही हैं। वे मनुष्यों के बीच बीमारी के रूप में भी फैलते हैं। लेकिन वे महामारियों का रूप अक्सर पूँजीवादी मुनाफ़ाखोर व्यवस्थाा के कारण लेते हैं। निश्चित तौर पर, यदि देश में एक सुचारू स्वास्थ्य व्यवस्था होती तो मौतों की संख्या को घटाया जा सकता था। लेकिन हमारे देश में स्वास्थ्य व्यवस्था को मुनाफ़ाखोरी की भेट चढ़ा दिया गया है। इसका नतीजा देश की जनता को कोरोना महामारी के दौरान भुगतना पड़ा। इस स्थिति के लिये अन्ततः मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था ज़िम्मेदार है जो आम इंसान के जीवन के अलावा बीमारी और मौत तक से मुट्ठीभर धनपशुओं के लिये सिक्के ढालती है।

सबसे पहले तो ये जानना ज़रूरी है कि कैसे फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने इस महामारी को इस भयानक अंजाम तक पहुँचाया! कोरोना की पहली लहर के समय से देखा जाय तो इस फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने नमस्ते ट्रम्प, थाली बजवाने, बिना किसी योजना के लॉकडाउन लगाकर करोड़ों मज़दूरों को सड़कों पर धकेलने जैसी मूर्खताओं से कोरोना को फैलाने का ही काम किया था। कोरोना की पहली लहर उतरने पर जब दुनिया के तमाम देश भविष्य में ऐसी किसी स्थिति के दुबारा

आने (जिसकी बहुत ज़्यादा सम्भावना थी और वैज्ञानिकों द्वारा लगातार चेतावनी दी जा रही थी) पर बचाव की तैयारी कर रहे थे तो मोदी कोरोना पर फ़तह हासिल करने का विजयोत्सव मना रहा था। जब कोरोना की दूसरी लहर शुरू हुई तो बेशर्मी और बर्बरता की सारी हदें पार करके भाजपा के सभी फ़ासिस्ट सूरमा बंगाल चुनाव में भीड़ इकट्ठा कर रहे थे। लोगों की धार्मिक भावनाओं का फ़ायदा उठाने के लिये कुम्भ का आयोजन करवाया जा रहा था। इतना ही नहीं, जब चारों ओर लोग बड़े पैमाने पर मर रहे थे तब भी उत्तर प्रदेश में पंचायत चुनाव कराये गये। जिससे न केवल संक्रमण गाँवों में तेज़ी से फैला अपितु ड्यूटी पर लगाए गये हज़ारों कर्मचारी मौत के मुँह में झोंक दिये गये।

इस सरकार ने आपराधिक लापरवाही के मामले में दुनिया की तमाम बर्बर पार्टियों से कई क़दम आगे बढ़ झण्डे गाड़े हैं। यह इससे समझा जा सकता है कि हमारे देश में ऑक्सीज़न का सबसे अधिक उत्पादन ओडिशा या झारखण्ड जैसे पूर्वी राज्यों में होता है। इस ऑक्सीज़न को देश के विभिन्न कोनों तक पहुँचने में हज़ारों किलोमीटर का सफ़र तय करना पड़ता है। दूसरे, लिक्विड या तरल ऑक्सीज़न को क्रायोजनिक कण्टेनर में ही एक जगह से दूसरी जगह तक ले जाया जा सकता है। इन क्रायोजनिक कण्टेनरों की संख्या बहुत सीमित है। इन कण्टेनरों को बढ़ाने का कोई इन्तज़ाम नहीं किया गया। इसी तरह गुजरात के गाँधीधाम के एसईज़ेड में देश के कुल दो-तिहाई ऑक्सीज़न सिलेण्डर बनते हैं। सरकार की लापरवाही की इन्तहाँ ये थी कि औद्योगिक ऑक्सीज़न सिलेण्डर के निर्माण की इकाइयों पर पाबन्दी लगाने वाले आदेश में इन सिलेण्डर निर्माता इकाइयों को भी शामिल कर लिया गया। नतीजा सिलेण्डरों के लिये अफ़रा-तफ़री मची रही। सरकार अपने कारख़ानों पर ताला लटका कर विदेशों से भीख माँग रही थी या दोगुने-चौगुने दाम पर सिलेण्डर खरीद रही थी। लेकिन 18-18 घण्टे काम करने की लफ़्फ़ाज़ी करने वाली मोदी सरकार के आपराधिक निकम्मेपन का अभी अन्त नहीं है। 25 अप्रैल के बाद से कई देशों ने हवाई जहाज़ पर लादकर भारत को ऑक्सीज़न सिलेण्डर, ऑक्सीज़न कंसण्ट्रेटर्स, वेण्टिलेटर समेत कई ज़रूरी सामान भेजे। एक अमेरिकी पत्रकार द्वारा अपने सरकार से यह पूछने पर कि उनके करदाताओं के पैसे से अमेरिकी सरकार ने सहायता के तौर पर जो सामान दिल्ली भेजा था उसका क्या हुआ? जब अमेरिकी सरकार ने भारत सरकार को कोंचा तो पता चला कि एक हफ़्ते तक सरकार एसपीओ (स्टैंडर्ड ऑपरेटिंग प्रोसीज़र) नहीं बना पाई थी, जिसकी वजह से सारा सामान हवाई अड्डों पर ही पड़ा रहा और लोग दम तोड़ते रहे। बंगाल चुनाव में जनता का पैसा पानी की तरह बहाने के अलावा बंगाली वोटों को लुभाने के लिये बांग्लादेश को 12 लाख वैक्सीन भेज दी गयी जबकि अपने देश के लोगों के लिये वैक्सीन नहीं है। इसी तरह वैक्सीन निर्माण को पेटेण्ट के अन्तर्गत रखने के कारण कुछ कम्पनियाँ तो ज़रूर अकूत मुनाफ़ा पीटेंगी लेकिन देश के लोगों का वैक्सीनेशन बहुत ही धीमी प्रक्रिया में हो रहा है। इसके लिये इन्तज़ार करना पड़ रहा है और लम्बी-लम्बी लाइनें लग रही हैं। इस महामारी में भी मोदी ने अपने असली आकाओं की सेवा में कोई कोताही नहीं बरती है। अदार पूनावाला की सीरम इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डिया कम्पनी को सरकार द्वारा वैक्सीन बनाने के लिये सारे सरकारी नियमों में ढील देकर 3000 करोड़ रुपये और भारत बायोटेक को 1500 करोड़ का सरकारी अनुदान दिया गया। कहा गया था कि ये दवाइयाँ मुफ़्त दी जायेंगी। लेकिन अब इनको 780 और 1420 में रुपए में बेचा जा रहा है। यह भी रफ़ायल की तरह बहुत बड़ा घोटाला है। 'विस्टा प्रोजेक्ट' तो इस मोदी सरकार को इतिहास के सबसे बर्बर, निरंकुश और मानवद्रोही सरकार की श्रेणी में खड़ा कर देती है। जब चारो ओर मौत का हाहाकार मचा था, जब देश के करोड़ों मेहनतकश रोटी के लिये जूझ रहे थे, तब भी फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने 20000 करोड़ की लागत वाले इस 'सेंट्रल विस्टा विकास परियोजना' पर पैसा पानी की तरह बहाना बन्द नहीं किया उल्टे इसके निर्माण कार्य को 'आवश्यक सेवा' तक घोषित कर दिया गया ताकि दिल्ली में जारी लॉकडाउन के दौरान भी काम होता रहे। जबकि इन पैसों से 100-100 करोड़ के 200 अस्पताल बनवाए जा सकते थे। हज़ारों करोड़ के ठेके संघियो के खास पूँजीपतियों को दिये जा चुके हैं। इसके पहले भी पीएम केयर के पैसों का कोई हिसाब नहीं है। लेकिन विस्टा प्रोजेक्ट संघियों और इस फ़ासिस्ट सरकार की बर्बरता और भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा स्मारक है।

'विस्टा प्रोजेक्ट' तो इस मोदी सरकार को इतिहास के सबसे बर्बर, निरंकुश और मानवद्रोही सरकार की श्रेणी में खड़ा कर देती है। जब चारों ओर मौत का हाहाकार मचा था, जब देश के करोड़ों मेहनतकश रोटी के लिये जूझ रहे थे, तब भी फ़ासिस्ट मोदी सरकार ने 20000 करोड़ की लागत वाले इस 'सेंट्रल विस्टाविस्टा विकास परियोजना' पर पैसा पानी की तरह बहाना बन्द नहीं किया उल्टे इसके निर्माणकार्य को 'आवश्यक सेवा' तक घोषित कर दिया गया ताकि दिल्ली में जारी लॉकडाउन के दौरान भी काम होता रहे। जबकि इन पैसों से 100-100 करोड़ के 200 अस्पताल बनवाए जा सकते थे। हज़ारों करोड़ के ठेके संघियो के खास पूँजीपतियों को दिये जा चुके हैं। इसके पहले भी पीएम केयर के पैसों का कोई हिसाब नहीं है। लेकिन विस्टा प्रोजेक्ट संघियों और इस फ़ासिस्ट सरकार की बर्बरता और भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा स्मारक है।

हम देख सकते हैं कि मोदी सरकार ने वो सब किया जो नहीं करना चाहिए और वो सब कुछ नहीं किया जो करना चाहिए था। सरकार क्या-क्या कर सकती थी जिससे इतनी भयावह स्थिति न बनती, आइये देखते हैं! सरकार द्वारा क्रायोजनिक कण्टेनर के अलावा अस्पतालों के अन्दर ऑक्सीजन सप्लाई करने के लिये ज़रूरी बुनियादी ढाँचे का निर्माण, हज़ारों करोड़ वाले सेण्ट्रल विस्टा जैसे प्रोजेक्ट पर अनाप-शनाप ख़र्च करने की जगह उसका इस्तेमाल डॉक्टर-नर्स की भर्ती करने में, क्वारण्टाइन सेण्टर बनाने में, ख़ाली पड़े इमारतों, होटलों, स्टेडियम में बेड व चिकित्सा सुविधा का इन्तज़ाम करने में किया जा सकता था। स्पेन जैसे पूँजीवादी देश तक ने इस महामारी से लोगों की जीवनरक्षा के लिये तमाम प्राइवेट अस्पतालों का राष्ट्रीकरण कर उन्हें सरकारी नियन्त्रण में ले लिया और सभी के लिये एक समान इलाज की व्यवस्था की। इसी तरह हमारे देश में भी समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण करके, उसे सरकारी नियन्त्रण में लाकर सभी के लिये निःशुल्क और एक समान दवा-इलाज की व्यवस्था कर इस स्थिति की भयंकरता को कम किया जा सकता था। लेकिन आम जनता की चिताओं पर अपने लिये आरामगाह बनवाने वाली इस हत्यारी फ़ासिस्ट सरकार से कोई उम्मीद मूर्खता होगी। कफ़न तक में घोटाला करने वाले इस सरकार के नेता-मन्त्रियों ने इस महामारी के वक़्त भी जीवनरक्षक दवाइयों की कालाबाज़ारी करने में कोई कमी नहीं की। गौतम गम्भीर जहाँ दिल्ली स्थित अपने आवास पर रेमिडिसिविर को ऊँचे दामों पर बेचने में व्यस्त थे, वहीं बिहार में भाजपा के सांसद राजीव प्रताप रूडी के घर के आगे 60 एम्बुलेंस बरामद की जा रही थीं।

इस फ़ासिस्ट सरकार ने अपने अपराधों को छुपाने के लिये एड़ी-चोटी का ज़ोर लगा दिया। जब लोगों की लाशों से श्मशान अटे पड़े थे, जब ऑक्सीज़न के लिये अफ़रा-तफ़री मची थी और 24-24 घण्टे लाइन में लगने के बाद भी लोगों को ऑक्सीज़न नहीं मिल पा रही थी तब फ़ासिस्ट योगी कह रहा था कि- ऑक्सीज़न की कोई कमी नहीं है। कोरोना से होने वाली मौतों को यूएपीए लगाने की धमकी और तमाम तिकड़मों का इस्तेमाल कर छुपाने की पूरी कोशिश की गयी। जो अस्पताल नहीं जा सके या नहीं पहुँचे उनको तो छोड़ दीजिए, जो कोविड पॉजिटिव की रिपोर्ट लेकर अस्पताल में दाखिल हुए उनकी मौत तक को डेथ सर्टिफिकेट में कार्डिएक अरेस्ट या मल्टी ऑर्गन फेल्योर दिखा दिया गया। सरकारी आँकड़ों का सच्चाई से कोई लेना-देना नहीं है। श्मशान और कब्रिस्तान कम पड़ जाने, नदियों के किनारे दफ़न और नदियों में तैरती लाशों के अलावा कई अख़बारों में डेथ सर्टिफिकेट के आधार पर जारी किए गये आँकड़े सरकार के कुकर्मों का भाण्डा फोड़ देते हैं। सरकार के मुताबिक़ कोरोना की पहली और दूसरी लहर में हुई कुल मौतों का आँकड़ा 15 मई तक केवल 2 लाख 70 हज़ार था। जबकि 22 जून तक सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ 3 लाख 86 हज़ार 7 सौ तेरह मौतें कोरोना से हुईं। अब ज़रा देखें कि एक्सपर्ट्स इस सन्दर्भ में क्या बताते हैं? डेटा साइण्टिस्ट और मिशिगन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर डॉ भ्रमार मुखर्जी और कुछ एक्सपर्ट्स की स्टडी के मुताबिक़ भारत में 15 मई तक 12 लाख से अधिक मौतें हो चुकी थी। कोरोना वायरस के खिलाफ लड़ाई में सीरो सर्वे (सीरो सर्वे में ब्लड सीरम का टेस्ट कर पता लगाया जाता है कि किसी इंफेक्शन के प्रति एंटीबॉडीज बनी हैं या नहीं। इससे न केवल संक्रमण की व्यापकता का पता लगता है, बल्कि इसकी रोकथाम में भी ये मदद करते हैं। जिलों और हाई-लो रिस्क ग्रुप्स में भी सीरो सर्वे से मदद मिलती है।) एक अहम हथियार था। लेकिन दूसरी लहर में नया सीरो सर्वे नहीं हुआ है। 'द हिन्दू' की रिपोर्ट के मुताबिक़, दिल्ली में अप्रैल में शुरू हुआ छठा सीरो सर्वे अभी तक पूरा नहीं हो पाया है। दिल्ली सरकार के एक अधिकारी से प्राप्त जानकारी के आधार पर रिपोर्ट में बताया गया है कि- कोविड के बढ़ते केसों की वजह से इसे रोक दिया गया। अधिकारी के मुताबिक़-"सरकार ने करीब 11 हजार सैम्पल कलेक्ट किए और 6-7 दिन बाद कोविड के मामले बढ़ने के कारण इसे रोक दिया गया। अमेरिका के जाने-माने अख़बार 'द न्यूयॉर्क टाइम्स' ने अपनी एक स्टडी में दावा किया है कि मौत और संक्रमण के वास्तविक आँकड़े भारत सरकार के आँकड़ों से कहीं ज़्यादा हैं। स्टडी के मुताबिक़, कम से कम भी मानें तो भारत में कोरोना से 27 मई तक 6 लाख मौत और 40.42 करोड़ लोग संक्रमित हो चुके थे। इन रिपोर्टोंके अलावा अब उन आँकड़ों पर गौर किया जाय सरकार की

सारी चार सौ बीसी उजागर कर देते हैं। मध्य-प्रदेश में जन्म-मृत्यु का हिसाब रखने वाले 'सिविल रजिस्ट्रेशन सिस्टम' (सीआरएस) के मुताबिक़ 2021 में जनवरी से मई के बीच 2019 में जनवरी से मई के बीच के मुक़ाबले 1.9 लाख ज़्यादा मौतें हुई हैं। जबकि सरकार ने जनवरी से मई 2021 के बीच सिर्फ 4461 कोविड मौतों की जानकारी दी है। इसी तरह दैनिक भास्कर के 28 ब्यूरो प्रमुख और 46 संवाददाताओं ने राजस्थान में श्मशान से आँकड़े जुटाने के अलावा सरपंच, ग्राम पंचायत या जनप्रतिनिधि से मौतों के आँकड़े क्रेस चेक किया तो सरकार के आँकड़ों के मुताबिक़ 36000 गाँव में 3918 मौतों की तुलना में 1 अप्रैल से 20 मई तक केवल 512 गांवों में 14000 मौतों का पता चला। इसी तरह गुजरात के 5 बड़े शहरों में 71 दिनों के भीतर 45211 डेथ सर्टिफिकेट जारी हुए। 28 अप्रैल को देश में 20.68 लाख टेस्ट हुए थे तब संक्रमण दर 18.7 प्रतिशत थी, जबकि 8 मई को टेस्ट घटाकर 14.66 लाख कर देने के बावजूद संक्रमण दर 26.7 प्रतिशत थी। इसी तरह जिस दिन कानपुर में 476 लाशें जलीं और लाशों की संख्या बहुत अधिक होने के चलते टोकन सिस्टम लागू करना पड़ा, उस दिन भी सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ केवल 3 मरीज़ो की कोरोना से मौत दिखाई गयी थी। इसी तरह उत्तर प्रदेश में फ़ासिस्टों ने चुनाव में जिन कर्मचारियों को झोंक दिया था उसमें 1600 से ज़्यादा कर्मचारियों की मौत हुई है। लेकिन जब उत्तर प्रदेश सरकार ने खूब डागा-बाजा बजाकर चुनाव ड्यूटी में मरे सरकारी कर्मचारियों को मुआवजा देने का ऐलान किया तो सरकार के मुताबिक़ बहुत ज़ोर लगाने के बाद भी कुल 45 कर्मचारी ही सरकार के मानक में आ पाये। हमारे देश में टेस्ट जितने कम हो रहे थे, गाँवों-कस्बों और शहरों के ग़रीब लोग बिना टेस्ट, बिना अस्पताल पहुँचे, जिस तरह गुमनाम मौत मर रहे थे! आदि को ध्यान में रखते हुए अनुमान लगाया जाय तो सरकार के मुताबिक़ कोरोना से होने वाली मौतों से कई-कई गुना ज़्यादा मौतों के आँकड़े हमारे सामने आएंगे। अभी हाल ही में आर्टिकल-14 के रिपोर्टर्स द्वारा हासिल किये गयेगये आँकड़ों के मुताबिक़ यूपी के 24 जिलों में 31 मार्च, 2021 के बाद के नौ महीनों के दौरान कोविड-19 की मौत के आधिकारिक आँकड़ों से 43 गुना ज्यादा मौतें हुई हैं। आर्टिकल-14 के रिपोर्टर ने इस दस्तावेज़ को राइट टू इनफार्मेशन एक्ट, 2005 के तहत हासिल किया है। जिसमें बताया गया है कि ग़ैर महामारी के दौरान यानी 1 जुलाई, 2019 और 31 मार्च, 2020 के बीच इन 24 जिलों में तकरीबन 1,78,000 मौतें हुईं। उसी दौरान 2020-2021 में इन मौतों में 110% की वृद्धि हो गयी जो बढ़कर 3,75,000 हो गयी यानी कि 1,97,000 की बढ़त। गोयबल्स को झूठ बोलने में मीलों पीछे छोड़ने वाली फ़ासिस्ट भाजपा सरकार ऐसी सरकार है जो पहले लोगों को बेमौत मरने देगी, फिर मौतों को छुपा देगी, फिर खूब प्रचार करेगी कि उसने लोगों को बचा लिया। इतना ही नहीं, इससे चुनाव जीतने के बाद सबके खाते में 15 लाख डालने वाली, 20 हज़ार करोड़ का सेण्ट्रल विस्टा बनवाने वाली, चुनाव में अरबों रुपयों का वारा-न्यारा करने वाली फ़ासिस्ट भाजपा सरकार को कोरोना से मरने वालों को कोई भी मुआवजा देने से मुकरने में भी आसानी हो जाती है। हालाँकि सरकार मुआवज़ा तो उन्हें भी देने के लिये तैयार नहीं है जो सरकार के मुताबिक़ मरे हैं।

इन फ़ासिस्टों के इस बर्बर, आपराधिक कृत्य को ज़रा भी इंसाफ़ की भावना और देखने की क्षमता रखने वाला व्यक्ति मरते दम तक नहीं भूल सकता। लेकिन हमें ये भी ज़रूर देखना चाहिए कि अन्य चुनावबाज़ पार्टियाँ अपने राज्यों में इस वक़्त क्या कर रही थीं? राजस्थान और दिल्ली जैसे ग़ैर भाजपाई राज्यों, जहाँ क्रमश: कांग्रेस और आम आदमी पार्टी सता में है, की स्थिति अन्य राज्यों की तरह ही दर्दनाक थी। मौतों की संख्या कम दिखाने, दवा, ऑक्सीज़न, बेड आदि के मामले में इन सरकारों के वही कारनामे थे जो केन्द्र में और भाजपा शासित राज्यों में भाजपा के थे। आम आदमी के नाम पर ढोंग करने वाली आम आदमी पार्टी ने श्मशान जानबूझकर शाहाबाद डेरी जैसी मज़दूर बस्तियों की ओर बनवाये क्योंकि इनके लिये मज़दूरों की जान सस्ती है। कोरोना के कहर को कम दिखाने के लिये टेस्टिंग कम कर दी। ग़ौरतलब है कि दिल्ली में 28 अप्रैल को जहाँ प्रति 10 लाख आबादी पर 4423 टेस्टिंग करवायी जा रही थी, वहीं 9 मई तक प्रति दस लाख पर टेस्टिंग घटाकर 3327 कर दी गयी। लेकिन इसके बावजूद भी कोरोना से संक्रमण की दर बढ़ गयी थी। बिना तैयारी

और उचित प्रबन्ध के लॉकडाउन लगा देने से आम मेहनतकश का धन्धा बन्द हो जाने से जीविका का संकट पैदा हो गया था। बहुत देर से राशन कार्ड धारकों और पाँच हफ्ते बाद ग़ैर राशन कार्ड धारकों को राशन देना तय किया गया। लेकिन कई दिन बाद भी प्रतिदिन एक सेण्टर पर 50-100 लोगों को ही राशन दिया जा रहा था। इसी तरह राजस्थान सरकार के 'जन अनुशासन पखवाड़ा' के ढोंग के पीछे लोग बीमारी और भुखमरी के शिकार हो रहे थे।

हक़ीक़त ये है कि आज़ादी के बाद से ही विभिन्न चुनावी मदारियों ने वर्तमान समय तक आते-आते सार्वजनिक स्वास्थ्य तन्त्र को इस क़दर मुनाफ़े की भेंट चढ़ाया और बर्बाद किया कि कोरोना महामारी से पहले भी लोगों को सरकारी ढाँचे के अन्दर ढंग की चिकित्सा सुविधा मिल पाना मुश्किल था। जबकि कोरोना महामारी के संकट के समय पहले से जर्जर चिकित्सा तन्त्र भहरा के गिर गया। आइये देखते हैं कि फ़ासिस्टों के आने के पहले सरकारों का सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली को लेकर क्या रवैया था?

आज़ादी के बाद से अब तक भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति को जानने के लिये हमें इस पूरे समय को दो हिस्सों में बाँट सकते हैं। पहला 1947 से 1980 के दशक के अन्त तक का, यानी नवउदारवादी नीतियों के लागू होने से पहले का समय और दूसरा 1990 के बाद से अब तक का, यानी नवउदारवादी नीतियों के लागू होने का समय।

नवउदारवाद के पहले का समय (1947 से 1990)-आज़ादी के बाद भारत के पूँजीपति वर्ग के प्रतिनिधि नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस सरकार की सबसे पहली प्राथमिकता पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों को स्थापित करना और देश में औद्योगिक विकास की आधारशिला तैयार करना था। चूँकि उस समय भारत का पूँजीपति वर्ग इतना कमज़ोर था कि वह अपने बूते बुनियादी और अवरचनात्मक उद्योगों का तानाबाना खड़ा नहीं कर सकता था, इसलिये नेहरू सरकार ने आम लोगों की बचत का इस्तेमाल करके औद्योगिक विकास की आधारशिला तैयार करने की योजना बनायी। राजकीय पूँजीवाद के इस मॉडल के लिये लोगों की रज़ामन्दी लेने के लिये इसे "समाजवाद" का नाम दिया गया। लेकिन इस छलावे की पोल इसी से खुल जाती है कि जहाँ समाजवादी देशों ने औद्योगिक विकास और कृषि उत्पादकता में वृद्धि के साथ ही साथ शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्रों को भी शुरू से ही प्राथमिकता में रखा, वहीं भारत में शिक्षा और स्वास्थ्य जैसे क्षेत्र कभी भी भारतीय शासकों की प्राथमिकता में नहीं रहे। शिक्षा और स्वास्थ्य पर उतना ही ध्यान दिया गया जितना पूँजीवादी विकास की न्यूनतम आवश्यकता थी। संविधान बनाने वाली संविधान सभा की बहसों में भी स्वास्थ्य जैसे मूलभूत अधिकार को तवज्जो नहीं दी गयी। संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने स्वास्थ्य को मूलभूत अधिकार का दर्जा देने का प्रस्ताव रखा था, परन्तु संविधान सभा का बहुमत इसके ख़िलाफ़ था और इसीलिये संविधान में स्वास्थ्य को मूलमूत अधिकार के अध्याय में नहीं बल्कि राज्य के नीति निर्देशक तत्वों वाले अध्याय में रखा गया।

आज़ादी के ठीक पहले बनी भोरे कमेटी ने राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवा की एक विस्तृत योजना तैयार की थी, जिसमें पूरी आबादी को नि:शुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने का प्रावधान था। परन्तु आज़ादी के बाद इस कमेटी की रिपोर्ट को ठण्डे बस्ते में डाल दिया गया। आज़ादी के बाद अस्तित्व में आयी सभी पंचवर्षीय योजनाओं में भी मुख्य ज़ोर पूँजीवादी विकास सुनिश्चित करने वाले क्षेत्रों पर ही रहा और शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, आवास जैसे क्षेत्रों को परिधि पर ही स्थान मिला। 1950 और 1960 के दशकों में स्वास्थ्य के नाम पर जो निवेश किया भी गया उसका अधिकांश हिस्सा मलेरिया, चेचक, तपेदिक, मिर्गी, फ़ाइलेरिया और हैज़ा जैसी महामारियों पर नियन्त्रण पाने में ख़र्च किया गया। उस समय गाँवों से लेकर क़स्बों और शहरों तक स्वास्थ्य केन्द्रों का तानाबाना खड़ा करने की ज़रूरत थी, परन्तु उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

शुरू से ही बजट का बहुत कम हिस्सा स्वास्थ्य क्षेत्र को आवण्टित किया जाता था, लेकिन 1965 के बाद से स्वास्थ्य बजट का आधे से भी ज़्यादा ख़र्च परिवार नियोजन के मद में किया जाने लगा क्योंकि अब स्वास्थ्य के क्षेत्र में सबसे बड़ी प्राथमिकता जनसंख्या नियन्त्रण हो गयी थी। इस

नयी प्राथमिकता का स्वास्थ्य सेवाओं के विकास पर बहुत नकारात्मक असर पड़ा। 1983 में देश में पहली बार एक 'राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति' बनायी गयी जिसमें सार्वभौमिक, समग्र प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं का लक्ष्य रखा गया। परन्तु इस लक्ष्य को पूरा करने के लिये आवश्यक तन्त्र व निवेश की ग़ैर-मौजूदगी में यह ज़ुबानी जमाख़र्च ही बनकर रह गया।

इस प्रकार नवउदारवाद के पहले के दौर में स्वास्थ्य सेवाओं की जो नींव तैयार की गयी थी, वह बेहद कमज़ोर थी। गाँवों और पिछड़े इलाक़ों में तो स्वास्थ्य सेवाओं की हालत और भी ख़राब थी। अर्थव्यवस्था में राज्य का दख़ल था, लेकिन स्वास्थ्य के क्षेत्र में यह दख़ल बहुत सीमित था। हालाँकि उस समय अभी निजी अस्पतालों की अन्धी लूट नहीं शुरू हुई थी और ख़ासकर शहरों के सरकारी अस्पतालों में ग़रीबों और आम आदमी को अपेक्षाकृत थोड़ा बेहतर इलाज उपलब्ध हो जाता था। दवाओं के मूल्य पर अभी भी सरकार का काफ़ी नियन्त्रण रहता था, पेटेण्ट क़ानूनों की ग़ैर-मौजूदगी में तमाम जेनेरिक दवाएँ सस्ते दामों पर मिल जाती थीं।

उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद का समय (1990 से अब तक)-1990 के बाद के समय की कहानी ये है कि 1980 के दशक की शुरुआत तक आते-आते भारत का पूँजीपति वर्ग इतना ताकतवर हो चुका था कि उसकी ज़रूरत को ध्यान में रखते हुए जो पब्लिक सेक्टर खड़ा किया गया था उसे भी उसने अपनी खुली लूट के अड्डे में तब्दील करने के लिये सरकार पर दबाव बनाना शुरू कर दिया था। 1990-91 में जिस कांग्रेस सरकार ने पूँजीपतियों की ज़रूरतों को ध्यान रखते हुए पब्लिक सेक्टर खड़ा किया, उसी कांग्रेस सरकार ने पूँजीपतियों की वर्तमान जरूरतों को ध्यान रखते हुए पब्लिक सेक्टर को निजी हाथों की भेंट चढ़ाने की उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को अमल में लाया। एक बार फिर यह बात साफ़ हो गयी कि पूँजीवादी लोकतन्त्र में सरकार और कुछ नहीं केवल पूँजीपति वर्ग के हितों की मैनेजिंग कमेटी होती है, फिर वो चाहे जिस चुनावबाज़ पार्टी के नेतृत्व में बने। वैसे तो भारत में स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में निजी क्षेत्र आज़ादी के बाद से ही मौजूद रहा है, परन्तु 1990 के बाद शुरू हुए नवउदारवादी दौर में निजी क्षेत्र का दख़ल कई गुना बढ़ गया। नवउदारवाद के पिछले तीन दशकों के दौरान गाँवों से लेकर क़स्बों और शहरों तक निजी अस्पतालों का एक विराट तन्त्र खड़ा हुआ है जिसका एकमात्र मक़सद लोगों की बीमारियों का लाभ उठाकर ज़्यादा से ज़्यादा मुनाफ़ा पीटना है। इस दौर में अस्पतालों के साथ ही प्राइवेट क्लीनिक, पैथोलॉजी, फ़ार्मेसी आदि का भी एक तानाबाना खड़ा हुआ है जो ग़रीबों को चूस-चूस कर फल-फूल रहा है। विडम्बना तो यह है कि स्वास्थ्य सेवाओं के नाम पर लोगों को लूट रही इन संस्थाओं को जनता के पैसे से सब्सिडी दी जाती है। मेडिकल की पढ़ाई के नाम पर मुनाफ़ा पीट रहे तमाम निजी मेडिकल कॉलेजों को भी जनता की गाढ़ी कमाई से सब्सिडी दी जाती है। दवा और वैक्सीन बनाने वाली तमाम कम्पनियों को भी कारख़ाना लगाने के लिये सरकार सब्सिडी देती है। कोरोना के मामले में भी यही हुआ, ये अलग बात है कि जनता को ही वैक्सीन की कमी का सामना करना पड़ रहा है। जनता को दी जाने वाली सब्सिडी में भारी कटौती की गयी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट के मुताबिक़ भारत में स्वास्थ्य के मद में होने वाले खर्च का 67.78 प्रतिशत लोगों की जेब से निकलता है, जबकि इस मामले में वैश्विक औसत 17.3 प्रतिशत का है। स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में आये बदलावों की एक अहम विशेषता राज्य द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं में की गयी लगातार कटौती रही है। इस पूरे दौर में स्वास्थ्य पर किया जाने वाला ख़र्च सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) के 1 प्रतिशत के आसपास ही रहा है। इसके अलावा नवउदारवाद के दौर में स्वास्थ्य के क्षेत्र में लोगों को डराकर निजी बीमा कम्पनियों का भी धन्धा फल-फूल रहा है।

नवउदारवादी दौर की एक अन्य विशेषता दवा की क़ीमतों पर से सरकार का घटता नियन्त्रण है। 1994 में आये 'ड्रग प्राइस कण्ट्रोल ऑर्डर' के तहत अधिकांश दवाओं की क़ीमतों पर सरकारी नियन्त्रण हटा दिया गया। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के 'ट्रेड रिलेटेड इण्टेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स' के आने के बाद भारत सरकार ने भी 1970 के 'पेटेण्ट एक्ट' में 2005 में संशोधन कर दिया। 2005 से पहले पुराने एक्ट के चलते भारत में सस्ती जेनेरिक दवाओं के उत्पादन में कुछ

हद तक छूट थी जो किसी हद तक देश की ग़रीब जनता को सस्ती दवाएँ मुहैया कराने में मददगार थी। परन्तु 2005 के बाद दवा का बाज़ार देशी-विदेशी दवा कम्पनियों द्वारा मुनाफ़ा पीटने के लिये पूरी तरह से खोल दिया गया। यही वजह है कि अब दवा की क़ीमतें आसमान छू रही हैं।

कुछ अन्य आँकड़े देश के स्वास्थ्य सुविधाओं की पूरी पोल पट्टी खोल कर रख देते हैं। 'मेडिकल काउंसिल ऑफ इण्डिया' के पास वर्ष 2017 तक पंजीकृत कुल 10.41 लाख डॉक्टर थे। इनमें से सरकारी अस्पतालों में केवल 1.2 लाख डॉक्टर थे, शेष डॉक्टर निजी अस्पतालों में निजी प्रैक्टिस करते हैं। 'विश्व स्वास्थ्य संगठन' के मानक के मुताबिक़ प्रति 1000 व्यक्तियों पर 1 डॉक्टर होना चाहिए। लेकिन हमारे देश में 11082 व्यक्तियों पर केवल 1 डॉक्टर है। स्वास्थ्य सेवा सुलभ होने के मामले में भारत दुनिया के 195 देशों में 154वें पायदान पर है। यहाँ तक कि यह बांग्लादेश, नेपाल, घाना और लाइबेरिया से भी पीछे है।

इन तथ्यों की रोशनी में अगर हम कोरोना के इस पूरे दौर में होने वाली मौतों की बात करें इन मौतों में बहुत बड़ी संख्या ऐसी मौतों की है जिसे डंके की चोट पर इस फ़ासिस्ट भाजपा सरकार, आज़ादी के बाद विभिन्न चुनावबाज़ पार्टियों की स्वास्थ्य नीति और मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा किया जाने वाला 'क़त्ल' कहना चाहिए। ये फ़ासिस्ट इतने बर्बर और मानवद्रोही हैं कि पहली लहर के उतार के समय की तरह इस बार भी कोरोना से जंग जीतने या वैक्सीन लगवा देने का सेहरा अपने माथे पर बाँधने से चूकने वाले नहीं हैं। फ़ासिस्ट भाजपा सरकार और संघ परिवार को अभी भी विश्वास है कि वो लोगों की असहनीय पीड़ा को साम्प्रदायिकता और अन्धराष्ट्रवाद की लहर से भुलवा देंगे। फ़ासिस्ट संघ परिवार और भाजपा ने इस दिशा में शुरुआत कर भी दी है। हरियाणा के मेवात में 25 साल के जिम ट्रेनर आसिफ़ की पीट-पीटकर हत्या, बाराबंकी जिले के रामसनेही घाट तहसील में सौ साल पुरानी मस्जिद ढहा देने और अभी हाल ही त्रिपुरा में साम्प्रदायिक उन्मादियों द्वारा तीन मुस्लिमों की पीट-पीटकर की जाने वाली हत्या इसके चन्द उदाहरण हैं। लेकिन हमें अपने ज़िन्दा इंसान होने का सबूत देना है। हमें असमय छीन लिये गये अपने लोगों, असहाय हुए बच्चों, चारों ओर जलती और दफ़्न होती लाशों, नदियों में बहती लाशों और कुत्तों और सुअरों द्वारा उन्हें नोच-नोचकर खाने के वीभत्स दृश्यों को कभी नहीं भूलना है। हमें अपनी आत्मा खरोंचते रहना है और इन फ़ासिस्टों समेत मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को दफ़्न करने की तैयारी हर सम्भव हद तक तेज़ कर देना है। अपने गुस्से को एक योजनाबद्ध कार्यदिशा में बदल देना है।

सबसे पहले तो हमें मौजूदा संकट और आम आबादी से निरन्तर दूर हो रही स्वास्थ्य सेवाओं के मद्देनज़र पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था को तत्काल सरकारी नियन्त्रण में लाने, सभी को एक समान सार्वभौमिक और निःशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करने और स्वास्थ्य के अधिकार को मूलभूत अधिकार घोषित करने, निजी अस्पतालों, पैथोलॉजी लैबों, दवा कम्पनियों, वैक्सीन फ़ैक्टरियों और चिकित्सा-सामग्री निर्माण उद्योगों के राष्ट्रीकरण करने, कोरोना वैक्सीन को पेटेण्ट से मुक्त करने, डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों की बड़े पैमाने पर तत्काल भर्ती करने, ज़रूरतमन्द परिवारों को निःशुल्क राशन और आर्थिक सहायता दिये जाने, कोविड के अलावा अन्य मरीज़ों के उचित इलाज की व्यवस्था किए जाने, सभी सफ़ाई कर्मियों, अस्पताल कर्मियों, घरेलू कामगारों आदि को स्वास्थ्य सम्बन्धी सुरक्षा देने, लॉकडाउन के कारण बेरोज़गारी का सामना कर रहे सभी लोगों को तत्काल आर्थिक सहायता दिये जाने, कोरोना से हुई मौतों की असली संख्या जानने के लिये जाँच कमेटी गठित करने और उनको मुआवज़ा देने जैसी माँगों को लेकर देश भर में व्यापक प्रचार में जुट जाना होगा। हमें एक-एक इंसान तक पूरी सच्चाई ले जानी है।

दूसरे, कोरोना के इस पूरे दौर में फ़ासिस्ट भाजपा के हत्यारे, आपराधिक चरित्र के बावजूद हमें ये नहीं भूलना है कि कांग्रेस, सपा, बसपा, आम आदमी पार्टी जैसी तमाम चुनावबाज़ पार्टियों के हाथ भी लोगों के ख़ून से सने हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी मामलों के अलावा अन्य सभी जन विरोधी नीतियों को लागू करने और मुट्ठी भर पूँजीपतियों की सेवा करने के मामले में भाजपा समेत सभी पार्टियों में आपसी सहमति है। हाँ, संघ परिवार का राजनीतिक मुखौटा भाजपा, फ़ासिस्ट संघ परिवार के द्वारा

लम्बे समय में तैयार किए गये देशव्यापी काडर व सैकड़ों संस्थाओं के चलते, आर्थिक संकट के भँवर में फँसे पूँजीपति वर्ग की सबसे चहेती बनी हुई है। लेकिन अगर किसी तरह भाजपा की जगह अन्य चुनावबाज पार्टियाँ भी सत्ता में आ जायेंतो भी इससे जनता के पक्ष में स्वास्थ्य, शिक्षा, रोज़गार जैसे मामलों में कोई विशेष फ़र्क़ नहीं पड़ने वाला है। अतीत का अनुभव भी इसी की गवाही देता है। इसलिये जनता को अपनी ताक़त पर भरोसा करना होगा और अपने संगठनों का निर्माण करना होगा। हमें देश के गाँवों, कस्बों, शहरों में लोगों से बनी जन स्वास्थ्य अधिकार कमेटियों का निर्माण शुरू कर देना चाहिए। ताकि तृणमूल स्तर से स्वास्थ्य के अधिकार को लेकर एक लम्बी लड़ाई संगठित की जा सके।

और आख़िरी बात, कि जब तक पूँजीवादी व्यवस्था रहेगी, जब मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हाथों में देश के सभी संसाधन रहेंगे, जब तक पूँजीपतियों के पैसों से इनके हित के प्रबन्धन करने वाली पार्टियाँ लोकतन्त्र के ड्रामे के तहत सरकार बनाती रहेंगी या पक्ष-विपक्ष का खेल खेलती रहेंगी, तब तक जनता को स्वास्थ्य जैसा कोई भी बुनियादी अधिकार नहीं हासिल होगा। इसका आख़िरी समाधान एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण है जिसमें देश के सभी प्राकृतिक और भौतिक संसाधनों पर, राज-काज की मशीनरी व सभी फ़ैसलों पर आम जनता का नियन्त्रण हो और उत्पादन का मक़सद मुनाफ़ा नहीं बल्कि लोगों की ज़रूरत को पूरा करना हो। या संक्षेप में कहें तो हमें एक समाजवादी व्यवस्था के लिये अपनी जान लगा देनी होगी। इसी व्यवस्था के लिये लड़ते हुए और इसका सपना लिये हुए ही शहीद-ए-आज़म भगत सिंह 23 साल की छोटी सी उम्र में शहीद हो गये थे। मौजूदा व्यवस्था का ध्वंस और मानवकेन्द्रित व्यवस्था का निर्माण इसलिये भी अनिवार्य हो गया है कि मुट्ठी भर पूँजीपतियों की मुनाफ़े की अन्धी हवस ने न केवल आम इंसान को सिक्का ढालने के औज़ार में तब्दील कर दिया है, उसकी मानवीय गरिमा को रौंदते हुए तमाम बुनियादी सुविधाओं से दूर किया है, बल्कि पूरी पृथ्वी को ज़हर से भर दिया है। इनके कारख़ानों से निकलने वाला तरह-तरह के कचरे ने जल-थल-नभ को प्रदूषण से भर दिया है। पूरा पर्यावरण, पारिस्थितिक तन्त्र बहुत तेज़ी से क्षरित हो रहा है। ग्लेशियरों का पिघलना, ग्लोबल वार्मिंग, ओज़ोन परत का क्षरण, बहुत सारे प्राणियों का लुप्त हो जाना इसी पूँजीवादी व्यवस्था के पाप हैं। कोरोना के अलावा पता नहीं कितने वायरस इस धरती से मनुष्यता को ही मिटा देने के लिये तैयार बैठे हैं। पूँजीवाद मनुष्यता को मिटा दे या पूँजीवाद को मिटाकर मनुष्यता को बचा लिया जाय, तय हमें करना है!

'आह्वान' के पाठकों से एक अपील

दोस्तो,

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

एक लम्बे समय से बिना किसी क़िस्म का समझौता किये 'आह्वान' सतत प्रचारित-प्रकाशित हो रही है। हम आपको बताना चाहते हैं कि विगत कई अंकों से पत्रिका आर्थिक संकट का सामना कर रही है। ऐसे में 'आह्वान' अपने तमाम पाठकों, सहयोगियों से सहयोग की अपेक्षा करती है। हम आप सभी सहयोगियों, शुभचिन्तकों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मज़बूती प्रदान करें। आप – 1. आजीवन सदस्यता ग्रहण कर के सहयोग करें। 2. अपने मित्रों को 'आह्वान' की सदस्यता दिलवाएँ। 3. 'आह्वान' के लिए आर्थिक सहयोग भेजें। साथ ही, 'आह्वान' के वितरण में लगे सहयोगियों से अपील है कि वे पत्रिका की भुगतान राशि यथासम्भव शीघ्र भेजने की व्यवस्था करें।

आप अपना सहयोग/सदस्यता राशि नीचे दिये गये बैंक खाते में भेज सकते हैं या आह्वान के पते पर चेक/ड्राफ़्ट/मनीऑर्डर भेज सकते हैं। आर्थिक सहयोग या सदस्यता राशि भेजते समय हमें सूचित अवश्य करें और अपना पूरा पता और फ़ोन नम्बर ज़रूर दें।

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान, बैंक ऑफ़ बड़ौदा, बादली शाखा, खाता नं. 21360100010629,

IFSC: BARB0TRDBAD (BARB के बाद 0 (शून्य) है)

साभिवादन,

सम्पादक

सामयिकी

कोरोना महामारी में चरमराई भारत की स्वास्थ्य व्यवस्था

सनी

कोरोना महामारी की दूसरी लहर से देश में श्मशान और लाशों के ढेर लग चुके हैं। गंगा के किनारे श्मशान में तब्दील हो गये। अपने परिजनों की लाशों को लोगों ने श्मशान की कमी और महँगे दाम की वजह से गंगा से लेकर रेवती नदी में बहा दिया। केन्द्र सरकार से लेकर राज्य सरकारें केवल अपनी छवि चमकाने का काम करती रहीं। ऑक्सीजन की कमी से लोग तड़पते रहे और प्रधानसेवक नरेन्द्र मोदी ने आकर कहा कि उन्होने बहुत मेहनत कर कोरोना बीमारी को रोक लिया। क्या इससे अधिक बड़ा झूठा और बेशर्म फ़ासीवादी नेता कोई हो सकता है? वैक्सीन बनाने की प्रक्रिया को निजी कम्पनियों के हाथों में सौंपा गया और जनता के पैसे से बनी वैक्सीन के लिए वापस जनता से ऊँची क़ीमतें वसूली जा रही हैं। देश की सरकार खुलकर इन कम्पनियों की सेवा कर रही है। कोवैक्सीन, कोविशील्ड से लेकर स्पुतनिक बाज़ार में उतर चुकी हैं और विक्रेता कम्पनियाँ जनता से जमकर मुनाफ़ा पीट रही हैं। इन सभी वैक्सीन को तैयार करने में जो भी शोध हुआ, फार्मास्युटिकल कम्पनियों ने पेटेण्ट करवाकर इस महामारी में लोगों की जान बचाने के बदले पैसा कमाना शुरू कर दिया है। अगले महीने तीसरी लहर आने की सम्भावना भी व्यक्त की जा रही है और हमारे देश में फ़िर क़हर बरपा होगा ही। इस महामारी ने सरकार की नीतियों और स्वास्थ्य व्यवस्था के बारे में कुछ महत्वपूर्ण बातों को इंगित किया है।

एक, सरकारों का ग़रीब जन विरोधी चेहरा साफ़ हुआ है। हर बीमारी ग़रीबों की बस्तियों में भयानक नरसंहार करती है। इस बीमारी को महामारी में तब्दील करने की मुख्य ज़िम्मेदारी मोदी सरकार की ही है। पिछले साल की ही तरह दोबारा सरकार ने न कॉण्टैक्ट ट्रेसिंग की और न ही बीमारी को रोकने के लिए कोई क़दम उठाये। केवल मास्क न पहनने पर जुर्माना लगाने के जरिये सरकारी ख़ज़ाना भरा गया जबकि असल में संक्रमण बस्ती -बस्ती फैलता रहा। जब यह संक्रमण फैल रहा था तब मोदी और भाजपा के नेताओं ने बिना किसी सामाजिक दूरी के चुनावी रैलियाँ की। पिछले साल नमस्ते ट्रम्प के आयोजन के ज़रिये तो इस साल चुनाव के ज़रिये प्रधानमन्त्री मोदी सुपरस्प्रैडर साबित हुए हैं। न सिर्फ़ बीमारी के कारण लोगों की मृत्यु हुई है बल्कि भूख और बेघर होने के डर से बीमारी में ही लोग पैदल चल पड़े। सरकार ने हर क़दम में जो लापरवाही की, वह ग़रीबों के हिस्से में आयी और जो पहलक़दमी की, उसने अमीरों के घरों को बचाया। परन्तु दूसरी लहर में न केवल ग़रीब बस्तियों पर मौत का मसीहा मंडरा रहा था बल्कि इसने अमीरों की बसावट पर भी अपने पंख फैलाये।

दो, कोविड-19 के महामारी बनने की वजह जनस्वास्थ्य सुविधाओं का जर्जर ढाँचा है। सार्वजनिक स्वास्थ्य ढाँचे को गिराकर उसकी जगह खड़ा हुआ निजी अस्पतालों, निजी लैब, नर्सिंग होम से लेकर एम्बुलेंस का मकड़जाल स्वास्थ्य सेवा को बाज़ार में बिकने वाला माल समझता है। इस कारण ही यह महामारी भारत से लेकर तमाम देशों में विकराल रूप लेकर सामने आयी।

तीन, वैक्सीन को बनाने में लगे तमाम शोध संस्थान पूरी तरह बड़ी फार्मास्युटिकल कम्पनियों के मातहत हैं। इनका एकमात्र मक़सद बाज़ार में माल बेचना है। वैज्ञानिकों की विज्ञान के प्रति प्रतिबद्धता मुनाफ़े के प्रति प्रतिबद्धता है।

चार, इस बीमारी के पैदा होने का कारण प्रकृति की तबाही है। जंगलों की कटाई, आधुनिक खेती का होता विस्तार और मनुष्यों का उस दायरे में प्रवेश जो पहले अनछुआ था। दुनिया भर की सरकारें वायरस की उत्पत्ति को भी अपने राजनीतिक एजेण्डे के लिए इस्तेमाल कर रही हैं। वायरस के पैदा होने को लेकर तमाम अटकलें भी साम्राज्यवादी ताकतों के बीच राजनीतिक रस्साकसी के लिए ज़मीन दे रही हैं। अमरीका की इण्टेलिजेंस एजेन्सी इस प्रचार को आग देने में लगी हुई हैं कि वायरस वुहान के लैब में षड्यन्त्र के तहत बनाया गया। अपनी मूर्खता के चलते कोविडियट्स इस मूर्खता के वाहक बने हुए हैं।

मोदी सरकार की अमीरपरस्ती और मूर्खताएँ

भारत में ही 3 करोड़ से ज्यादा केस आ चुके हैं और 4 लाख लोगों की मृत्यु हो चुकी है। दुनिया भर में अब तक इस बीमारी से लगभग 39 लाख मौतें हो चुकी हैं और दुनिया भर में 18 करोड़ केस आ चुके हैं।

इस साल भी सरकार ने पहले साल की तरह आम जनता के जीवन में त्राहि मचने दी। पिछले साल की तबाही के बाद बनी कोविड टास्क फोर्स की कोई भी मीटिंग नहीं की गयी। तमाम चेतावनियों के बावजूद सरकार ने न ऑक्सीजन प्लाण्ट चालू कराये और ऑक्सीजन की कमी होने पर भी कई औद्योगिक इकाइयों को मेडिकल ऑक्सीजन देने के लिए हरी झण्डे देने में मोदी सरकार को फ़ुरसत नहीं मिली। फ़ुरसत होती भी क्यों?

देश का पूरा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल बंगाल चुनाव में 18-18 घण्टे काम कर रहा था। भाजपा लोगों में हिन्दू और मुसलमान के नाम पर नयी दरार डालने की योजना बनाने में व्यस्त थी। जब मौतों के मंज़र के चलते जनता में सरकार की नीतियों पर सवाल उठने लगे तो सरकार का मक़सद जनता की चीखों को दबाने और दम घुटते लोगों के दृश्यों पर पर्दा डालना था। डॉक्टरों से लेकर तमाम स्वास्थ्य कर्मियों की मौतों को भी सरकार ने ढँक दिया। उत्तर भारत के गाँव-गाँव में संक्रमण ने घर-घर में लोगों को मौत की आगोश में ले लिया। शहरों में लोग ऑक्सीजन से लेकर कोविड-19 संक्रमण के इलाज में प्रयोग होने वाली दवाइयों के लिए दर-दर भटकते रहे। जब लोग ऑक्सीजन और दवाइयों के लिए मर रहे थे, देश की सरकार और मन्त्री चुनाव में व्यस्त थे और जब वे चुनाव से वापस आये तो वे उन लोगों पर ही मुक़दमे करने लगे जो दवाइयों और ऑक्सीजन के लिए सोशल मीडिया पर गुहार लगा रहे थे। ऑक्सीजन से लेकर तमाम दवाइयों की कालाबाज़ारी की गयी। एक ऐसी बीमारी जिसने इस व्यवस्था के भीतर सड़ाँध को उसकी जंग लगे स्तम्भों के सतह के ऊपर ला दिया। हर घर में जब मौत एक तथ्य बनने लगी तब सरकार ने बिना किसी तैयारी के लॉकडाउन लागू किया जिसमें लोगों को अपने घरों में बन्द छोड़ दिया गया। शहर बन्द हुए और निर्माण कार्य से लेकर तमाम काम धन्धे बन्द हुए और एक साल पुराना मंज़र फ़िर दोहराने लगा। कई लोग दिल्ली, मुम्बई, पुणे और चेन्नई व अन्य शहरों से फ़िर घर की ओर वापस लौटने लगे। इस बार सरकार ने मज़दूरों को अपने घर जाने से नहीं रोका और कई फैक्ट्रियाँ चलती रहीं। बीमारी को क़ाबू करने के लिए सरकारों ने लॉकडाउन में मज़दूरों को बेरोज़गार होने के लिए सड़क पर छोड़ दिया और भुखमरी के कगार पर पहुँचा दिया है। आर्थिक संकट की मार से जूझ रही अर्थव्यवस्था इन दो लॉकडाउन में चरमरा कर धराशायी हो गयी और हमेशा की तरह इसका बोझ आम मेहनतकश जनता के ऊपर ही आया है। जितनी मौतें आम लोगों की कोरोना बीमारी से हो रही है उतनी ही मौतें कोरोना के दौरान आर्थिक बन्दी व अन्य बीमारियों से हो रही हैं। सरकार ने कॉण्टैक्ट ट्रेसिंग, व्यापक टेस्टिंग और क्वारण्टीन की नीति को लागू नहीं किया। लॉकडाउन दरअसल एक मीटिगेशन रणनीति होती है जिसका मक़सद संक्रमण को तेज़ी से फैलने से रोकना होता है। यह भी केवल रोगियों की पहचान कर उन्हें ठीक करने के दौरान ही कारगर हो सकती थी परन्तु ऐसा नहीं हुआ। कोविड-19 के रोगियों में ब्लैक फ़ंगस बीमारी का संक्रमण भी तेजी से बढ़ रहा है। कई रोगियों ने इस कारण अपनी आँख भी गँवा दी है। अब बाज़ार में वैक्सीन आ चुकी है परन्तु यह भी बाज़ार के हवाले है और उत्पादक कम्पनियाँ करोडों रूपये मुनाफ़े में पीटने वाली हैं। सरकार ने काफ़ी आलोचना के बाद घोषणा की कि सभी को वैक्सीन मुफ़्त में लगेगी परन्तु अभी भी प्राइवेट अस्पतालों में ऊँची क़ीमतों पर अमीरज़ादे वैक्सीन लगवा रहे हैं।

ऐसे में सवाल तो उठता है कि क्या वैज्ञानिक शोध इसलिये करते हैं कि आम लोग जब मृत्यु के कगार पर हों तब उन्हें ज़िन्दगी देने के बदले जमकर पैसा वसूला जाए? ऐसा विज्ञान किसके लिए है जो लोगों की ज़िन्दगी न बचा सके? भूख और बेबसी के कारण हो रही मौतों पर विज्ञान कौन सी खोज करेगा? इन मौतों के कारण अमीरपरस्त राजनीति से लेकर जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था की सारी समस्याएँ लोगों के सामने उजागर हो गयी। यह साफ़ है कि इस बीमारी को महामारी बनने देने का कारण भारत सरकार की तात्कालिक मूर्खताएँ और लापरवाही हैं। दूसरी तरफ़ इस हालात के लिए भारत की जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था भी ज़िम्मेदार है। सरकार अगर त्वरित कार्यवाही भी करती तब भी ग़रीब जनता जिन सरकारी अस्पातालों के सहारे हैं वे अवसंरचना और सुविधाओं के मामलों में खोखले हैं और उनकी नींव खोदकर ही निजी अस्पलताल खड़े हुए हैं। इस बीमारी ने जहाँ फ़ासीवादी सरकार की तमाम नीतियों की पोल खोलकर रख दी है वहीं दूसरी ओर स्वास्थ्य व्यवस्था के ढाँचे पर वैसे ही रौशनी डाली है जैसे अँधेरी रात में आकाश से गिरने वाली बिजली अपनी चमक से भूदृश्य को जगमग कर देती है।

भारत में स्वास्थ्य सेवाओं का जर्जर ढाँचा

भारत का स्वाास्थ्य ढाँचा आज़ादी मिलने के बाद से ही बौना रहा है। सरकार ने सार्वजनिक स्वास्थ्य का विकास केवल आपदाओं में किया तथा यह भी बेहद संकुचित रहा। 1946 में भोरे कमेटी की रिपोर्ट में प्रति एक लाख की आबादी पर 567 अस्पताल बेड, 62.3 डॉक्टर और 150.8 नर्सों का जो लक्ष्य रखा गया था वह आज तक पूरा नहीं हो पाया है। आज भारत में प्रति एक लाख आबादी पर मात्र 140 अस्पताल बेड, 66.18 डॉक्टर और 149.25 नर्स हैं। स्वास्थ्य तन्त्र को कोरोना महामारी के तूफ़ान के समक्ष भहराकर गिरना ही था। नवउदारवाद के दौर से पहले जो भी स्वास्थ्य नीतियाँ बनीं, वे केवल ज़ुबानी जमाखर्च करते हुए जन स्वास्थ्य की बातें करती रहीं। 1995 में 'डब्लूटीओ गैट्स' की नीतियों पर अमल करते हुए स्वास्थ्य सेवा को माल में तब्दील कर दिया गया। 1994 में आये 'ड्रग प्राइस कण्ट्रोल ऑर्डर' के तहत अधिकांश दवाओं की क़ीमत पर सरकारी नियन्त्रण हटा दिया गया। विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ) के 'ट्रेड रिलेटेड इण्टेलेक्चुअल प्रॉपर्टी राइट्स' के आने के बाद भारत सरकार ने भी 1970 के 'पेटेण्ट एक्ट' में 2005 में संशोधन कर दिया। 2005 से पहले पुराने एक्ट के चलते भारत में सस्ती जेनेरिक दवाओं के उत्पादन में कुछ हद तक छूट थी जो किसी हद तक देश की ग़रीब जनता को सस्ती दवाएँ मुहैया कराने में मददगार था। परन्तु 2005 के बाद दवा का बाज़ार देशी-विदेशी दवा कम्पनियों द्वारा मुनाफ़ा पीटने के लिए पूरी तरह से खोल दिया गया। यही वज़ह है कि अब दवा की क़ीमतें आकाश छू रही हैं। वहीं 2017 में कैबिनेट द्वारा पारित राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति जन-स्वास्थ्य सुविधाओं का बचा-खुचा हिस्सा भी तबाह करने, पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था को निजी क्षेत्र के हाथों में देने का दस्तावेज़ था। इस नीति के जरिये सरकार बहुसंख्यक लोगों को स्वास्थ्य

सुविधाएँ देने से बेशर्मी के साथ मना करने और पैसे वालों के लिए 'अति आधुनिक' स्वास्थ्य सुविधाएँ क़ायम करने और निजी अस्पतालों को खुलकर लूटने की इजाज़त दे चुकी थी। यह सरकार की तमाम नीतियाँ थीं, जिसके चलते भारतीय स्वास्थ्य सेवा को माल बनाया गया है।

अगर आँकडों की निगाह से देखें तो इन योजनाओं के नतीजे सामने आ जाते हैं:

2017 में भारत का स्वास्थ्य बजट जीडीपी का एक प्रतिशत था। भारत की जनसंख्या 2011 से 16 करोड़ तक बढ़ी है परन्तु इस बीच कुल सरकार द्वारा बजट पर खर्च केवल 0.39 प्रतिशत ही बढ़ा है। 2019-2020 का बजट जीडीपी का केवल 1.29 प्रतिशत था। भारत के पास कुल 25778 सरकारी अस्पताल हैं, 713986 बेड हैं, 35700 आईसीयू और 17850 वेण्टिलेटर हैं। वहीं अगर हम निजी क्षेत्र को देखें तो भारत में 43486 निजी अस्पताल हैं, 11 लाख 80 हजार बेड हैं, 59264 आईसीयू हैं और 29631 वेण्टिलेटर हैं। भारत के स्वास्थ्य की अवसंरचना का 62 प्रतिशत निजी अवसंरचना के मातहत है।

क्रिस्टोफर जैफरोलेट एक रिपोर्ट में बताते हैं कि 2013 में केवल 72 प्रतिशत भारतीयों की स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुँच है। गाँव में 32 प्रतिशत से अधिक लोगों को ओपीडी तक पहुँचने में 5 किलोमीटर से अधिक चलकर जाना होता है। 2018-1019 के आर्थिक सर्वे के अनुसार भारत के 60 प्रतिशत प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों में केवल एक डॉक्टर था तो वहीं दूसरी तरफ़ 5 प्रतिशत के पास एक भी नहीं।

कोरोना बीमारी के बावजूद भी इस देश की ग़रीब जनता उन बीमारियों से मारी जाती है जिनका इलाज सालों पहले खोजा जा चुका है। जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था और मोदी सरकार की मूर्खताओं के चलते ही इस बीमारी ने भयानक रूप लिया।

भारत में 2019 में टीबी के 24 लाख केस दर्ज किए गये थे जिससे 79144 मृत्यु हुई। वहीं 2017 में 120334 लेप्रसी के केस आए और 7071 टिटनेस के केस व 9622 डिप्थिरिया के केस दर्ज हुए। इनका कारण जहाँ एक तरफ़ साफ़-सफ़ाई व शौचालय का अभाव है तो दूसरी तरफ़ जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था है। आँकड़ों की ज़ुबान यह साफ़ करती है कि उत्तर प्रदेश की ही नहीं बल्कि इस देश की स्वास्थ्य व्यवस्था इलाहबाद कोर्ट के शब्दों में 'राम भरोसे' है।

दिल्ली के वज़ीरपुर की झुग्गियों में, 12 फुटा दड़बों में, मुम्बई की धारावी से लेकर लल्लू भाई कम्पाउण्ड, अहमदनगर की दलित बस्तियों, चेन्नई की व्यसरपाड़ी, पटना में गंगा के किनारे बसी झोपड़ियों में बसने वाली ग़रीब मज़दूर आबादी इन झुग्गियों की हालात के चलते बीमारियों से मरने को मजबूर है। यहीं टीबी, कैंसर, टिटनेस से लेकर डेंगू, मलेरिया और अन्य बीमारियों से हर साल लोग मारे जाते हैं। तो गाँवों में ग़रीब आबादी की हालत और भी बदतर है जहाँ शहरों के मुक़ाबले कोई सुविधा ही मौजूद नहीं है। कोरोना महामारी इन बस्तियों में कहर बरपा करती ही और उसने किया भी। गंगा में बह रही अनगिनत लाशों से लेकर अस्पतालों के बाहर तड़प रहे लोग मोदी सरकार की मूर्खताओं की वजह से तो दम तोड़ ही रहे हैं, परन्तु इसका एक बड़ा कारण इस देश की खोखली सरकारी अस्पतालों की व्यवस्था है।

इस संक्रमण को वैश्विक महामारी बनने देने में इस व्यवस्था की ज़िम्मेदारी है। कोविड के जरिये हुए नरसंहार का कारण संरचनात्मक रूप से ध्वस्त जनस्वास्थ्य सेवाएँ हैं जिन्हें निजी अस्पतालों और फ़ार्मा कम्पनियों के मुनाफ़े के लिए व्यवस्थित तरीके से बर्बाद किया गया है। हालाँकि अगर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो साउथ कोरिया, वियतनाम, क्यूबा, ताइवान और न्यूजीलैण्ड सरीखे मॉडल में बीमारी बेहद कम फैली तो वहीं भारत, अमरीका से लेकर ब्राजील में संक्रमण भयंकर तौर पर फैला। दोनों ही मामलों में सरकार की मूर्खताएँ और स्वास्थ्य व्यवस्था का ढाँचा ज़िम्मेदार रहा है। भारत में सरकार की गलत नीतियों और देश की बर्बाद स्वास्थ्य सुविधाओं ने जितनी बड़ी आबादी को मरने के लिए छोड़ दिया, उसे आसानी से बचाया जा सकता था। कई देशों में दूसरी लहर में अभी तक मौतें थमी नहीं हैं और कुछ जगह तीसरी लहर ने दस्तक दे दी है। परन्तु भारत में तीसरी लहर फ़िर से कहर बरपा करेगी यह स्पष्ट है।

वैज्ञानिकों और डॉक्टरों ने इस बीमारी से लड़ने और उसे समझने में अग्रणी भूमिका निभायी है लेकिन जिस परिदृश्य को हमने ऊपर पेश किया है वह भयावह है। 1918 के समय फैली फ्लू महामारी से भी करोड़ों लोग मारे गये थे और आज क़रीब 100 साल बाद भी इस बीमारी से एक साल में ही क़रीब 38 लाख लोग मारे गये हैं और बीमारी क़ाबू में नहीं आ रही है। यह हमारे सामने एक प्रश्न खड़ा करता है कि मेडिकल साइंस के ज़बरदस्त विकास के बावजूद कोरोना बीमारी जैसे संक्रमण महामारी क्यों बन रहे हैं।

बीमारी को रोकने के नाम पर वैक्सीन के जरिये मुनाफ़ा कमाना ही मक़सद

बीमारी के महामारी बनने में न सिर्फ़ मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही और भारत की जर्जर स्वास्थ्य व्यवस्था ज़िम्मेदार है बल्कि सरकार की वैक्सीन की पॉलिसी भी सवालों के घेरे में है। सरकार ने देश की दो निजी कम्पनियों को वैक्सीन बनाने का ठेका दिया और जनता के पैसे से बनी वैक्सीन को पुन: जनता में बेचा जा रहा है। इस मसले पर काफ़ी फ़ज़ीहत होने के बाद सुप्रीम कोर्ट ने वैक्सीन पॉलिसी की आलोचना की और अन्त में प्रधानमन्त्री मोदी ने घोषणा की कि अब लोगों को वैक्सीन मुफ्त में मिल जाएगी परन्तु अभी भी यह बेहद कम संख्या में मिल रही है। गाँव तो छोडिए, दिल्ली जैसे शहरों में वैक्सीन नहीं मिल रही है। आम मध्य वर्ग के लोगों को भी इण्टरनेट कनेक्शन के बावजूद वैक्सीन के लिए स्लॉट नहीं मिल रहे हैं। वहीं प्राइवेट अस्पतालों में सरकार ने एक कोटा तय किया है जो असल में अमीरों की वैक्सीन का कोटा है। देश के बड़े निजी अस्पतालों में ऊँची कीमतों पर अमीर आबादी सरकारी अस्पतालों की भीड़ से

दूर वैक्सीन लगवा रही है। वहीं ग़रीब आबादी तो अभी वैक्सीन मिलने की क़तारों में भी दूर-दूर तक नहीं है। वैक्सीन से भी निजी कम्पनियों को मुनाफ़ा हो इसलिये मोदी सरकार ने 15 से अधिक पब्लिक सेक्टर कम्पनियों को वैक्सीन बनाने की हरी झण्डी नहीं दी। वैक्सीन की कमी होने पर विदेशी फार्मास्युटिकल कम्पनियों से वैक्सीन आयात करने का फैसला किया है। साफ़ है कि मोदी सरकार पूँजीपति वर्ग की सबसे खुली तानाशाही लागू कर रही है।

वैक्सीन ही नहीं, सरकार ने कोरोना महामारी के हर क़दम में 'आपदा को अवसर' में तब्दील किया है। पिछले साल सरकार ने कोरोना के टेस्ट के लिए निजी प्रयोगशालाओं को मनचाहे दामों पर जनता को लूटने की इजाज़त दी थी। टेस्ट की कीमत शुरूआत में 4500 रु रखी गई थी जिसे कि एक बड़ी आबादी खरीदने में सक्षम नहीं थी। ग्लव्स, पीपीई किट, वेण्टिलेटर से लेकर तमाम मेडिकल उपकरण तक सब बाज़ार के हवाले हैं। डॉक्टर, नर्स और अस्पताल स्टॉफ, आशा वर्कर से लेकर स्वास्थ्य सेवा में जुटे लोगों को मिलने वाली सभी सुविधाएँ बाज़ार के हवाले थीं। इस कारण ही स्वास्थ्य सेक्टर से जुड़े लोगों की बीमारी के दौरान बेइन्तहाँ मौतें हुई हैं। डॉक्टर, नर्स से लेकर आशाकर्मी तक हड़ताल पर गये परन्तु सरकार और सम्बन्धित विभागों के कान पर जूँ भी नहीं रेंगी। मुनाफ़ा आधारित व्यवस्था ही वह कारण है जिसकी वजह से यह बीमारी भी पूँजीपतियों के लिए मुनाफ़ा बनाने का अवसर बन गयी। असल में इस बीमारी के उद्भव के पीछे भी यह मुनाफ़ा आधारित व्यवस्था ही ज़िम्मेदार है।

कोविड-19 के उद्भव का कारण पर्यावरण की तबाही है

कोविड-19 बीमारी सार्स कोरोना वायरस-2 के कारण होती है। कोविड के उद्भव की सबसे अधिक सम्भावना यह है कि वायरस वुहान के वेटमार्केट से चमगादड़ के जरिये मनुष्यों के सम्पर्क में आया। मानव इतिहास पर नज़र डालें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वायरल संक्रमण तो होते रहते हैं परन्तु पिछले 30-40 सालों में संक्रमण दर बढ़ चुकी है। मानवसमाज पाषाण युग से लेकर दास व्यवस्था के युग से लेकर आधुनिक समाज में वायरस और उससे होने वाली बीमारियों से ग्रसित होता था और अब मनुष्य ने इन वायरसों से लड़ने की समझ भी हासिल की है। स्पैनिश फ्लू, ब्लैक डेथ जैसी महामारियों से लेकर आधुनिक काल में ही इबोला, एड्स से लेकर स्वा इन फ्लू सरीखी वायरल बीमारियाँ हम झेल चुके हैं। यह वायरस कहाँ से आते हैं? प्रकृति में तमाम ऐसे संक्रामक वायरस तमाम जीव प्रजातियों में मौजूद होते हैं जो मनुष्य के सम्पर्क में आने और इवोल्युशन के बाद बेहद ख़तरनाक रूप हासिल कर सकते हैं। कोरोना वायरस मनुष्यों में चमगादड़ के जरिए आया है। इस तरह ही स्वाइन फ्लू सुअर से आया है। इसे ही हम स्पिशिज़ जम्प कहते हैं। यह इस वजह से होता है कि उत्पादन की प्रक्रिया में इंसान जंगलों में जीव जगत की उन प्रजातियों के सम्पर्क में आता है जिनमें वायरस मौजूद होता है।

जंगल से बाहर निकलकर शहर और गाँव बसने और उत्तरोत्तर बढ़ती उत्पादक शक्तियों ने अधिक से अधिक ऐसे क्षेत्र को उत्पादन के क्षेत्र के दायरे में लाया है जिससे कि मनुष्य अलग-अलग जीव प्रजातियों के सम्पर्क में आया है। ख़ासतौर पर पिछले 500-600 सालों में और पिछले 30 सालों में यह बेहद तेज़ रफ़्तार से हुआ है जिसके पीछे का कारण मुनाफ़ा आधारित पूँजीवादी उत्पादन व्यवस्था है जो इंसान से लेकर प्रकृति का मुनाफ़े के लिए शोषण करती है। पूँजीवादी व्यवस्था ने बेहद विराट उत्पांदक शक्तियां जागृत की हैं। यह अफ़्रीका के जंगलों से लेकर बंगाल के मानग्रुव तक अण्टार्कटिक से लेकर चाँद तक को पूँजी के चक्र में ले आता है। विश्व स्तर पर अंधाधुन्ध प्रतिस्पर्धा में सस्ते माल के लिए प्रकृति की अबाध लूट और तबाही जारी है। सस्ते मांस के लिए जंगलों में शिकार करने तक और पूँजीवादी खेती का बेहद असन्तुलित विकास उन ज़मीनों, नदियों, समन्दर और जंगलों को भी बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर रहा है जहाँ तमाम प्रजातियां रहती थीं। इन प्रजातियों के वायरस मनुष्यों तक पहुँच जाते हैं।

मनुष्य प्रकृति की अन्धी शक्तियों से बँधा नहीं होता है बल्कि वह प्राकृतिक शक्तियों को समझ कर अपनी ज़रूरतों के लिए उत्पादन करता है। समाज प्रकृति का ही विस्तार होता है। मनुष्य प्रकृति के साथ केवल तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और मनुष्य द्वारा पर्यावरण की तबाही खुद उसकी तबाही की तरफ़ धकेलेगी। आज पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने हमारे सामने वास्तव में यही विकल्प ला खड़ा किया है - विनाश या समाजवाद। पूँजीवादी व्यवस्था के चलते बहुसंख्यक मेहनतकश इस पर्यावरणीय तबाही का प्रकोप झेल रही है।

वुहान लैब में वायरस बनने की अवधारणा को अमरीका-ब्रिटेन के तमाम टुकड़खोर प्रचारित कर रहे हैं ताकि चीन को घेरने का एक मुद्दा बन जाए। हालाँकि वैज्ञानिक समुदाय ने इस अवधारणा में कोई दम नहीं पाया है परन्तु चमगादड़ से मनुष्य तक आने की अवधारणा के पुख़्ता प्रमाण न होने के कारण समय-समय पर तमाम हवाहवाई अवधारणाएँ भी उठती रहती हैं।

कोविड महामारी ने पुन: यह स्पष्ट कर दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था मानवता को पर्यावरण की तबाही के जरिये एक तरफ़ कोविड महामारी देगी तो दूसरी तरफ़ चन्द मुट्ठीभर लुटेरों की जन्नत सँवारेगी। फ़ासीवादियों की सरकार कोविड महामारी में हुई बदनामी को ढँकने के लिए साम्प्रदायिक माहौल तैयार करने में जुट चुकी है। जब देश में कोविड की चपेट से जनता मर रही थी और लाशें गंगा में बह रही थीं और शव गृह का लोहे का ढाँचा लाशों को जलाने की प्रक्रिया में गल रहा था देश के अमीरज़ादे विदेशों में कोविड से बचते हुए छुट्टियाँ मना रहे थे। वैक्सीन का कोटा भी इन अमीरज़ादों के लिए महँगे कॉरपोरेट अस्पतालों में सुरक्षित है और जनता के पास इन्तजार के अलावा कोई विकल्प नहीं है। नहीं, एक विकल्प है। असल में एकमात्र विकल्प है और वह इस व्यवस्था के ध्वंस के जरिए मानवकेन्द्रित व्यवस्था बनाने का है।

विश्व पटल पर

फ़िलिस्तीन की जनता के बहादुराना संघर्ष ने एक बार फिर ज़ायनवादियों को धूल चटाई और पीछे हटने को मजबूर किया!

लता

फ़िलिस्तीन जीवन, मुक्ति के सपनों, संघर्ष, और सृजन का दूसरा नाम है!
फ़िलिस्तीन जिजीविषा और युयुत्सा का पर्याय है!
फ़िलिस्तीन असह्य दुखों के लम्बे सिलसिले की, दुर्द्धर्ष मुक्ति संघर्ष की और उद्दाम आशावाद की एक महाकाव्यात्मक गाथा है!
हर स्वप्नदर्शी, मुक्तिकामी मनुष्य के भीतर धड़कता रहता है एक फ़िलिस्तीन!
अँधेरे समय में क्षितिज पर जलती एक मशाल!
-कविता कृष्णपल्लवी

इस वर्ष 10 मई से 21 मई तक 11 दिनों तक इज़रायल ने गाज़ा पर एक बार फिर भयंकर बमबारी की। बड़े अपार्टमेण्ट विशेषकर रिहायशी मकानों को लक्षित करते हुए बमबारी की गयी ताकि अधिक से अधिक लोगों की जानें जायें। छोटे-छोटे मासूम बच्चे इस हमले में मारे गये, कई घायल हुए। कितने ही बच्चे हर साल भय, आतंक के माहौल में अपनी मानसिक शान्ति खो बैठते हैं। इस बार गाज़ा और पश्चिम तट (वेस्ट बैंक) पर हमलों में लगभग 238 लोग केवल ग़ाजा में मारे गये। यदि इसमें वेस्ट बैंक(पश्चिमी तट) में मरे लोगों की संख्या जोड़ दी जाये तो यह संख्या काफी बढ़ जाएगी। गाज़ा में मरे लोगों में 65 बच्चे , 39 औरतें और 17 बुज़ुर्ग हैं। यह नरसंहार हर एक-दो साल में ज़ायनवादी इज़रायल करता है। ऐसे हमले ज़ायनवाद की नस्ली सफ़ाये पर आधारित घोर मानवद्रोही विषैली विचारधारा को बेनक़ाब करते हैं, साथ ही यह पूरे बुर्ज़ुआ समाज की खोखली मानवता की धज्जियाँ उड़ाते है।

इज़रायल तो फ़िलिस्तीनी लोगों के नरसंहार की अपनी मुहिम को जारी रखना चाहता था लेकिन हमेशा की तरह फ़िलिस्तीनियों के ज़बरदस्त बहादुराना संघर्ष और उनके समर्थन में पूरी दुनिया में सड़कों पर उमड़े जन सैलाब ने, और मुख्यत: इसी के कारण अमेरिका के दबाव ने इज़रायल को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। हमास की ओर से दागे रॉकेटों से इज़रायल में 12 लोग मारे गये। युद्धविराम की घोषणा होते ही संयुक्त राष्ट्र ने गाज़ा के लिए फण्ड इकट्ठा करने की घोषणा कर दी। हर बमबारी के बाद पूरी तत्परता से चन्दा जुटाने का साम्राज्यवादी लुटेरों के नियन्त्रण में काम करने वाली इस संस्था का मानवतावाद का ड्रामा होता ही है, सिवाय इसके किसी मानवीय समाधान के! जबकि संघर्ष विराम के बाद भी इज़रायल लगातार उकसावे की कार्यवाइयाँ करता रहा है। संघर्ष विराम घोषित होने के कुछ ही घण्टों के बाद इज़रायली सैनिकों ने यरुशलम में ऐतिहासिक अल अक्सा मस्ज़िद के परिसर में घुसकर स्टन ग्रेनेड और गोलियाँ दागीं जिससे 20 लोग घायल हो गये। पास के अल जर्राह इलाक़े में भी प्रदर्शनकारियों पर गोलियाँ चलायी गयीं। सैकड़ों फ़िलिस्तीनियों को गिरफ़्तार भी किया गया है।

आज यह समझना बहुत ज़रूरी है कि इंसाफ़ और आज़ादी के लिए फ़िलिस्तीन का संघर्ष अकेले उनका संघर्ष नहीं है। यह पूरी दुनिया में नस्लवाद और साम्राज्यवादी दबंगई के विरुद्ध शानदार लड़ाई का एक प्रतीक है। पूरी दुनिया का इंसाफ़पसन्द अवाम उनके पक्ष में बार-बार लाखों की तादाद में सड़कों पर उतरता रहा है। साम्राज्यवादी ताकतों के अलावा भारत के संघी फ़ासिस्टों का झूठा और जहरीला प्रचार फ़िलिस्तीन के संघर्ष की बहुत ही उल्टी तस्वीर पेश करता है। जनता के इस ऐतिहासिक संघर्ष को आतंकवाद का रूप दे देता है। एक बड़ी आबादी फ़िलिस्तीन के संघर्ष को या तो जानती नहीं या फिर साम्राज्यवादी और संघियों के जहरीले प्रचार को जानती है। इसलिए फ़िलिस्तीन के संघर्ष की सच्चाई को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने की ज़रूरत है।

इतिहास में थोड़ा पीछे जा कर आधुनिक साम्राज्यवाद के लिए मध्यपूर्व के महत्व को समझते हुए हम फ़िलिस्तीन की इस त्रासदी को बेहतर समझ पायेंगे। यह कहा जा सकता है कि इतिहास के एक मोड़ बिन्दु पर फ़िलिस्तीन ने बदलती विश्व परिस्थितियों में साम्राज्यवादी क़ब्ज़े, लूट, बँटवारे और नियन्त्रण की नई भू-राजनीतिक उलट-फेर में अपने आप को ग़लत जगह पर पाया।

कोयले की जगह ईंधन के तौर पर पेट्रोल के इस्तेमाल और भारत तक का सीधा रास्ता होने की वजह से फ़िलिस्तीन और पूरा का पूरा मध्यपूर्व आधुनिक साम्राज्यवाद के लिए सबसे महत्वपूर्ण भू-रणनीतिक क्षेत्र बन गया। पेट्रोल एक रणनीतिक माल (स्ट्रैटजिक कमोडिटी) माना जाता है। जिस साम्राज्यवादी देश का नियन्त्रण इस माल पर सर्वाधिक होगा उसकी चौधराहट विश्व साम्राज्यवाद पर होगी। मध्यपूर्व में तेल का अकूत भण्डार है। इन वजहों से मध्यपूर्व पर नियन्त्रण विश्व साम्राज्यवाद में अग्रणी महत्व रखता था। यह बात सभी साम्राज्यवादी देश समझ गये थे। इसलिए बीसवीं सदी के आरम्भ से ही ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका लगातार ज़ोर आज़माइश, तीन तिकड़म कर इस क्षेत्र को अपने क़ब्ज़े में करने के प्रयास में जुटे हुए थे। दोनों विश्व युद्धों के दौरान गहराते साम्राज्यवादी अन्तरविरोधों ने औपनिवेशिक नियन्त्रण के नये रूपों को जन्म दिया। विशेषकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्पष्ट हो गया कि उपनिवेशों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण साम्राज्यवादी लूट के लिए बेहद ख़र्चीला साबित हो रहा है। नव-स्वावधीन देशों की सत्ताओं में अपने मित्रों व संश्रयकारियों की खोज साम्राज्यवाद का नया मोडस ऑपेरेण्डी बना। सभी प्रमुख साम्राज्यवादी ताकतें इस क्षेत्र पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए एक-दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता में थीं। इस बदले विश्व राजनीतिक परिदृश्य में यदि हम इज़रायल के अस्तित्व में आने और फ़िलिस्तीन की जनता के संघर्ष को देखें तो फ़िलिस्तीन की त्रासदी को ज़्यादा बेहतर समझ पायेंगे।

फ़िलिस्तीन का एक संक्षिप्त इतिहास

उस्मानिया सल्तनत के विघटन के बाद 1920 में मित्र राष्ट्रों के इटली के सान रेमो में हुए शान्ति अधिवेशन में पराजित उस्मानिया सल्तनत का बँटवारा हुआ। फ़िलिस्तीन ब्रिटेन का मैण्डेट बना लेकिन उसके पहले ही 1917 में बाल्फ़ोर घोषणा के साथ ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन में इज़रायल के राष्ट्रीय पितृभूमि के गठन की लगभग आधिकारिक घोषणा कर दी थी। ब्रिटेन की बन्दूक के ज़ोर पर ज़ायनवादी संगठन फ़िलिस्तीनी अरब जनता की ज़मीनें हथियाना शुरू कर देते हैं। उनके साथ ज़ोर-ज़बरदस्ती और उनका उत्पीड़न शुरू करते हैं। ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन की जनता से उनकी राय जाने बिना एकतरफ़ा तौर से फ़िलिस्तीन में इज़रायल की स्थापना पर मुहर लगा दी। चाहे 1917 की बाल्फ़ोर घोषणा हो या आधिकारिक तौर पर बाल्फ़ोर घोषणा को मैण्डेट में शामिल करने की बात हो, दोनों ही निर्णयों में फ़िलिस्तीन की कोई राय नहीं ली गयी। उपनिवेश और उपनिवेशों की जनता साम्राज्यवादी हित और मुनाफ़े के साधन मात्र होते हैं इसलिए उपनिवेशों के सन्दर्भ में लिए निर्णयों में अक्सर वहाँ की जनता की कोई भागीदारी नहीं होती। राष्ट्रीय आन्दोलनों के दबाव में साम्राज्यवादी कुछ रियायतें देते हैं लेकिन फ़िलिस्तीन तो अभी पूरी तरह एक स्पष्ट भूभाग के साथ राष्ट्र के तौर पर स्थापित होने की प्रक्रिया में ही था। फ़िलिस्तीन का संघर्ष, ज़ायनवादी उत्पीड़न और साम्राज्यवादी शोषण की दोनों अखिल-अरब राष्ट्र और फ़िलिस्तीनी राष्ट्र के ठोस रूप ग्रहण करने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। इस पर हम आगे चर्चा करेंगे। ख़ैर, अचानक फ़िलिस्तीनियों को पता चला कि उनकी ज़मीन पर एक अन्य राज्य बसने जा रहा है जिसका उद्देश्य है फ़िलिस्तीनी अरब आबादी का नस्ली सफ़ाया और साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा। इज़रायल को फ़िलिस्तीन चाहिए था फ़िलिस्तीनियों के बिना।

1920 में सान रेमो में मित्र राष्ट्रों के शान्ति अधिवेशन में पराजित उस्मानिया सल्तनत का बँटवारा हुआ। इराक और फ़िलिस्तीन ब्रिटेन को मिले और लेबनान तथा सीरिया फ़्रांस का हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने के बाद कुछ समय पहले (जनवरी 1920) बने लीग ऑफ नेशंस ने 1922 में प्रशासनिक कार्यवाइयों के लिए ब्रिटेन को फ़िलिस्तीन की मैण्डेटरी आधिकारिक तौर पर दी। इस मैण्डेटरी ने 1917 के बाल्फ़ोर घोषणा को मान्यता दी। एशिया और अफ़्रीका के उपनिवेशों में गति पकड़ चुके राष्ट्रीय आन्दोलन इस बात का संकेत देने लगे थे कि आने वाले समय में प्रत्यक्ष उपनिवेशों का दौर ख़त्म होने वाला है। जारी राष्ट्रीय संघर्षों के समक्ष नये उपनिवेश बनाना और उन्हें सँभालना सम्भव नहीं होने जा रहा था इसलिए समाधान के तौर पर मैण्डेट व्यवस्था लायी गयी। जिसके तहत नव गठित लीग ऑफ नेशंस नये उपनिवेशों या क्षेत्रों के प्रशासन के लिए साम्राज्यों को एक निश्चित काल के लिए मैण्डेट देगा और उन साम्राज्यवादी देशों को समय-समय पर मैण्डेट की प्रशासन व्यवस्था की रिपोर्ट लीग ऑफ नेशंस के समक्ष प्रस्तुत करनी होगी। अपनी औपनिवेशिक लूट, शोषण और उत्पीड़न के काल को लदते देख चिन्तित साम्राज्यवादी देश लूट जारी रखने के नये उपाय खोज रहे थे। राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय को 1917 की अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत रूस द्वारा अमल में लाने की वजह से राष्ट्रीयताओं का दमन या नये उपनिवेशों का गठन और कठिन हो गया। एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन और दूसरी ओर राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय को मान्यता इन परिस्थितियों में पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए प्रत्यक्ष उपनिवेश बनाना अब कठिन होता जा रहा था। लेकिन यह सम्भव भी तो नहीं था कि पश्चिमी साम्राज्यवादी देश "पूरी दुनिया को बर्बर होने दें"; अभी भी एशिया, अफ़्रीका या लातिन अमेरिकी देश "व्हाइट मैन्स बर्डेन" बने हुए थे, इसलिए उपाय के तौर पर मैण्डेट व्यवस्था लायी गयी। मतलब कान सीधे नहीं घुमा कर पकड़ना था। फ़िलिस्तीन का मैण्डेट 1922 से 1948 तक के लिए ब्रिटेन को मिला। प्रथम विश्वयुद्ध में उस्मानिया सल्तनत ने धुरी राष्ट्रों का साथ दिया इसलिए ब्रिटेन ने सल्तनत के विरुद्ध युद्ध का ऐलान किया। ब्रिटेन ने अरब विश्व से युद्ध में साथ देने की बात कही जिसके बदले में स्वतन्त्र अरब राज्य की स्थापना में मदद करने का वायदा किया। यह बात हुसैन-मैक्मॉन संवाद के रूप में हुई थी। हासिमाइत वंश का हुसैन इब्न अली उस समय मक्का का अमीर था। यह पत्र संवाद हुसैन और मिस्र के हाई कमिश्नर हेनरी मैक्मॉन के बीच

हुआ था। लेकिन इस पत्र संवाद के साथ ही गुप्त तौर पर फ़्रांस के साथ समझौता भी हुआ। तय बात थी साम्राज्यवादी ब्रिटेन और फ़्रांस इस क्षेत्र में अपनी पकड़ इतनी आसानी से जाने नहीं देना चाहते थे। ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों में इस क्षेत्र के तेल भण्डारों पर नियन्त्रण के अलावा सबसे प्रमुख था स्वेज़ नहर पर क़ब्ज़ा! स्वेज़ नहर से होकर भारत तक पहुँचने का सीधा रास्ता जाता था जिसे किसी भी क़ीमत पर ब्रिटेन हाथ से जाने नहीं देना चाहता था, क्योंकि भारत उसका सबसे फ़ायदेमन्द उपनिवेश था। इसलिए इस क्षेत्र में सक्रिय दोनों प्रमुख साम्राज्यवादी देशों ने समझौते के तहत अपने-अपने हितों की रक्षा की। एक स्वतन्त्र अरब राज्य उनके हितों को पूरा नहीं कर सकता था, इसलिए हुसैन-मैक्मॉन संवाद सिर्फ़ एक संवाद रह गया और अन्दर ख़ाने अरब क्षेत्र का साम्राज्यवादी बँटवारा सम्पन्न हुआ। फ़िलिस्तीन और इराक ब्रिटेन ने अपने पास रखा और फ़्रांस ने सीरिया तथा लेबनान। इस साम्राज्यवादी बँटवारे के अलावा ब्रिटेन ने स्वेज़ नहर पर अपने नियन्त्रण को सुरक्षित बनाये रखने के लिए एक और पुख़्ता योजना अमल में लायी।

किसी भी निर्णय के आम तौर पर कई पहलू होते हैं और विशेषकर जब यह निर्णय शोषक साम्राज्यवादी राष्ट्रों का हो तो वह कई कुटिलताओं, स्वार्थसिद्धि, पाखण्ड और तुष्टीकरण का जीता जागता नमूना होता है। बाल्फ़ोर घोषणा ऐसे ही तमाम स्वार्थों और तुष्टीकरणों की मिसाल थी। 1917 में की गयी इस घोषणा के पीछे कई योजनाएँ और वायदों की तहें छुपी थीं। यह बात सही है कि साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों के सन्दर्भ में किसी भी निर्णय का हिस्सा उपनिवेश की जनता को नहीं बनाते। लेकिन उस दौर में जब रूसी क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय को सोवियत रूस ने मान्यता दी तो अरब विश्व को उम्मीदें जगी कि उन्हें भी आत्मनिर्णय का मौका मिलेगा। अरब विश्व की पढ़ी-लिखी बुर्ज़ुआजी आत्मनिर्णय और राष्ट्रीयताओं के संघर्ष से परिचित थी। हुसैन-मैकमॉन संवाद से उसे एक उम्मीद जगी थी। लेकिन जल्दीं ही यह धराशायी भी हो गयी क्योंकि अभी उस्मानिया सल्तनत की पूरी तरह हार भी नहीं हुई थी उसके पहले ही फ़्रांस और ब्रिटेन के बीच गुप्त रूप से साइक-पीको समझौता हो गया और फिर बाल्फ़ोर घोषणा। इन दोनों ने साम्राज्यवादी देशों की असली मंशा को उजागर कर दिया और अरब विश्व को औपनिवेशिक दमन और उत्पीड़न हाथ लगा। बाल्फ़ोर घोषणा पर चर्चा करने से पहले एक बार हम इसकी पृष्ठभूमि पर चर्चा कर लेते हैं। एक और बात कि बाल्फ़ोर घोषणा को 1948 में फ़िलिस्तीनी जनता के साथ हुए घोर अन्याय, नरसंहार और बर्बरता की ज़मीन तैयार करने वाला भी माना जाता है जिसे **नकबा** के नाम से जाना जाता है।

ज़ायनवाद और इज़रायल की अवधारणा

ज़ायनवाद का संस्थापक थियोडोर हर्ज़ल लम्बे समय से यहूदियों के अपने राष्ट्र की माँग कर रहा था, जिसमें स्पष्ट तौर पर माँग की गई थी कि यह कहीं भी हो सकता है लेकिन अच्छा हो अगर यह उनकी धार्मिक ऐतिहासिक भूमि फ़िलिस्तीन में हो। इस बात की पुष्टि बेसल में 1903 में हुए ज़ायनवादी कांग्रेस से होती है। हर्ज़ल ने यहूदियों के अपने राष्ट्रीय पितृभूमि के लिए ब्रिटेन के नियन्त्रण वाले युगाण्डा का प्रस्ताव रखा। हालाँकि आपसी मतभेद की वजह से यह प्रस्ताव रद्द कर दिया गया। इससे स्पष्ट है कि ज़ायनदवादियों के लिए फ़िलिस्तीन की अहमियत थी लेकिन सिर्फ यही उनका एक मात्र विकल्प हो ऐसा नहीं था।

ज़ायनवादी विचारधारा पूर्ण रूप से नस्ली श्रेष्ठता, काल्पनिक शत्रु 'दि अदर' के नस्ली सफ़ाये और विस्तारवाद पर आधारित है। जिसमें फ़िलिस्तीनियों को उनकी जगह-ज़मीन से बेदख़ल कर उनकी पूरी आबादी का सफ़ाया करना तथा उस ज़मीन पर इज़रायली राज्य की स्थापना की बात स्पष्ट शब्दों में की गयी है। इस आधुनिक दक्षिणपन्थी विचारधारा का यहूदी-विरोधी विचारधारा (एण्टी-सेमेटिज्म) से कोई अन्तरविरोध नहीं था और न है। कई मायनों में कहा जा सकता है कि दोनों ने साथ मिल कर काम किया ताकि यूरोप को यहूदी आबादी से मुक्त कर उन्हें कहीं व्यवस्थित किया जा सके और साथ ही अरब विश्व में यूरोप की अपनी जगह बन सके। यदि यहूदी-विरोधी विचारधारा से कोई अन्तरविरोध होता तो ज़ायनवादी संगठन जिनकी पैदा होने की ज़मीन यूरोप ही है, वहाँ यहूदियों के हक अधिकार के लिए ज़ायनवादी संगठन संघर्ष करते। लेकिन ऐसा नहीं हुआ और तब भी नहीं जब जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों में यहूदियों के साथ भीषण अत्याचार हो रहे थे, उन्हें यन्त्रणा शिविरों के गैस चेम्बर में तिल-तिल कर ज़िन्दा मारा जा रहा था। एक तथ्य इस बात को स्पष्ट उजागर करता है; इज़रायल की कम्युनिस्ट पार्टी के 16वें कन्वेंशन में प्रस्तुत एक आलेख जिसमें स्पष्ट लिखा गया कि 'जब पूरे विश्व के लगभग सभी फ़ासीवाद विरोधी और यहूदी संगठन नाज़ी जर्मनी का विरोध कर रहे हैं तो इस समय भी ज़ायनवादी नेता और हिटलर आपसी सम्पर्क में हैं, उनके साथ सहयोग में काम कर रहे हैं।'' जब जर्मनी में जर्मन कम्युनिस्ट फ़ासीवाद विरोधी पॉपुलर फ़्रण्ट बनाने का प्रयास कर रहे थे, तब वहाँ के ज़ायनवादी संगठनों ने इसमें कोई रुचि नहीं दिखायी। उन्हें जर्मनी से नौजवान और मजबूत यहूदी चाहिए थे ज़ायनवादी इज़रायल के निर्माण के लिए। जर्मनी में हो रहे अत्याचारों के खिलाफ़ चुप्पी साधे रहने और कुछ न करने के बाद हाइम विज़मान का वक्तव्य इस बात की और अधिक पुष्टि करता है – ''जर्मनी में यहूदियों के साथ जो कुछ भी हुआ है उसका जबाव है ऐरेत्ज़े इज़रायल में एक बड़ा, खूबसूरत और एक न्यायपूर्ण घर – एक मजबूत घर।'' स्पष्ट है यहूदियों के साथ होने वाले उत्पीड़न में ज़ायनवादियों को इज़रायल के विस्तार के सपने दिख रहे थे।

ब्रिटेन को जायनवादियों की योजना और महत्वाकांक्षा की ख़बर थी और पूर्वी अफ़्रीका के सेक्रेटरी जोसे चैम्बरलिन ने

युगाण्डा में इज़रायल के निर्माण का प्रस्ताव स्वीकार भी कर लिया था क्योंकि इसमें ब्रिटेन का कोई नुकसान नहीं था। लेकिन स्वयं ज़ायनवादी नेताओं में इस प्रस्ताव को लेकर मतभेद थे। ब्रिटेन के लिए ज़ायनवाद और ज़ायनवादियों की माँग कितना महत्व रखती थी, इसका अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि यूरोपीय देशों में ब्रिटेन ही पहला देश था जिसने 1290 में यहूदियों को देश निकाला दिया था और 1871 तक यहूदियों को राजनीतिक आज़ादी हासिल नहीं थी। ज़ायनवाद और ज़ायनवादी राज्य में रुचि मात्र प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही जागी। इसकी प्रमुख वजह इस रणनीतिक क्षेत्र पर नियन्त्रण था जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। बीसवीं सदी के आरम्भ से ही इस क्षेत्र की प्रमुखता बनी हुई थी और नई परिस्थितियों में इस भू-रणनीतिक क्षेत्र पर नियन्त्रण

साम्राज्यवादी चौधराहट बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण था जो अभी ब्रिटेन के हाथों में थी। हर्ज़ल और उसके बाद हाइम विज़मान अपनी ज़ायनवादी योजना की फ़ाइल लिए पहले ब्रिटेन, फिर 1919 में हासीमाइ प्रिंस फैज़ल और बाद में अमेरिका के पास पहुँचे।

बाल्फ़ोर घोषणा

ब्रिटेन को ज़ायनवाद की योजना समझाने का काम हाइम विज़मान ने किया। उसने हर्जल की बात को लॉयड जॉर्ज (ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधानमन्त्री) को समझायी कि इज़रायल शत्रुतापूर्ण अरब विश्व में इंग्लैण्ड के लिए ''अल्स्टर'' होगा। आयरलैण्ड को उपनिवेश बनाने के बाद अल्स्टर द्वीप आयरलैण्ड में ब्रिटिश दमन का चेक पोस्ट बनता था। मध्यपूर्व में अपनी महत्वाकांक्षा के मद्देनज़र यह बात साम्राज्यवादी ब्रिटेन को तुरन्त समझ में आ गयी। साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध में फ़्रांस के कमज़ोर पड़ने के बाद ब्रिटेन ने युद्ध का मुख्य भार उठाया लेकिन उसकी स्थिति भी कुछ अच्छी नहीं थी। ब्रिटेन चाहता था कि मित्र राष्ट्रों की ओर से अमेरिका युद्ध में शामिल हो। इसके लिए ब्रिटेन के यहूदियों के सामने यह प्रस्ताव रखा गया कि वे अमेरिकी यहूदियों (यहूदी पूँजीपतियों) को राजी करें कि वे अमेरिकी सरकार पर युद्ध में शामिल होने का दबाव बनायें। इसके बदले में फ़िलिस्तीन में यहूदी राज्य बनाने का वायदा किया गया। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है किसी भी निर्णय के कई पहलू होते हैं जिनमें से कुछ प्रधान होते हैं लेकिन प्रधान और गौण पहलुओं का समुच्चय ही उस निर्णय का निर्माण करता है। और बात जब साम्राज्यवादी हितों की होती है तो इस तरह के निर्णय कई हितों, महत्वाकांक्षाओं, रणनीतियों और कूटनीतियों की एक बेहद जटिल गुत्थी बनाते है। युद्ध में अमेरिका का शामिल होना मात्र अमेरिकी यहूदी पूँजीपतियों के दबाव का परिणाम नहीं था। इस क्षेत्र को लेकर अमेरिकी साम्राज्यवाद की अपनी महत्वाकांक्षाएँ तो थी हीं, साथ ही जर्मनी के विदेश सचिव आर्थर ज़िमरमान ने मेक्सिको को टेलीग्राम भेजा और युद्ध में शामिल होने पर आरिज़ोना, न्यू मेक्सिको और टेक्सस दुबारा से मेक्सिको को देने की बात कही जिसे अमेरिका ने मेक्सिको से हड़प लिया था। यह अमेरिका के लिए चेतावनीपूर्ण था। विश्वयुद्ध का उसके इतना क़रीब आना ठीक नहीं था।

इज़रायल को लेकर अपनी लम्बी योजना के साथ-साथ तात्कालिक योजना के पूरा होते ही ब्रिटेन ने अपनी बात पूरी की। अमेरिका अप्रैल 1917 में युद्ध में शामिल होता है और नवम्बर 1917 में बाल्फ़ोर घोषणा सामने आती है। अरब विश्व और फ़िलिस्तीन के साथ विश्वासघात करते हुए ब्रिटेन ने ज़ायनवादियों के साथ मिल कर इज़रायल राज्य की स्थापना की योजना बनायी। यह योजना थी बाल्फ़ोर घोषणा। बाल्फ़ोर घोषणा जिसे 1948 के नकबा (प्रलय) का आधार माना जाता है, फ़िलिस्तीनियों को उनकी ज़मीन और घरों से बेदख़ल करने और उनके नरसंहार की पृष्ठभूमि बना।

ब्रिटेन के ज़ायनवादियों का प्रतिनिधित्व करने वाले हाइम विज़मान और रूसी ज़ायनवादी पत्रकार नाउम सोक्लोंव के प्रयासों का परिणाम मानी जाने वाली बाल्फ़ोर घोषणा असल में इस क्षेत्र के रणनीतिक महत्व के मद्देनज़र ब्रिटेन का सोचा-समझा रणनीतिक क़दम था। ब्रिटेन को मध्यपूर्व में अपना 'अल्स्टर' चाहिए था। इस घोषणा के साथ यहूदियों को फ़िलिस्तीन में उनके राष्ट्रीय पितृभूमि देने की बात कही गयी। ज़ायनवादियों को इतने से भी खुशी नहीं थी उन्हें तो पूरा फ़िलिस्तीन अपने नाम चाहिए था। इन परजीवियों की इच्छा थी कि ब्रिटेन पूरे फ़िलिस्तीन को इज़रायल राष्ट्र की तरह घोषित कर दे। ऐसा नहीं हुआ लेकिन यह घोषणा अपने आप में फ़िलिस्तीन की अरब जनता के अधिकारों और हितों के विरुद्ध थी। यह एकतरफ़ा घोषणा फ़िलिस्तीन के साथ ऐतिहासिक अन्याय थी जो उसकी त्रासदी का कारण बनी।

फ़िलिस्तीनी जनता तब भी लड़ी और आज भी लड़ रही है। 1917 का दौर अलग था, अभी नव जागृत अखिल-अरब राष्ट्र

और फ़िलिस्तीनी राष्ट्र दोनों ही अनगढ़ थे लेकिन अरब विश्व की बुर्जुआजी अपने हितों के अन्तर्गत राष्ट्रों में गठित हो रही थी। अपने साझा शत्रु, पश्चिमी साम्राज्यवादी देश, मुख्यत: फ्रांस और ब्रिटेन के विरुद्ध संघर्षरत थे लेकिन ज़मीनी स्तर पर कोई ठोस आकार या आन्दोलन की शक़्ल अभी अख़्तियार नहीं कर पाये थे। इस क्षेत्र में फ़िलिस्तीन के विरुद्ध जारी अन्याय आने वाले समय में दोनों ही राष्ट्रीयताओं को आकार देने का काम करेगा।

फ़िलिस्तीन का प्रतिरोध संघर्ष

1939 का विद्रोह

1917 के बाल्फ़ोर घोषणा के बाद ब्रिटेन के संरक्षण में फ़िलिस्तीन में ज़ायनवादियों की गुण्डागर्दी शुरू हुई। इज़रायली फ़िलिस्तीनियों से ज़बरदस्ती ज़मीनें हथियाने लगे, संसाधनों पर अपना अन्यायपूर्ण अधिकार जमाने लगे। इन अत्याचारों और ब्रिटिश शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध ज़मीनी स्तर पर किसानों और खेतिहर मज़दूरों का प्रतिरोध जारी था जो बीच-बीच में मुखर हो जाया करता था। 1920, 1921, 1929 की हड़तालें, हिंसा और विद्रोह ऐसे ही मुखर प्रतिरोध थे। इनमें से हर एक अपने पहले वाले से ज़्यादा आक्रामक, संगठित और विस्तारित होते गये। जारी उत्पीड़न, दमन और ज़मीन हथियाने के खिलाफ सबसे ज़्यादा मुखर था 1939 का विद्रोह। 1936 में 6 महीने तक आम हड़ताल चली और यह विकसित होती-होती 1939 तक विद्रोह की शक्ल अख्तियार कर चुकी थी। फ़िलिस्तीन के पूरे औपनिवेशिक इतिहास में यह सबसे लम्बी चली हड़ताल थी। यह विद्रोह ज़मीनी स्तर पर अखिल अरब भावना को भी एक हद तक प्रदर्शित करती थी क्योंकि इस विद्रोह में हज़ारो फ़िलिस्तीनी और गैर-फ़िलिस्तीनी अरब शामिल हुए थे। इज़रायल ज़्यादा से ज़्यादा भूमि अपने अधिकार क्षेत्र में चिन्हित किये जा रहा था और प्रतिरोध होने पर ब्रिटेन हिंसक दमन किया करता था। 1936 में हुई आम हड़ताल की जाँच पड़ताल के लिए ब्रिटेन ने एक आयोग को गठित किया। इस आयोग ने फ़िलिस्तीनियों के असंतोष और आज़ादी की चाहत को भाँप लिया और बँटवारे की सलाह दी। आयोग की इस सिफारिश का अरब लोगों ने विरोध किया और विद्रोह की शुरुआत हो गयी। इस विद्रोह में पाँच हज़ार से अधिक फ़िलिस्तीन और पड़ोसी देशों से आए अरब मारे गये तथा पंद्रह हज़ार से भी ज़्यादा घायल हुए।

1948 नकबा (प्रलय)

1930 के दशक में जर्मनी में नाज़ियों के सत्ता में आने के बाद फ़िलिस्तीन में यहूदियों का प्रवास बढ़ा। 1936-39 के विद्रोह के जुझारूपन को देखने के बाद ब्रिटेन को इस बात का अन्दाज़ा हो गया था कि फ़िलिस्तीन और अन्य अरब देश मनमाने ढंग से नियन्त्रित नहीं हो सकते। उसे समझ आ गया कि यह मामला नाज़ुक है और ज़ायनवादियों को बेलगाम छूट देना ख़तरनाक होगा। दूसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत हो चुकी थी। उपनिवेशों में किसी तरह के विद्रोह की स्थिति में ब्रिटेन के लिए फौज़ों को फ़ाज़िल कर पाना कठिन होता इसलिए उसने किसी भी उथल-पुथल से बचने के लिए प्रति वर्ष यहूदियों के प्रवास की सीमा तय कर दी। असीमित प्रवास से इसे सीमित कर प्रति वर्ष 10,000 कर दिया गया। इस समय तक अन्य अरब देश फ़िलिस्तीन के संकट को ज़्यादा क़रीब से महसूस कर रहे थे, फ़िलिस्तीनी प्रवासियों की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी, साथ ही अरब विश्व में इज़रायल के पीछे की साज़िश उन्हें भी समझ आ रही थी। फ़िलिस्तीन के एक प्रतिनिधिमण्डल ने ब्रिटेन से बातचीत की और यह स्परष्ट किया कि जर्मनी में यहूदियों के साथ जो कुछ हो रहा है उसके प्रति उनकी गहरी संवेदना है लेकिन यहूदी-विरोध और ज़ायनवाद के बीच फ़र्क़ किया जाना चाहिए। फ़िलिस्तीन में जो हो रहा है वह ज़ायनवादियों का विस्ताार है। इनके विस्तारवाद ने फ़िलिस्तीनियों को उनके खेतों, घरों, गाँव और शहरों से बेदख़ल कर दिया है और करते जा रहे हैं। अन्य अरब देशों में फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों की संख्या बढ़ रही है।

ब्रिटेन को मिला फ़िलिस्तीन का मैण्डेट 1948 में पूरा होने जा रहा था। ज़ायनवादियों के बढ़ते हमले और अरब देशों का प्रतिरोध देख कर ब्रिटेन को यह समझ आने लगा कि फ़िलिस्तीन पर नियन्त्रण उसके लिए महँगा साबित हो रहा है। उसका 'अल्स्टर' उतना स्वीट नहीं रह गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध ने उसे पहले ही बेहाल कर दिया था। अब इस "बिगड़ैल बच्चे" का बोझ वह उठा सकने की स्थिति में नहीं था इसलिए 1947 में उसे संयुक्त राष्ट्र के सुपुर्द कर दिया। संक्षेप में यहाँ पर इस बात की चर्चा अनिवार्य है कि यही वह दौर था, जब ब्रिटेन की साम्राज्यवादी चौधराहट ख़त्म हो रही थी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटेन की हालत भी अन्य यूरोपीय देशों की तरह बदहाल थी। अमेरिका अपने मार्शल प्लान के साथ यूरोप के देशों में पुनर्निर्माण कर रहा था और द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यह सबसे बड़ी साम्राज्यवादी ताक़त की तरह उभरा। ब्रिटेन की जगह अब अमेरिका ने ले ली और 'अल्स्टर' के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी अमेरिका ने अपने हाथों में ले लिया। मध्य पूर्व में अपनी चौधराहट बनाये रखने के लिए इस लठैत को पालने में अमेरिका 1949 से लेकर अब तक प्रत्येक वर्ष करोड़ों डॉलर खर्च करता आया है।

1948 में संयुक्त राष्ट्र में फ़िलिस्तीन और इज़रायल के बँटवारे का प्रस्ताव पारित हो गया। इस प्रस्ताव के पारित होने में जर्मनी और यूरोप के अन्य देशों में यहूदियों के साथ हुये घोर अन्याय की वजह से पैदा हुई सहानुभूति की भावना महत्वपूर्ण कारक बनी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उन्हें किसी भी यूरोपीय देश में शरण नहीं मिल रही थी। प्रताड़ित और यातना शिविरों से निकले यहूदियों के जहाज़ यूरोप के एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह पर भटक रहे थे लेकिन कोई देश लंगर डालने नहीं दे रहा था। इन वजहों से संयुक्त राष्ट्र में उनके प्रति संवेदना की भावना प्रबल

थी। संयुक्त राष्ट्र ने उन्हें "राज्य से वंचित राष्ट्र" बताते हुए उनकी प्राचीन ज़मीन पर उनके राज्य बनाने का प्रस्ताव पारित किया। हम पहले ही बता चुके हैं कि यहूदियों के साथ हो रहे अत्याचारों के प्रति ज़ायनवादी कितने संवेदनशील थे। प्रताड़ित यहूदियों को न्याय देने का फ़ायदा ज़ायनवादियों को मिला। इन परिस्थितियों में इज़रायल को आधिकारिक मान्यता मिलने और फ़िलिस्तीन के बँटवारे के साथ इज़रायल की बर्बरता का इतिहास रचा गया। 1947 से 1949 के बीच 75 लाख फ़िलिस्तीनियों को उनके घरों और ज़मीनों से ज़बरन बेदख़ल कर दिया गया। 19 लाख से भी अधिक फ़िलिस्तीनी पड़ोसी देशों के शरणार्थी शिविरों में ठूँस दिए गये। पूरे फ़िलिस्तीन के लगभग 78 प्रतिशत हिस्से पर इज़रायल ने क़ब्ज़ा कर लिया। नस्ली सफ़ाये के लिए 70 से अधिक संगठित नरसंहारों में 15 हज़ार से अधिक फ़िलिस्तीनियों को मौत के घाट उतार दिया गया और 530 के करीब गाँवों और शहरों को तबाहो-बर्बाद कर दिया गया। आधुनिक इतिहास में किसी भी देश और किसी भी जनता के साथ इतनी क्रूरता, इतनी हिंसा और इतना अन्याय नहीं हुआ है। यह नस्लावाद और साम्राज्यवाद द्वारा रची आधुनिक विश्व की सबसे बड़ी त्रासदी है, जो आज तक चलती चली आ रही है। यह क़त्ले आम, घरों को बारूद से उड़ाना, छोटे-छोटे बच्चों की मौत और तबाही-बर्बादी उस घोर अन्याय को दर्शाती है जिसके भागीदार हम सभी होते हैं, अगर हम गाज़ा और फ़िलिस्तीन की त्रासदी पर चुप रहते हैं।

अरब विश्व में और विश्व के दूसरे हिस्सों में प्रवासी फ़िलिस्तीनी आज भी अपने घरों को लौटने के सपने देखते हैं। उनकी इस उम्मीद को प्रदर्शित करती है वह चाबी जो नकबा का प्रतीक बन गयी है। यह घोर विडम्बना है कि इज़रायल, एक परजीवी उपनिवेशवादी राज्य 15 मई को अपना स्वतन्त्रता दिवस मनाता है और उस देश और ज़मीन के लाखों बाशिंदे हाथों में अपने छिने घरों की चाबी लिए एक दिन वापस लौटने की उम्मीद लिए शरणार्थी शिविरों और अन्य देशों में प्रवासी का जीवन बिता रहे हैं।

अखिल अरब राष्ट्र (पैन-अरब नैशनलिज़्म) और फ़िलिस्तीन का संघर्ष

उस्मानिया सल्तनत से युद्ध के दौरान अखिल-अरब राष्ट्र खुल कर सामने आयी। यदि कहा जाए तो इसकी शुरुआत उस्मानिया सल्तनत के मातहत ही हो गई थी। लेकिन तब भी यह कोई एकाश्मी अवधारणा नहीं थी या कह सकते हैं कि यह कोई ठोस अवधारणा के तौर पर विकसित नहीं हो रही थी। उस्मानिया सल्तनत से आज़ादी के काल में इस पैन-अरब राष्ट्र की चेतना की भूमिका रही लेकिन उस समय भी इसमें तीन मुख्य साहित्यिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक धाराएँ शामिल थी, सीरिया, फ़िलिस्तीन और इराक। लेकिन पहले उस्मानिया सल्तनत और बाद में ब्रिटिश तथा फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी भिन्नताओं के साथ ही विकसित हो रही थी। आने वाले काल में मिस्र के शामिल होने पर एक और भिन्न संस्कृति शामिल हुई। पश्चिमी साम्राज्यवाद विरोधी प्रबल भावना इनके बीच एकता का प्रमुख कारक बनी जिसके बिना पर ज़ायनवादी इज़रायल के खिलाफ़ 1956, 1967, 1973, 1982 और 2006 के युद्ध लड़े गये। 1950 के दशक में अरब विश्व के अधिकतर देशों में अपने-अपने क़िस्म की उपनिवेश विरोधी जनवादी क्रान्तियाँ सम्पन्न हुईं जैसे मिस्र, लीबिया, सीरिया और इराक। ट्यूनीशिया और अल्जीरिया में अलग ढंग से राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ हुई थीं। इन सभी क्रान्तियों के नेता साम्राज्यवाद विरोधी थे। यही भावना उन्हें अखिल अरब राष्ट्रवाद के सूत्र से जोड़ती थी। अरब विश्व में इज़रायल का होना साम्राज्यवाद की उपस्थिति का प्रतीक था। इज़रायल सभी नवस्वाधीन अरब राष्ट्रों के लिए समान शत्रु था और फ़िलिस्तीन की जनता के साथ हुए अन्याय की वज़ह से उनसे भावनात्मक जुड़ाव भी था। 1950, 60 और 70 के दशक में यह अखिल अरब उभार साम्राज्यवाद के लिए इस क्षेत्र में कठिन चुनौती बन रहा था। हम यहाँ पर मात्र अखिल अरब राष्ट्रवाद के उन संघर्षों की चर्चा करेंगे जिसमें फ़िलिस्तीन की मुक्ति का प्रश्न प्रधान था।

नकबा की चर्चा हम पहले कर चुक हैं। इज़रायल पूरी बर्बरता और अमानवीयता की सीमा पार करते हुए जब ब्रिटिश सेना की मदद से फ़िलिस्तीनियों का नरसंहार कर रहा था, उन्हें विस्थापित कर उनके शहर के शहर, गाँव के गाँव खाक़ में मिला रहा था उस समय एक बेहद कमज़ोर अरब सेना ने प्रतिरोध दर्ज किया जिसे प्रतीकात्मक ही कहा जा सकता है क्योंकि मिस्र, इराक, जॉर्डन की राजशाहियाँ अंग्रेजों और इज़रायलियों के सामने समर्पण कर चुकी थीं। लेकिन इस तटस्थता और समझौतापरस्ती ने इन देशों में जारी राष्ट्रीय आन्दोलनों में तेज़ी लायी। मिस्र, इराक और जॉर्डन के सैनिक जिस प्रतिरोध में हिस्सा ले रहे थे वह एक प्रहसन मात्र रह गया था, जिसे मात्र प्रतीकात्मक तौर पर इन देशों की राजशाहियों ने आरम्भ किया था। लेकिन नकबा अखिल अरब राष्ट्रवाद के लिए एक कैटलिस्ट बना। इन देशों में चल रहे राष्ट्रीय आन्दोलन को भी गति मिली। राष्ट्रवादी सैन्य कमाण्डर जिनकी अरब राष्ट्रों की स्थापना में प्रमुख भूमिका रही, इस हार और राजशाहियों के साम्राज्यवाद के सामने घुटने टेकने पर बेहद असन्तुष्ट थे। यह हार उनके लिए अपमान थी।

1950 के दशक में गमाल अब्देल नासेर पैन अरब नैशनलिज़्म के प्रमुख नेता बन कर उभरे। वह पश्चिमी साम्राज्यवाद के खिलाफ़ एक सशक्त अरब राष्ट्र की सोच रखते थे। नासेर ने यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का एक असफल प्रयास भी किया लेकिन शासन के बाद के वर्षों में नासेर का तानाशाहाना रवैया और प्रतिद्वन्द्वियों का हिंसक दमन (जिसमें कम्युनिस्टों का बर्बर दमन भी शामिल है) किसी भी सकारात्मक एकता और अखिल अरब राष्ट्र के रास्ते में रोड़ा बना। नासेर द्वारा 1957 में स्वेज़ नहर का राष्ट्रीकरण पश्चिमी

साम्राज्यवाद को एक क़रारा ज़वाब था। स्वेज़ नहर के राष्ट्रीकरण के बाद इज़रायल के साथ ब्रिटेन और फ़्रांस की सेना ने स्वेज़ नहर पर फिर से अधिकार हासिल करने के लिए मिस्र पर हमला बोल दिया। सोवियत खेमे के साथ मिस्र की क़रीबी बढ़ रही थी। यह भी अमेरिका और पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए चेतावनीपूर्ण था। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत रूस भी अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित था। यह चर्चा पहले की जा चुकी है कि किस प्रकार मध्य पूर्व साम्राज्यवाद के लिए बेहद महत्वपूर्ण भू-रणनीतिक क्षेत्र बना तो यह भी तय था कि यहाँ भी सोवियत साम्राज्यवाद की घुसपैठ निश्चित ही बनती। शीत युद्ध अपने एक और मुखर दौर में प्रवेश कर रहा था। सोवियत साम्राज्यवाद भी विश्व में अपने मित्रों व संश्रयकारियों की तलाश में था। इस क्षेत्र में साम्राज्यवादी खींच-तान मची हुई थी और अखिल अरब राष्ट्रवाद को भी साम्राज्यवादी अन्तरविरोध का लाभ होने की सम्भावना थी। लेकिन साम्राज्यवादियों के आपसी अन्तरविरोध का अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल कर पाने में अरब विश्व सफल नहीं रहा।

इसी दौर में इस्लाम के सिद्धान्तों पर आधारित अरब समाजवादी बाथ पार्टी (1947) भी अस्तित्व में आई जिसका उद्देश्य भी फ़िलिस्तीन की मुक्ति और अरब विश्व की एकता था। बाथ पार्टी अलग चर्चा की माँग करती है। हम अभी फ़िलहाल फ़िलिस्तीन के मुक्ति संघर्ष पर चर्चा को केन्द्रित कर रहे हैं।

फ़िलिस्तीन पर वापस लौटते हुए, 1956 में यासर अराफात ने धर्म निरपेक्ष अल फ़तह की स्थापना की। अखिल अरब राष्ट्रवाद का अगला प्रमुख संघर्ष रहा 1967 का सिक्से डे वार। 1967 के युद्ध के नाम से जाना जाने वाले इस युद्ध को इज़रायल ने खुले तौर पर ब्रिटेन, फ़्रांस और अमेरिका की सैन्य सहायता और पैसे के बूते लड़ा, जिसमें इज़रायली सेना सबसे आधुनिकतम हथियारों से लैस मिस्र, जॉर्डन और सीरिया की सेना के साथ लड़ रही थी। इस युद्ध में फ़िलिस्तीन का वह हिस्सा भी इज़रायल के कब्ज़े में आ गया जो फ़िलिस्तीनियों के नियन्त्रण में था। 1964 में फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन (पैलेस्टीनियन लिबरेशन ऑर्गनाइज़ेशन, पीएलओ) की स्थागपना हुई। अल फ़तह के साथ-साथ इसमें फ़िलिस्तीन की तमाम प्रमुख पार्टियाँ शामिल हुई। 1967 के युद्ध के बाद पीएलओ में अल फ़तह सबसे प्रमुख पार्टी की तरह उभरी और पीएलओ का नेतृत्व भी फ़तह के नेता यासर अराफात के हाथों में आ गया। अल फ़तह के संघर्ष भी अखिल अरब राष्ट्रवाद को प्रदर्शित करते हैं। फ़तह के योद्धाओं को लेबनान, मिस्र और जॉर्डन संरक्षण देते थे और उनकी सैन्य मदद करते थे।

1973 के अक्टूबर युद्ध के बाद मध्य एशिया में समीकरण बदलने लगे। इस युद्ध में सीरिया और मिस्र इज़रायल के खिलाफ लड़ रहे थे। युद्ध, मिस्र और इज़रायल के बीच युद्ध विराम के समझौते के साथ समाप्त हुआ। लेकिन अब अरब विश्व में अन्तरविरोध और समीकरण बदलते जा रहे थे। नवस्वाधीन अरब देशों के शासक वर्ग में भी फ़िलिस्तीन के अन्याय के विरुद्ध लड़ने का दृढ़ संकल्प कमज़ोर पड़ रहा था। 1970 के अन्त-अन्त तक जॉर्डन ने फ़िलिस्तीन के गेरिल्ला योद्धाओं को बाहर निकाल दिया। मिस्र और इज़रायल के बीच 1978 में कैम्प डेविड समझौता हुआ। यह अखिल अरब राष्ट्रवाद को लगा सबसे ग़हरा धक्का था। अपने हितों की पूर्ति के लिए मिस्र अरब बिरादरी से अलग हटकर फ़िलिस्तीनी हितों की बलि चढ़ा चुका था और अधिकृत क्षेत्र इज़रायली प्रभुत्व के अन्तर्गत तथाकथित फ़िलिस्तीनी स्वायत्तता की अस्पष्ट अवधारणा को मान्यता दे चुका था।

1982 में फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष को एक और धक्का लगा। लेबनान पर इज़रायल के दूसरे आक्रमण, शातिला और साविरा शरणार्थी शिविरों के भीषण नरसंहार और उसके बाद सीरिया समर्थित लेबनानी ग्रुपों एवं सीरिया की सेनाओं द्वारा फ़िलिस्तीनी मुक्ति योद्धाओं के अड्डों के घेराव तथा लेबनान से उनके हटने के बाद फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष को एक गम्भीर क्षति पहुँची।

1980 वह दौर था जब एक-एक कर सभी देश फ़िलिस्तीनी योद्धाओं और फ़िलिस्तीन के मुक्ति संघर्ष का साथ छोड़ने लगे। अरब देशों के आपसी अन्तरविरोध, फूट और साम्राज्यवादी योजनाएँ अखिल अरब राष्ट्र के संघर्ष को कमज़ोर करने के लिए ज़िम्मेदार कारक रहे। साम्राज्यवाद के लिए यह विशेष महत्व रखता था क्योंकि इस क्षेत्र की सबसे बड़ी चुनौती पर अब उसने पार पा लिया था।

इन्तिफ़ादा

8 दिसम्बर 1987 को फ़िलिस्तीनी शरणार्थियों की तीसरी पीढ़ी हाथों में पत्थर लिये और मुट्ठियाँ ताने अपने नारों और लहराते झण्डों की ताल पर जोश में आगे बढ़ते ऐलान कर रही थी कि फ़िलिस्तीन पर विजय हासिल करना असम्भव है क्योंकि हम हारे नहीं हैं इसलिए इज़रायल कभी जीत नहीं सकता। साम्राज्यवाद और इज़रायली उपनिवेश से फ़िलिस्तीन को मुक्त कराने में अरब राष्ट्रों के सहयोग से लड़ी गयी लड़ाइयाँ तथा अरब राष्ट्रों द्वारा लड़ी गयी लड़ाइयाँ क़ामयाब नहीं रहीं। 21 साल पहले शुरू हुआ दमन-उत्पीड़न और बेदख़ली बदस्तूर जारी थी। अब एक-एक कर सीरिया, जॉर्डन, मिस्र, लेबनान, लीबिया आदि भी साथ छोड़ रहे थे। फ़िलिस्तीनी मुक्ति के छापामार योद्धाओं के लिए संघर्ष जारी रख पाना दिन पर दिन कठिन होता जा रहा था क्योंकि लेबनान से निकाले जाने के बाद अरब देशों ने उन्हें संरक्षण देने से इनकार कर दिया। मात्र ट्यूनीशिया ने उन्हें शरण दी। स्वयं पीएलओ के भीतर भी टूट और बिखराव का दौर जारी था। इन हालातों में फ़िलिस्तीनी जनता की अरब देशों पर टिकी उम्मीदें टूट रहीं थी। लेकिन उनकी मुक्ति का हौसला बुलन्द था। 1987 में फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष में एक नये दौर का आगाज़ हुआ। आम फ़िलिस्तीनी जनता के हाथों में पत्थर, गुलेल और प्रतिरोध के रचनात्मक रूपों के साथ शुरू हुआ इन्तिफ़ादा जो ज़ायनवादी इज़रायल और

पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए अप्रत्याशित प्रतिरोध था। चन्द दिनों में ही गाज़ा मुक्ति संघर्ष के इस नये दौर को जन्म देने वाली उर्वर ज़मीन बना। इन्तिफ़ादा की गर्मी गाज़ा से फैलती हुई पश्चिमी तट (वेस्ट बैंक) और शरणार्थी शिविरों तक पहुँची। मुख्यत: यह इन्तिफ़ादा की उष्मा ही थी जिसकी वजह से स्वतन्त्र फ़िलिस्तीनी राज्य की घोषणा हुई। 1988 में संयुक्त राष्ट्र में 80 देशों ने स्वतन्त्र फ़िलिस्तीनी राज्य को मान्यता दी। अपनी ज़मीन, प्रतिष्ठा, जैतून के बगीचों, सम्मानित ज़िन्दगी और बच्चों के भविष्य के लिए छ: सालों तक चला इन्तिफ़ादा अक्टूबर 1991 में मैड्रिड में हुए शान्ति वार्ता के समय से बिखरने लगा। लोगों को शान्ति वार्ता से उम्मीद थी। उम्मीद थी कि उनके लम्बे संघर्ष को जीत हासिल होगी। लेकिन यह वार्ता बिना किसी परिणाम के समाप्त हुई। साम्राज्यवाद के पंजे फ़िलिस्तीन में गहरे धँसे हुए हैं, इसलिए इतिहास में लड़ाई अभी लम्बी जारी रहेगी।

ओस्लो समझौता और हमास

1991 मैड्रिड की शान्ति वार्ता बिना किसी समाधान के समाप्त हुई। लेकिन अब पीएलओ समझौते के लिए प्रयासरत था। 1993 में ओस्लो समझौता हुआ और पीएलओ के सेक्युलर, रैडिकल बुर्जुआ नेतृत्व और उसके सामाजिक जनवादी सहयोगियों ने संघर्ष के बजाय समझौते के ज़रिये ज़ायनवादियों और उनके अमेरिकी सरपरस्तों से कुछ हासिल करने की कोशिशें शुरू कर दीं। ओस्लो समझौते की ज़मीन कैम्प डेविड में ही तैयार हो गयी थी। अरब विश्व के आपसी मतभेद थे जो धीरे-धीरे और मुखर होते चले गय। पश्चिमी साम्राज्यवादी देश अन्तत: अरब एकता को तोड़ने में क़ामयाब रहे। अब इस तरह पीएलओ को मिलने वाले समर्थन का स्रोत एक-एक कर सूखता चला गया। अरब विश्व की सबसे मज़बूत ताक़त मिस्र के समझौतापरस्त होने और फ़िलिस्तीनी संघर्ष की पीठ में छुरा घोंपने के बाद पीएलओ के लिए संघर्ष जारी रख पाना सम्भव नहीं रह गया था। इन्तिफ़ादा के दौरान ही अल-फ़तह से जनता की दूरी बढ़ने लगी थी और उसके समझौता परस्ता रवैये की भनक मिलने लगी थी। लेकिन 1993 में गुप्त रूप से हुए ओस्लो समझौते से यह स्पष्ट हो गया कि पीएलओ का नेतृत्व अब जुझारू संघर्ष की जगह समझौते की राह लेने को तैयार है। अगर यह समझौता समय हासिल करने की रणनीति होती तो जनता को यह सन्देश सम्प्रेषित हो जाता और शायद जनता यही उम्मीद भी लगाये थी। लेकिन समझौता ज़ल्द ही समझौतापरस्ती में बदलता गया। ज़ल्द ही जनता को इन शान्ति वार्ताओं और समझौतों की व्यर्थता उजागर होती चली गयी।

हमास का इतिहास पीएलओ से क़रीबी से जुड़ा हुआ है। यह वह दौर था जब पीएलओ जनता के संघर्ष को जुझारू नेतृत्व दे रहा था और आम फ़िलिस्तीनियों में इसकी गहरी पैठ थी। 1960, 1970 और 1980 के दशक के पूर्वार्ध में फ़िलिस्तीन के स्कूलों-कॉलेजों तथा शरणार्थी शिविरों के स्कूलों में फ़तह और पीएलओ के संगठनों के प्रभाव में एक पूरी पीढ़ी तैयार हो रही थी। इन्तिफ़ादा के समय इन्हीं स्कूलों-कॉलेजों के छात्र सड़कों पर आम जनता के साथ लड़े। हालाँकि पहले इन्तिफ़ादा के समय से ही पीएलओ की लोकप्रियता कम होने लगी थी। ख़ैर, जब पीएलओ फ़िलिस्तीन के मुक्ति संघर्ष के लिए जुझारू तरीके से लड़ रहा था तब पीएलओ इज़रायल और पश्चिमी साम्राज्यवाद के लिए सिर दर्द बना हुआ था। इसलिए साम्राज्यवाद के लिए ज़ल्द ही उसका तोड़ खोजना ज़रूरी था। मिस्र के 'मुस्लिम ब्रदरहुड' से जुड़े धार्मिक कट्टरपन्थी संगठन 'हमास' को पीएलओ के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उभारा गया। इज़रायली शासकों और अमेरिकी साम्राज्यवादियों का हमास के उभार में परोक्ष समर्थन था। मैड्रिड शान्ति सम्मेलन (1991) और ओस्लो समझौते (1993) के बाद पीएलओ के नेतृत्व की समझौतापरस्ती जैसे-जैसे फ़िलिस्तीन की जनता के सामने उजागर होती चली गई वैसे-वैसे हमास का सामाजिक आर्थिक आधार विस्तारित होता चला गया। दरअसल पीएलओ के जुझारूपन खोते बुर्जुआ नेतृत्व से मोहभंग की शुरुआत तो 1987 के उस व्यापक जनउभार से ही हो चुकी थी, जिसे पहले इन्तिफ़ादा के नाम से जाना जाता है। पीएलओ द्वारा समझौतापरस्ती का रास्ता अपनाने के बाद अमेरिकी-इज़रायली स्कीम में हमास को परोक्ष शह देने की न ज़रूरत रह गयी थी, न ही गुंज़ाइश। इधर मुक्तिकामी जनता की आकांक्षाओं के दबाव तले हमास के चरित्र में भी बदलाव आया। हमास आज 'अल क़ायदा' या आईएसआइएस जैसा या 'मुस्लिम ब्रदरहुड' जैसा कट्टरपन्थी आतंकवादी संगठन नहीं है (ऐसे कुछ अन्य छोटे संगठन वहाँ हैं)। यह एक व्यापक जनान्दोलन है, जिसका सशस्त्र दस्ता है। यह मुक्त फ़िलिस्तीन में शरिया क़ानून लागू करने, स्त्रियों के लिए पर्दापोशी अनिवार्य करने जैसी या दुनिया के पैमाने पर ज़ेहाद छेड़ने जैसी बातें भी नहीं करता। सच्चाई यह है कि फ़िलिस्तीन में यह सम्भव नहीं। फ़िलिस्तीन की जनता मध्यपूर्व में सबसे आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील अवाम में से एक थी और आज भी है। इसी धर्मनिरपेक्ष और प्रगतिशील अवाम के दबाव में आज का हमास वह आतंकवादी हमास नहीं है जिसे साम्राज्यवादियों ने अपने हितों की रक्षा के लिए पैदा किया था। हमास के पास आज सिर्फ़ इसलिए व्यापक समर्थन आधार है, क्योंकि वह ज़ायनवादियों के विरुद्ध जुझारू ढंग से लड़ रहा है। जैसे ही हमास की यह भूमिका नहीं रहेगी, या वह जनता पर किसी क़िस्म की कट्टरपन्थी निरंकुश सत्ता थोपने का प्रयास करेगा वैसे ही कोई नया रैडिकल विकल्प हमास का स्थान ले लेगा। यह याद रखना होगा कि पीएलओ में शामिल जॉर्ज हबाश के नेतृत्व वाले वामपन्थी संगठन पी.एफ.एल.पी ने जब मुख्य घटक (राष्ट्रीय बुर्जुआ चरित्र वाले) अल फ़तह के पिछलग्गू की भूमिका अपनाते हुए समझौते का मार्ग चुना और पी.एफ.एल.पी से अलग हुए रैडिकल वाम धड़े भी जब अपनी यान्त्रिक, संकीर्णतावादी और वाम दुस्साहसवादी ग़लतियों के कारण कोई विकल्प नहीं

बन सके, तो इन्हीं स्थितियों में हमास अपनी ताक़त और आधार बढ़ाने में सफल रहा। जनता के पास जनवादी और क्रान्तिकारी विकल्प की रिक्तता में हमास आगे आया। लेकिन आज हमास जनता के बीच रचा-बसा हमास है जिसके योद्धाओं की भर्ती आम फ़िलिस्तीनियों के घरों के नौजवानों से होती है।

इक्कीसवीं सदी और फ़िलिस्तीन का मुक्ति संघर्ष

फ़िलिस्तीन में इक्कीसवीं सदी की शुरुआत एक बार फिर जनसंघर्षों के आगाज़ से हुई। शान्ति वार्ताओं से थकी हुई फ़िलिस्तीन की जनता अपनी मुक्ति के लिए फिर उठ खड़ी हुई। फ़िलिस्तीनी जनता को पीएलओ से कोई उम्मीद बाक़ी नहीं रह गयी थी, वह फिर सड़कों पर उतरी। पहला इन्तिफ़ादा उसकी इसी अथक और दुर्द्धर्ष संघर्ष की शुरुआत थी। ओसलो समझौते और शान्ति वार्ताओं के झुनझुने से ऊबी फ़िलिस्तीन की आबादी और नौजवान 2000 में फिर से मुट्ठियाँ भींचे, गुलेल खींचे और पत्थरों से निशाना साधते सड़कों पर उमड़े। आहत उम्मीदें, रौंदे विश्वास और मुक्ति की आदिम चाहत के साथ एक बार फिर शुरू हुआ इन्तिफ़ादा, फ़िलिस्तीन का दूसरा इन्तिफ़ादा। फ़िलिस्तीनी की जनता ख़ामोश अपने सपनों को बर्बाद होते, अपनी ज़िन्दगी को फ़ौजी बूटों के तले रौंदते और घरों को बारूद से उड़ते नहीं देखना चाहती थी। उसे आदत हो गयी है विश्व के गूँगे-बहरे हुक्मरानों की और ख़ुद अपने अरब देशों के शासकों की नीची निगाहों की। वह फिर से सड़कों पर उतरी अपने सपनों के साथ और अपनी मुक्ति के अमिट गान के साथ गुलेल, पत्थर, भिंची मुट्ठियों और लहराते झण्डों के साथ!

वेस्ट बैंक (पश्चिमी तट) में जनता लड़ रही थी और गाज़ा में जनता के साथ हमास भी लड़ रहा था। गाज़ा में हुए मिसाइल हमले का जवाब हमास ने भी मिसाइल और बमों से दिया। दूसरे इन्तिफ़ादा ने 15,000 कट्टर ज़ायनवादियों और यहूदी बस्तियाँ बसाने वालों को गाज़ा और वेस्ट बैंक के उत्तर के इलाके से बाहर करने के लिए इज़रायल को मजबूर कर दिया। यहूदी बस्तियाँ तो हट गयीं लेकिन जल और थल के सारे रास्ते बन्द कर इज़रायल ने गाज़ा को एक खुली जेल में तब्दील कर दिया।

2006 में इज़रायल के अपराजेय होने का घमण्ड टूटा। लेबनान में एक छोटे से छापामार समूह हिजब्बुल्ला के हाथों इज़रायल की बेइज़्ज़ती वाली हार हुई। 2006 में आम चुनावों में हमास गाज़ा में सबसे बड़ी पार्टी की तरह उभरा और उसने चुनी हुई सरकार का गठन किया। लेबनान में मुँह की खाने और हमास की सरकार बनने से घबराया इज़रायल और अमेरिकी साम्राज्यवाद हमास को आतंकवादी क़रार दे कर गाज़ा में हमले करता है। शुरुआत 2006 से हुई फिर 2008-09, 2012, 2014, 2018 और अब 2021। जिस तरह इन हमलों में गाज़ा के आम नागरिक, मासूम बच्चे , औरतें, बुज़ुर्ग और बीमार निशाना बनते हैं, इसमें कोई गुंज़ाइश नहीं रह जाती कि नस्ली श्रेष्ठता पर आधारित ज़ायनवादी सोच पूरी फ़िलिस्तीन की आबादी का ही सफ़ाया करना चाहती है। इज़रायल के नेता और मन्त्री, चाहे स्त्री हो या पुरुष एक सुर में नस्ली सफ़ाये की बात चीख-चीख कर करते हैं।

इस वर्ष मई 2021 की शुरुआत में इज़रायली हमले का कारण बने यरुशलम के पूर्व में शेख ज़र्रा इलाक़ा, जो अरब फ़िलिस्तीनियों के अधिकार में है। वहाँ इज़रायली सेना राजधानी के निर्माण के नाम पर ज़बरन उनके घरों में घुस कर उन्हें बाहर निकालने और घरों पर क़ब्ज़ा जमाने का प्रयास करने लगी। 2017 में यरुशलम को इज़रायल की राजधानी होने के इज़रायल के दावे का अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रम्प ने समर्थन किया था। हालाँकि संयुक्त राष्ट्र के 128 देशों ने इस प्रस्ताव को रद्द कर दिया। यरुशलम के इज़रायल की राजधानी होने का ख़ुद ही दावा करते हुए इज़रायल का तत्काकलीन प्रधानमन्त्री नेतन्याहू अब उसके एक हिस्से में बसे फ़िलिस्तीनियों को बाहर निकाल रहा था। लेकिन असलियत क्या है? हम जानते हैं कि इज़रायल फ़िलिस्तीन में एक औपनिवेशिक सेटलर परियोजना है जो पश्चिमी साम्राज्यवादियों के हितों की मध्य पूर्व में सेवा के लिए बनाया गया है। और इस "स्वायत्त राष्ट्र" में "राजधानी का निर्माण" वहाँ के असली राष्ट्र, यानी फ़िलिस्तीनियों को बेदख़ल कर, उनका क़त्ल कर और उन पर बेइन्तहाँ ज़ुल्म ढा कर किया जा रहा है। सीधे शब्दों में इसे गुण्डागर्दी, लठैती और दबंगई कहते हैं जो ज़ायनवादी रोज़ साम्राज्यवादियों की शह पर वहाँ करते हैं। फ़िलिस्तीनियों ने हज़ारों की संख्या में एकत्र हो प्रतिरोध किया। प्रतिरोध की जगह अल-अक्सा मस्ज़िद बना। और अगले ही दिन प्रतिरोध में हमास ने गाज़ा से बमबारी की। फिर इज़रायल की ओर से गाज़ा पर बमबारी शुरू हो गयी। हमास ने इज़रायलियों द्वारा फ़िलिस्तीनियों को उनके घरों से बाहर निकालने और अल-अक्सा मस्ज़िद पर हमले के प्रतिरोध में मिसाइल हमला किया। हालाँकि अत्याधुनिक सैन्य तकनीक से लैस इज़रायल के लिए यह हमला बहुत भारी नहीं पड़ता। लेकिन ज़मीनी लड़ाई में वह गाज़ा में नहीं टिक सका। अमेरिका के बूते तैयार उन्नत सैन्य तकनीक और विकसित सुरक्षा इन्तज़ाम (डिफेंस मेकेनिज्म) के बूते ग़ाजा पर मिसाइल हमले करता है और अपनी रक्षा कर लेता है। लेकिन गाज़ा के जाँबाज़ इनसे डरते नहीं, वे लड़ते हैं।

अरब विश्व के देशों ने अपनी स्वाधीनता के बाद जो रास्ता चुना, वह पूँजीवादी विकास का रास्ता था। कई देशों में अलग-अलग अंशों में रैडिकल बुर्ज़ुआ सुधार के क़दम उठाये गये, कुछ देशों में सामन्ती सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण का रास्ता अपनाया गया। वे सभी विश्व पूँजीवादी तन्त्र का हिस्सा बने रहे। कुछ ही दशकों में इन देशों में इस रास्ते के परिणाम नज़र आने लगे। एक ओर मुट्ठीभर अमीरों की जमात पैदा हुई तो दूसरी ओर जनता की बदहाली बढ़ती गयी। बुर्ज़ुआ जनवाद का दायरा वहाँ बेहद सीमित होता गया। अपनी अर्थव्यवस्थाओं के ठहराव को तोड़ने

के लिए पश्चिम की पूँजी के लिए दरवाज़ा खोलना उनके लिए लाज़िमी हो गया। निजीकरण, उदारीकरण की नीतियों की वजह से बेरोज़गारी, महँगाई और भ्रष्टाचार में बेतहाशा बढ़ोत्तरी हुई। चाहे साम्राज्यवाद के पिट्ठू शेखों-शाहों की सत्ता हो, लोकप्रिय जनउभार की लहर पर सवार होकर व्यापक जनसमर्थन से तख़्तापलट करके सत्ता में आये सैनिक शासक हों या फिर अल्जीरिया और ट्यूनीशिया की रैडिकल बुर्ज़ुआजी का प्रतिनिधित्व करने वाले बेन बेला एवं बूमेदियेन और हबीब बूर्गीबा के उत्तराधिकारियों की सत्ताएँ हों, उदारीकरण के दौर में पूँजी का पाटा चला, तो सब एक ही श्रेणी में पहुँच गये। साम्राज्यवादी पूँजी के आगे घुटने टेकने के अलावा उनके पास कोई विकल्प नहीं था। एक समय लोकप्रिय रही सत्ताएँ भी भ्रष्टाचार, संसाधनों की लूट और निरंकुश दमनकारी शासन के कारण लोगों की नफ़रत का पात्र बन गयीं। साथ ही इन सत्ताओं द्वारा फ़िलिस्तीनी मुक्ति संघर्ष को धोखा देना इन्हें इनकी जनता की निगाह में और गिरा देता है।

आज पूरा का पूरा मध्यपूर्व ही ज्वालामुखी के मुहाने पर बैठा है। आधुनिक साम्राज्यवाद के लिए सबसे महत्वपूर्ण रणनीतिक क्षेत्र होने की क़ीमत फ़िलिस्तीनी और पूरे मध्यपूर्व की जनता बीसवीं सदी के दूसरे दशक से चुकाती चली आयी है। विश्व में सबसे अधिक प्रवासी और शरणार्थी अगर कहीं के हैं, तो वह है मध्यपूर्व। इराक़, ईरान, सीरिया, यमन, फ़िलिस्तीन, मिस्र, सहित इस पूरे क्षेत्र को साम्राज्यवादी हितों की रक्षा और साम्राज्यवादी चौधराहट बनाये रखने के लिए अमेरिका जलाता-सुलगाता रहा है। मध्यपूर्व एक खुला युद्ध क्षेत्र बना हुआ है जहाँ शहरों, गाँवों और बस्तियों पर बिना सोचे बेरहमी से बमबारी की जाती है; छोटे बच्चे जहाँ रातों को भय से सो नहीं पाते, माएँ हर रात दुआ कर सोती हैं कि सुबह अपने बच्चों का मुँह देख पायें; पिता असहाय-लाचार अपने जले खेतों-खलिहानों को देख कर डरता है कि आने वाले दिन वह अपने भूखे बच्चों का मुँह कैसे देखेगा; यह सतत् त्रासदी से गुज़रता क्षेत्र है जिसकी तुलना कहीं से नहीं की जा सकती। वज़ह हम पहले ही बता चुके हैं इस क्षेत्र का रणनीतिक महत्व। स्पष्ट है कि जनता इस क़दर भयभीत, लाचार और मुफ़लिसी का जीवन लगातार जीती नहीं चली जायेगी। वह लगातार लड़ तो रही है लेकिन एक सही मुकम्मल मंज़िल तक पहुँचने के लिए सही राजनीतिक दिशा और समझदारी की आवश्यकता है।

फ़िलिस्तीन एक राष्ट्र के तौर पर अपने दमन और उत्पीड़न के ख़िलाफ़ संघर्ष कर रहा है और यह संघर्ष कई दौरों से गुज़र चुका है। फ़िलिस्तीन की आज़ादी के साथ दो पहलू जुड़े हुए हैं। एक राष्ट्र के तौर पर फ़िलिस्तीन की स्वतन्त्रता; दूसरा जायनवादी इज़रायल का साम्राज्यवादी निर्मिति होने की वजह से फ़िलिस्तीन का पूरे मध्य पूर्व से जुड़ा होना। इज़रायल पश्चिमी साम्राज्यवाद का लठैत है। 1949 से लेकर अब तक अमेरिका ने इज़रायल को जितने पैसे दिये हैं उसे देख कर यह अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि अमेरिका ने इस लठैत को पूरे लाड़ से पाल-पोस कर बड़ा किया है जो पहले ब्रिटेन का बच्चा 'अल्स्टर' था, बाद में अमेरिका का लठैत हुआ। शान्ति के लिए नोबल पुरस्कार पाने वाले बराक ओबामा ने सहयोग के तौर पर अब तक की सबसे बड़ी राशि देने की शुरुआत की। 2016 से आने वाले दस सालों के लिए प्रति वर्ष 380 करोड़ डॉलर की राशि इज़रायल को मिल रही है। निश्चित ही यह पैसा इज़रायल को फ़िलिस्तीनियों पर ज़्यादती करने, उनकी ज़मीने हड़प कर यहूदी बस्तियाँ बसाने मात्र के लिए नहीं दी जाती। यह क़ीमत है इस क्षेत्र पर अपने नियन्त्रण को बनाये रखने की। इसलिए फ़िलिस्तीन की मुक्ति इस पूरे क्षेत्र से साम्राज्यवादी नियन्त्रण की समाप्ति से जा कर जुड़ती है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थों की वजह से यह क्षेत्र लम्बे समय से साम्राज्यवाद की एकल गाँठ बना हुआ है। समूचे अरब में अमेरिका और इज़रायल के ख़िलाफ़ जो नफ़रत भरी है, वह आने वाले समय में फूटेगी। अरब वसन्त के अनुभव से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सच्ची जनवादी और प्रगतिशील क्रान्तिकारी ताक़तों का नये अरब जनउभार को नेतृत्व देना अनिवार्य शर्त है क्योंकि तब ही ये ताकतें अमेरिकी साम्राज्यवाद और ज़ायनवादी इज़रायल के विरुद्ध दृढ़ता से खड़ी होंगी। अभी भले ही इस दिशा में मुखर कुछ होता नहीं दिख रहा है लेकिन फिर भी, दो बातें स्पष्ट हैं। एक यह कि ऐसी क्रान्तिकारी ताक़तों के खड़े होने की प्रक्रिया साम्राज्यवाद और ज़ायनवाद के हर आक्रमण के साथ बढ़ेंगी। दूसरे, अरब जनता भी देख रही है कि इस्लामिक कट्टरपन्थी ताक़तें निरन्तरतापूर्ण तरीक़े से अमेरिकी साम्राज्यवाद और इज़रायली ज़ायनवाद का विरोध नहीं कर रही हैं। तमाम वर्तमान उदाहरण मौजूद हैं जिसमें कि धार्मिक कट्टरपन्थी ताक़तें साम्राज्यवादियों और ज़ायनवादियों के साथ समझौते और सौदे कर रही हैं। ऐसे में, जनता के बीच नये क्रान्तिकारी विकल्पों के खड़े होने की सम्भावनाएँ पैदा हो सकती हैं, क्योंकि अरब जनता ने साम्राज्यवाद और ज़ायनवाद के धार्मिक कट्टरपन्थी विरोध की सीमा और असलियत देख ली है।

अरब विश्व में क्रान्ति की शुरुआत कहीं से हो सकती है। किसी भी अरब देश से और यह पूरे क्षेत्र में जंगल की आग की तरह फैल जाएगी। एक उन्नत स्तर की अखिल अरब एकजुटता सामने आयेगी। 1960 के दशक के बाद इतिहास में अखिल अरब राष्ट्र को नेतृत्व देने वाली बुर्ज़ुआजी अपनी प्रगतिशील सम्भावनाओं से रिक्त हो चुकी है। इसलिए किसी भी नये अखिल अरब उभार का चरित्र सर्वहारा होने की सम्भावनाएँ अधिक हैं। फ़िलिस्तीन में आज क्रान्ति की मंजिल राष्ट्रीय जनवादी है। चूंकि वहाँ की बुर्ज़ुआजी का बड़ा हिस्सा ढुलमुल है और समझौतापरस्त हो गया है, इसलिए अधिक सम्भावना यह है कि यह निम्न-मध्य वर्ग, मध्यवर्ग और किसान आबादी को साथ लेकर सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में ही सम्पन्न हो सकती है। यह भी सच है कि ऐसी क्रान्ति के सम्पन्न होते ही वह बिना रुके बेहद जल्दी समाजवादी क्रान्ति

की मंजिल में पहुँच जाएगी क्योंकि फ़िलिस्तीन में सामन्ती अवशेष लुप्तप्राय ही हैं और राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति की मंजिल सिर्फ राष्ट्रीय कार्यभार के अपूर्ण होने की वजह से है। दूसरी सम्भावना यह है कि फ़िलिस्तीन में ऐसे किसी भी 'ब्रेकथ्रू' का नतीजा समाजवादी क्रान्ति की आग के पूरे अरब विश्व में फैलने के रूप में सामने आएगी। और तीसरी सम्भावना यह है कि यह आग अरब विश्व में भी सीमित नहीं रहेगी। वजह यह है कि पहले से संकट से कराह रहे साम्राज्यवाद के हाथ से मध्य पूर्व के क्षेत्र के निकलने का अर्थ उसके संकट का अन्तकारी रूप से गहराना होगा जो ऐसे युद्धों को जन्म दे सकता है जो कि नयी समाजवादी क्रान्तियों की एक श्रृंखला की शुरुआत कर सकता है। मध्यं-पूर्व और विशेष तौर पर फ़िलिस्तीन आज साम्राज्यवाद की एक महत्वपूर्ण गांठ है जहां कई अन्तरविरोधों के सन्धि-बिन्दु बनते हैं। लेकिन अभी निकट भविष्य में ऐसी कोई शक्ति फ़िलिस्तीन में दिखाई नहीं दे रही है, जो इस प्रक्रिया की शुरुआत कर सके। लेकिन इतिहास और क्रान्ति अपना रास्ता बना लेते हैं।

ज़ुल्म और मौत के
काले, अँधेरे समन्दर में
लहरों से जूझती कश्तियों के
तने हुए पालों के ऊपर
सिर उठाये चमकती हैं
शहादतों की कन्दीलें
दुनिया को पुकारती हुई,
अन्याय के विरुद्ध
अनवरत संघर्ष का सन्देश
सभी जीवित दिलों तक
भेजती हुई!

- कविता कृष्णपल्लवी

कोरोना की दूसरी लहर.....

(पेज 27 का शेष)

घटते रोज़गार के अवसर, रोज़गारशुदा नौजवानों की छिनती नौकरियाँ और नौजवानों के प्रति सरकारों की आपराधिक उदासीनता छात्रों-युवाओं के भविष्य को विकल्पहीनता, मानसिक तनाव, सामाजिक विलगाव, और अवसाद की तरफ धकेल रही है। सामान्य दिनों में भी छात्रों-नौजवानों की बड़ी आबादी भविष्य की अनिश्चितता, रोज़गार के लिए अपने सगे-सम्बन्धियों से गलाकाटू प्रतियोगिता, ज़िन्दगी की भागमभाग और एक अदद नौकरी के लिए अपने सबसे बेहतरीन समय में अपने को एक छोटी सी कोठरी में क़ैद कर तोतारटन्त करना छात्रों नौजवानों को अन्दर ही अन्दर खोखला करता जा रहा है। सामूहिकता छात्रों-नौजवानों के लिए परायी चीज़ हो गयी है जिससे नौजवानों में नफ़रत, अविश्वास, बदहवासी, ऊब बढ़ रही है। ऊब मिटाने के लिए ये नौजवान पूंजीवाद द्वारा परोसे जा रहे घटिया फिल्मों, दुअर्थी स्त्री विरोधी गानों, टिक-टाक, पबजी, फेसबुक व्हाट्सएप आदि का सहारा ले रहे हैं।और इससे भी अधिक गहरे अलगाव में जा रहे हैं। ये नौजवान इस बात से अनभिज्ञ है कि इनके ऊब और अवसाद का कारण पूँजीवाद है और जब तक पूँजीवादी व्यवस्था को नही उखाड़ फेंका जाता तब तक इसके चपेट में छात्रों-युवाओं की एक बड़ी आबादी आती रहेगी। एक अध्ययन के मुताबिक भारत में लगभग 43 प्रतिशत लोग किसी न किसी प्रकार से डिप्रेशन से ग्रसित हैं।

6.5 प्रतिशत यानी लगभग 8.5 करोड़ लोग अवसाद के गम्भीर शिकार हो चुके है। तमाम ऐसे भी लोग हैं जो हालात को सहन न कर पाने और जीवन में किसी प्रकार की उम्मीद न दिखायी देने से आत्महत्या कर ले रहे है और हालिया आँकड़ों के हिसाब से इसमें सबसे ज़्यादा बेरोज़गार नौजवान हैं। एनसीआरबी-2019 के रिपोर्ट के अनुसार 2018 में औसतन 35 बेरोज़गार और 36 स्वरोज़गार करने वाले लोग हर रोज़ आत्महत्या की राह चुन रहे थे। कोरोना काल के दौरान फ़ासीवादी भाजपा सरकार और अन्य पूँजीवादी सरकारों ने जनता के ऊपर जो कहर बरपा किया है उसका नतीजा यह है कि इस में आत्महत्या की दर 30 फ़ीसदी बढ़ गयी है। **भारत में आत्महत्या की दर ग्लोबल एवरेज से 60 फ़ीसदी से भी ज्यादा है।** यह आत्महत्या नहीं बल्कि पूँजीवादी व्यवस्था और फ़ासीवादी सत्ता द्वारा की जाने वाली ठण्डी हत्याएँ हैं जिनका न कोई सुबूत है ना कोई सुराग। इसके लिए न कोई पुलिस प्रशासन के पास जा सकता है, न ही हाइकोर्ट-सुप्रीम कोर्ट में न्याय की गुहार लगा सकता हैं क्योंकि ये सारी संस्थाएँ इस मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था की सेवा में लगी हुई हैं। देश के छात्रों-नौजवानों के पास अब केवल दो ही विकल्प है या तो व्यवस्था द्वारा प्रायोजित इस क़त्लेआम को देखते रहें और अपने अन्य साथियों के मौत से अपनी निगाहें फेर कर तोतारटन्त में लग जायें और आने वाली हज़ारों मौतों में व्यवस्था के सहभागी बन जाएँ या फिर इस भयानक मंज़र के खिलाफ मुठ्ठी तानकर खड़े हों और अपने जैसे लाखों-करोड़ों साथियों को अपने साथ जोड़ें। 'सबको एक समान और निःशुल्क शिक्षा और सबको रोज़गार' के नारे पर शहरों से लेकर गाँव तक में एक जनान्दोलन खड़ा किये बगैर इस पूरी स्थिति से नहीं निपटा जा सकता है। समय है कि करोड़ों शोषित-दमित मज़दूरों, खेत मज़दूरों, छोटे किसानों के साथ लामबन्द होकर और अपनी फ़ौलादी एकता के दम पर मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्ता को इतिहास के कूड़ेदान में फ़ेक दिया जाय और समता और न्याय पर आधारित समाजवादी व्यवस्था का निर्माण किया जाय। •

सामयिकी

कोरोना की दूसरी लहर और रोज़गार का संकट

अंजलि

कोरोना महामारी की पहली लहर और सत्तासीन फ़ासीवादी सरकार की छात्र-युवा विरोधी नीतियों ने छात्रों-युवाओं के भविष्य पर जो भयानक कुठाराघात किया था, उससे देश की युवा आबादी अभी उबर भी नहीं पायी थी कि कोरोना की दूसरी लहर और फासिस्ट मोदी-योगी सरकार के चौतरफा हमले ने उनकी कमर तोड़ कर रख दी है। पहली लहर के दौरान बेशर्मी से प्रधानमंत्री ने 'आपदा को अवसर' में बदलने का नारा दिया था। वर्ग विभाजित समाज में हर आपदा शोषित वर्ग पर कहर ढाती है और शोषकों के लिए यह अवसर होता है कि मेहनतकश वर्ग के खून और पसीने को भी सिक्के में ढाल दें और उन्हें उनकी हालत पर सड़कों पर धकेल दें। इस बार भी हुआ यही! फ़ासिस्ट मोदी के इस नारे के बाद एक-एक करके सरकारी नौकरियों में कटौती, बचे-खुचे सरकारी विभागों को औने-पौने दामों में पूँजीपतियों को बेचने, प्राइवेट सेक्टर में छँटनी-तालाबन्दी की खुली छूट देने, श्रम कानूनों,जो पहले भी कही लागू नही होते थे, को क़ानूनी तौर पर भी प्रभावहीन करने आदि का सिलसिला शुरू हुआ। नतीजा यह है कि जो नौजवान नौकरियों में थे भी वो भी अपनी नौकरी गँवा बैठे हैं। पहली लहर के दौरान लगभग 12 करोड़ नौजवानों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। जिनकी नौकरी बची भी रही, उन्हें कम वेतन पर काम करने के लिए मजबूर किया गया। यह सिलसिला अभी तक चल ही रहा था कि कोरोना महामारी की दूसरी लहर छात्रों-युवाओं के भविष्य पर कहर बनकर टूट पड़ी। दूसरी लहर के दौरान जब आम आबादी ऑक्सीजन, हॉस्पिटल बेड, जीवन रक्षक दवाओं के लिए दर-दर भटक रही थी तब फ़ासिस्टों के द्वारा एक बार फिर बिना किसी तैयारी के देश पर लॉकडाउन थोप दिया गया। पिछली बार की तरह इस बार भी इसका खामियाजा आम जनता ही चुका रही है। एक बार फिर छँटनी-तालाबन्दी करोड़ों नौजवानों-मेहनतकशों की नौकरियाँ निगल चुकी है।

फ़ासिस्टों की पूरी जमात चाहे, संघ परिवार हो या भाजपा की अपने आयोजनों के लिए कोरोना महामारी से बचाव के सारे बन्दोबस्त कर ले रही है लेकिन यही फ़ासीवादी सरकार संसाधनों की कमी का रोना रोकर विश्वविद्यालय, कॉलेज कैम्पसों, कोचिंग संस्थानों और हर उस जगह पर ताला लटका रही है जो पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा छात्रों-नौजवानों के भविष्य के लिए बुनियादी बना दी गयी है। पढ़ाई के नाम पर तमाम विश्वविद्यालयों द्वारा ऑनलाइन कक्षाएँ थोपी जा रही हैं। जो दूर-दराज के गाँवों में बसने वाले छात्रों और शहरी गरीब छात्र जो महँगे गैजेट नही खरीद सकते हैं, को शिक्षा के बुनियादी अधिकार से दूर करती जा रही है और इन छात्रों-नौजवानों को अवसाद के गहरी खाई में धकेल रही है।

कोरोना संकट में फ़ासिस्ट सरकार के कुप्रबन्धन से छिनता युवाओं का रोज़गार

कोरोना महामारी की दूसरी लहर में भी मोदी सरकार के घटिया प्रबन्धन की वजह से करोड़ों लोग अपनी नौकरियों से हाथ धो बैठे है। आँकड़ो के हिसाब से चले तो सीएमआईई के हालिया रिपोर्ट के मुताबिक मई में बेरोजगारी दर मार्च के 6.63 फ़ीसदी से बढ़कर 14.45 फ़ीसदी हो गई है। हालत का अन्दाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि सीएमआईई ने उन लोगों को बेरोज़गार के रूप में वर्गीकृत किया है जिन्होंने नौकरी की तलाश की, लेकिन एक सप्ताह में एक घण्टे से कम काम प्राप्त किया। साफ़ है कि अब लोगों के पास सप्ताह में एक दिन तो छोड़िए, एक घण्टे का भी काम नही है। आगे आँकड़ें बताते हैं कि केवल मई, 2021 में 1.5 करोड़ लोगों को अपनी नौकरी से हाथ धोना पड़ा। अप्रैल और मई में 2.27 करोड़ लोगों की नौकरियाँ

सीएमएआई के आँकड़ों के अनुसार पिछले एक वर्ष में बेरोज़गारी दर

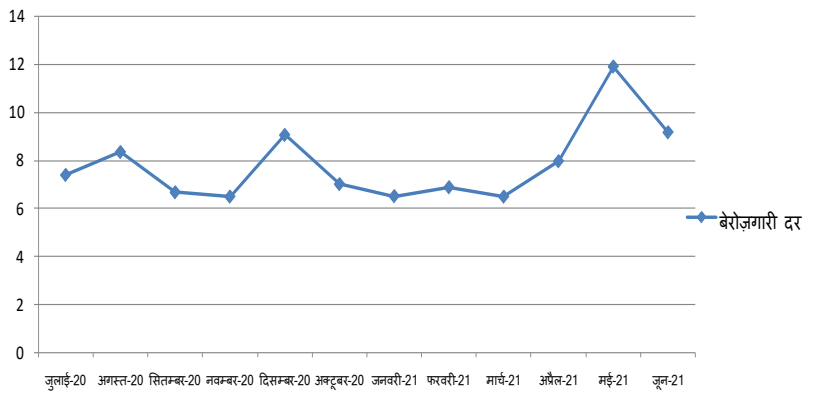

छिन गयी हैं। वहीं साल की शुरुआत से मई तक की बात करें तो लगभग 2.53 करोड़ नौकरियाँ जा चुकी हैं। पूँजीवाद के पैरोकार अर्थशास्त्री चीख़-पुकार मचा रहे हैं कि नौकरियों के जाने और बेरोज़गारी बढ़ने की असली वजह कोरोना महामारी के कारण लगाया गया अनियोजित लॉकडाउन है। लेकिन ये पैरोकार अपनी धूर्ततापूर्ण बातों से यह छिपाने की पूरी कोशिश कर रहे हैं कि बेरोज़गारी पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का एक आम नियम है। इन धूर्त अर्थशास्त्रियों की लाख कोशिश के बावजूद आँकड़े व्यवस्था की पोल-पट्टी खोल ही देते हैं। आँकड़ों पर ग़ौर करें तो आप पाएंगे कि कोविड-19 की पहली और दूसरी लहर के मध्य के अपेक्षाकृत स्थिर समय जनवरी-अप्रैल के बीच लगभग 26 लाख लोगों को अपनी नौकरी गँवानी पड़ी है। इस दरम्यान देश में न तो लॉकडाउन लगा था और न ही कोविड-19 का प्रकोप ऐसा था कि स्थिति नियन्त्रण से बाहर हो गयी हो। ऐसे में नौकरियाँ क्यों जाती रहीं, इस बात को ये अर्थशास्त्री गोल कर जाते है। यह तो उन लोगों की माली स्थिति है जो रोज़गारशुदा थे और जिनको फ़ासीवादी सरकार ने कोरोना महामारी की आड़ में सड़कों पर धकेल दिया है। उन छात्रों-युवाओं की स्थिति और भी भयंकर हो गयी है जो पहले से बेरोज़गार थे, शैक्षिक शहरों में तैयारी कर रहे थे , सरकारी नौकरियों के लिए आवेदन निकलने की राह देख रहे थे, परीक्षाएँ दे रहे थे।

कोरोना संकट, फ़ासीवादी सत्ता और घटते रोज़गार के अवसर

कोरोना महामारी, मुनाफ़ा केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था और आदमखोर फ़ासीवादी सरकार मिलकर जहाँ एक ओर लोगों को ऑक्सीजन, बेड, जीवन रक्षक दवाइयों आदि बेहद बुनियादी ज़रूरतों से महरूम कर मौत की खाई में धकेल रही हैं, वहीं दूसरी ओर सरकारी नौकरियों के लिए होने वाली प्रतियोगी परीक्षाओं को रद्द और अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर छात्रों-नौजवानों के भविष्य से गन्दा मज़ाक कर रही है। पिछले लम्बे समय से स्कूल-कॉलेज की पढ़ाई बाधित होने और अब एक-एक कर सभी परीक्षाओं को रद्द करने का जो सिलसिला शुरू हुआ है यह छात्रों-युवाओं के भविष्य को चौपट कर रही है। उत्तर प्रदेश, हरियाणा समेत तमाम भाजपा शासित राज्यों समेत अन्य पूँजीवादी क्षेत्रीय और केन्द्रीय दलों की सरकारों ने भीड़ इकट्ठा होने की आशंका जताते हुए सरकारी परीक्षाओं को रद्द करती जा रही है। निर्लज्जता की हद यह है कि यही पार्टियाँ अभी कुछ दिनों पहले ही पाँच राज्यों के विधानसभा चुनाव और उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत चुनाव में लाखों की भीड़ जुटाकर रैलियाँ, सभाएँ करने में मशगूल थीं जिसके बाद कोरोना के मामलों में 2000 फ़ीसदी से ज़्यादा का उछाल आ गया और अब तक लाखों देशवासियों के मौत का कारण बन चुका है। स्टाफ सेलेक्शन कमीशन (एसएससी) आयोग ने कम्बाइण्ड हायर सेकेण्डारी परीक्षा (सीएसएचएल), कम्बाइण्ड ग्रेजुएट लेवल परीक्षा (सीजीएल) और कांस्टेबल (जीडी), भारतीय सेना की कॉमन एण्ट्रेस परीक्षा (राजस्थान क्षेत्र), बिहार लोक सेवा आयोग (बीपीएससी) ने 66वीं संयुक्त मुख्य परीक्षा, हरियाणा विधानसभा के लिये अलग-अलग समूहों की भर्ती को अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया है। उत्तर प्रदेश के फ़ासीवादी योगी सरकार छात्रों-नौजवानों के खिलाफ अपने कुख्यात दमन के मामले में अलग ही रिकॉर्ड बना रही है। इसकी बानगी समय-समय पर देखने के लिए मिलता रहता है। चाहे संविदा भर्ती के खिलाफ़ छात्रों का आन्दोलन हो या पर्चा लीक होने के खिलाफ़ हर बार पुलिसिया दमन योगी सरकार के छात्र-नौजवान विरोधी रवैये को बेनकाब कर दी है। अब कोविड संकट के समय एक बार फिर उत्तर प्रदेश सरकार का यह चेहरा छात्रों-नौजवानों के सामने उभर कर सामने आ गया है। उत्तर प्रदेश शिक्षक पात्रता परीक्षा-2021, उत्तर प्रदेश असिस्टेण्ट प्रोफेसर भर्ती-2021, यूपीपीसीएस-2021, प्रवक्ता राजकीय इण्टर कॉलेज परीक्षा-2020, क्षेत्रीय वन अधिकारी परीक्षा-2021, समेत दर्जनों अन्य महत्वपूर्ण परीक्षाओं को कोविड के नाम पर या तो रद्द कर या अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर छात्रों-नौजवानों के भविष्य को गर्त में धकेलने का काम योगी सरकार कर रही है। देश भर में लाखों छात्र-नौजवान ऐसे थे जिनके पास यही आख़िरी विकल्प था लेकिन भर्ती स्थगित होने या रद्द कर सरकारों ने उनकी आख़िरी उम्मीद भी छीन ली है। निकट भविष्य में नौकरियों के जो मौके बन सकते थे उसपर भी फ़ासीवादी पाटा चल चुका है। फ़ासीवादी भाजपा सरकार निजीकरण की नीतियों को बुलेट ट्रेन की रफ़्तार से लागू कर रही है। सत्र 2021-22 के लिए मोदी सरकार की ओर से सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों और वितीय संस्थानों के हिस्सेदारी की बिक्री से 1.75 लाख करोड़ जुटाने का लक्ष्य रखा गया हैं जिसमें से एक लाख करोड़ सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों और वितीय संस्थानों में सरकार की हिस्सेदारी बेच कर जुटाई जाएगी। इसका सिलसिला बैकों के विलय, बैंकों के निजीकरण के रूप में सामने आने भी लगा है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस वितीय वर्ष में बीएसएनएल, आईडीबीआई बैंक, शिपिंग कॉर्पोरेशन, नीलांचल इस्पात निगम लिमिटेड, कन्टेनर कॉर्पोरेशन ऑफ इंडिया सहित अन्य कम्पनियों के विनिवेश किया जाएगा। इससे साफ है कि आने वाले दिनों में रोज़गार का यह संकट और गहराने वाला है। सरकारी और स्थायी नौकरियाँ कम होने वाली हैं और इसके जगह पर ठेका, संविदा और पीस रेट लेने वाला है। मतलब साफ है कि अब काम की कोई गारण्टी नहीं होगी, न ही किसी प्रकार की सामाजिक सुरक्षा। यह पूरी स्थिति छात्रों-नौजवानों को अवसाद के गहरे अंधेरे में धकेल रही है। कोई विकल्प न सुझने पर छात्र युवा आत्महत्या तक के कदम उठा रहे हैं।

बढ़ती आत्महत्या, ज़िम्मेदार कौन

कोरोना महामारी और फ़ासीवादी सत्ता का सामूहिक कुचक्र छात्रों-युवाओं की ज़िन्दगी लीलती जा रही है।

(शेष पेज 25 पर)

सामयिकी

कोरोना काल में बदस्तूर जारी रहा काले कानूनों की आड़ में दमन और गिरफ़्तारियों का सिलसिला

सार्थक

सात साल से सत्ता में रहते हुए फ़ासीवादी मोदी सरकार ने पूँजीपतियों की चाटुकारिता के अलावा जो काम सबसे चौकसी से किया है, वह है अपने ख़िलाफ़ उठी हर आवाज़ का क्रूर दमन। इस सरकार ने तमाम क़ानूनी और गैरक़ानूनी हथकण्डों का इस्तेमाल कर प्रतिरोध को कुचला है और आवाज़ उठाने वालों को मुस्तैदी से गिरफ़्तार किया है, उन्हें राजनीतिक अधिकारों से वंचित कर उन्हें प्रताड़ित किया है। कोरोना से देश में होने वाली तबाही और मौतों को रोकने के लिए एक काम नहीं किया, हाँ लेकिन राजनीतिक गिरफ़्तारियों में सरकार काफ़ी मुस्तैदी से सक्रिय रही है। कोरोना से लाखों लोग मारे गये, हज़ारों परिवार तबाह हो गये, सैकड़ों बच्चे अनाथ हो गये लेकिन इस महामारी को आपदा में बदलने के पूरे इन्तज़ाम सरकार ने किये हुए थे। जनता त्राहि-त्राहि करती रही लेकिन सरकार ने न अस्पताल, न सिलेण्डर और न ही जीवनरक्षक दवाओं का कोई इन्तज़ाम किया। लेकिन आँकड़ों को छिपाने, तथ्यों को दबाने और सच बताने वालों को गिरफ़्तार करने में सारा सरकारी तन्त्र लगा दिया।

पिछले साल पहली लहर के दौरान जब कोरोना संक्रमण बढ़ रहा था तो बिना किसी तैयारी और योजना के लॉकडाउन की घोषणा कर दी गयी। मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी पर कोरोना और लॉकडाउन का क़हर बरपा। करोड़ों प्रवासी मज़दूर पैदल अपने घर लौटने को मजबूर थे, जिनमें से सैकड़ों धूप, भूख और थकान से रास्ते में ही मारे गये। उस समय भी मोदी-शाह आपदा को अवसर में बदलते हुए छात्रों, मानवाधिकार और राजनीतिक कार्यकर्ताओं को झूठे आरोपों में गिरफ़्तार करवा रहे थे। एक और बात ध्यान देने योग्य है कि अमित शाह जनता के जनवादी अधिकारों को कुचलने, राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गिरफ़्तारियाँ करने और चुनाव रैलियों में हिस्सा लेने के लिये ही बाहर आता है। दिल्ली दंगों के तुरन्त बाद ही केन्द्रीय गृह मंत्रालय के अधीन दिल्ली पुलिस ने गिरफ़्तारियों का सिलसिला शुरू कर दिया। 26 फरवरी को ख़ालिद शैफ़ी और इशरत जहाँ, अप्रैल के महीने में शफ़ूरा ज़रगर, मीरान हैदर, गुलफ़िशा, शिफ़ा-उर-रहमान, शादाब अहमद, मई के महीने में आसिफ़ इक़बाल तन्हा, देवांगना कालिता, नताशा नरवाल, जून में तस्लीम अहमद, सितम्बर में उमर ख़ालिद और कई लोगों को यूएपीए (गैर-कानूनी गतिविधियाँ (रोकथाम) अधिनियम) के तहत दंगे भड़काने के मामले में गिरफ़्तार कर लिया गया। जनवरी में ही शरजील इमाम को भी भड़काऊ भाषण देने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया था। दंगे भड़काने के झूठे आरोप में गिरफ़्तार कर लिए गये ये सारे छात्र और युवा, राजनीतिक-सामाजिक कार्यकर्ता सीएए-एनआरसी के खिलाफ़ दिल्ली में चले जनआन्दोलन में सक्रिय थे। जनता के जनवादी संघर्ष में जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिला कर फ़ासीवादियों का डट कर मुकाबला करने की सज़ा उन्हें इन फर्जी गिरफ़्तारियों के रूप में चुकानी पड़ी। इनके अलावा दिल्ली दंगों के ठीक बाद ही उत्तर पूर्वी दिल्ली के निम्न मध्यम वर्ग और मेहनतकश आबादी वाले मुस्लिम बहुल इलाकों से कई नौजवानों को दिल्ली पुलिस ने ज़बरदस्ती हिरासत में लेना शुरू किया। इन नौजवानों में से कई आज तक सलाख़ों के पीछे हैं। ये नौजवान गुमनाम ही रह जाते हैं। मुश्किल ही कहीं मीडिया या सोशल मीडिया में इनकी चर्चा होती है। वहीं दिल्ली दंगों को असल में भड़काने में जिनका हाथ है जैसे कपिल मिश्रा, रागिनी तिवारी, अनुराग ठाकुर खुले घूम रहे हैं। इनके खिलाफ़ सबूत पूरे सोशल मीडिया पर घूमते रहे लेकिन इनके खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं हुई। इन गुण्डों को गिरफ़्तार करना तो दूर दिल्ली पुलिस ने अभी तक कारण बताओ नोटिस तक जारी नहीं किया है।

जब दिल्ली पुलिस अमित शाह के इशारों पर छात्रों और नौजवानों को आतंकवादी घोषित कर फर्जी गिरफ़्तारियाँ कर रही थी, उस समय राष्ट्रीय अन्वेषण अभिकरण (national investigation agency) भी केन्द्रीय गृह मन्त्रालय की जी-हज़ूरी करते हुए भीमा कोरेगाँव में हिंसा भड़काने के झूठे आरोप में बुद्धिजीवियों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं को नक्सलवादी बता कर गिरफ़्तार कर रही थी। पिछले साल के अप्रैल में प्रसिद्ध मानवाधिकार कार्यकर्ता गौतम नवलखा और जाने-माने बुद्धिजीवी प्रोफेसर आनन्द तेलतुम्बडे को गिरफ़्तार किया गाया। उसके बाद जुलाई में दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैनी बाबू, अगस्त में कबीर कला मंच के रमेश गैचोर, सागर गोखले और ज्योति जगताप और आख़िरकार अक्टूबर में स्टैन स्वामी को यूएपीए की धाराएँ लगा कर गिरफ़्तार कर लिया गया। इससे

पहले 2018 में ही महाराष्ट्र पुलिस ने अन्य नौ बुद्धिजीवियों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं और मानवाधिकार कार्यकर्ताओं को इसी मामले में गिरफ़्तार किया। ये गिरफ्तारियाँ भी यूएपीए के तहत नक्सलवादी होने के झूठे आरोप में हुईं थी। दिल्ली दंगों के असली अपराधियों की तरह ही भीमा कोरेगाँव के मुख्य अपराधी मिलिन्द एकबोटे और शम्भाजी भिड़े भी सारे कानूनों जेब में रख खुले आम घूम रहे हैं।

जेलों में करोना के तेज़ी से फैलने की सम्भावना को ध्यान में रखते हुए पिछले साल से ही देश भर के तमाम न्यायपसन्द नागरिक और संगठन इन राजनीतिक कैदियों की तुरन्त रिहाई की माँग कर रहे थे। लेकिन सरकार ने किसी की एक न सुनी। लॉकडाउन के दौरान इन गिरफ्तारियों के विरोध में प्रतिरोध-प्रदर्शन सम्भव नहीं थे इसलिए आपदा को अवसर में बदलते हुए सरकार ने राजनीतिक कार्यकर्ताओं और छात्रों की गिरफ्तारियाँ तेज़ कर दीं।

भारत की जेलों में न कोई सफाई होती है और न ही कोई पौष्टिक भोजन मिलता है। छोटी-छोटी कोठरियों में एक साथ दर्ज़नों क़ैदी ठूँस दिये जाते हैं। ऐसे में जिसका भय था वही हुआ। एक के बाद एक कई राजनीतिक क़ैदी करोना संक्रमित हो गये। स्टेन स्वामी, हैनी बाबू, महेश राउत, सागर गोरखे, रमेश गायचोर, ज्योति जगताप, शरजील इमाम, उमर खालिद और हाथरस बलात्कार घटना की रिपोर्टिंग करने जाते वक्त देशद्रोह के आरोप में गिरफ़्तार कर लिए गये सिद्दीक कप्पन सभी को रोना से संक्रमित हो गये। बेहतर चिकित्सा पाने के लिए जब इन पीड़ितों ने ज़मानत की याचिका डाली तो सभी अदालतों ने इन्हें ठुकरा दिया और जेल के अन्दर ही एक अलग कमरे में इलाज़ करने का आदेश दिया। करोना और ब्लैक फ़ंगस से संक्रमित होने के बाद हैनी बाबू के आँखों में काफ़ी सूजन आ गई। एक हफ्ते तक मिन्नतें करने के बाद अदालत ने उन्हें अस्पताल भेजने की आज्ञा दी। इस दौरान उनकी सूजन इतनी बढ़ गयी की उनकी एक आँख की रोशनी लगभग चली गई। जेल में कोई दवाई तो दूर, उन्हें साफ़ पानी या तौलिया भी नहीं नसीब हुआ। सबसे दयनीय अवस्था 84 साल के स्टैन स्वामी की है जो लम्बे समय से पर्किंसन बीमारी से पीड़ित हैं जिसकी वजह से वह अब चलने फिरने, खाने और नहाने जैसे रोज़मर्रा के काम भी खुद नहीं कर सकते। जेल में अपने साथियों के सहारे ही वह अपने रोज़मर्रा के काम करते हैं। कोरोना से संक्रमित हो कर अलग रहते हुए उनकी क्या हालत हो रही होगी यह सोचना भी असह्य है। यहाँ तक कि स्टैन स्वामी को तरल पदार्थ पीने के लिए एक नली और गौतम नवलखा को महज़ एक चश्में के लिए भी हफ़्तों तक अदालत में याचिकाएँ देने के बाद इस अमानवीय न्याय व्यवस्था को उन पर थोड़ी रहम आयी। अगर जेलों में देश के जाने-माने बुद्धिजीवियों और मानव अधिकार कार्यकर्ताओं के साथ ऐसा बर्ताव होता है तो आप समझ सकते हैं की फर्जी मुक़दमों में जेलों में वर्षों से पड़े लाखों ग़रीब, मज़दूर मेहनतकश क़ैदियों के साथ कैसा बर्ताव होता होगा?

अँग्रेजों के काल के राष्ट्रद्रोह के क़ानूनों की फिर से वापसी और यूएपीए तथा एनएसए जैसे काले कानून बस इसी मकसद से बनाये गये हैं कि राजनीतिक कार्यकर्ताओं और जनता के हक़ की आवाज़ बुलंद करने वाले इंसाफ़पसन्द नागरिकों को सलाख़ों के पीछे धकेला जा सके। इन काले क़ानूनों में, ख़ास तौर पर यूएपीए में ज़मानत मिलना बहुत ही कठिन है, चाहे पुलिस के पास आरोपियों के खिलाफ़ कोई ठोस प्रमाण हो या न हो। केन्द्रीय गृह मन्त्रालय के अपने तथ्यों के हिसाब से यूएपीए के अन्तर्गत दर्ज़ हुए मामलों में से महज़ 2.2 प्रतिशत मामलों में ही अपराध सिद्ध होते हैं। दिल्ली दंगों में जितनी भी गिरफ़्तारियाँ हुई हैं, उन सभी को यूएपीए वाले मामले के अलावा बाकी सभी मामलों में ज़मानत मिल गयी हैं। पाँच महीने की गर्भवती शफ़ूरा ज़रगर को बार बार अदालत में याचिकाएँ देने के बाद ही "मानवीय आधार" पर बेल दी गयी। इसके अलावा हाल ही में जेएनयू की नताशा नरवाल और देवांगना कालिता और जामिया मिलिया इस्लामिया के आसिफ़ इक़बाल तन्हा को दिल्ली हाई कोर्ट ने ज़मानत दी है। भारी जनदबाव और करोना के कारण सरकार के खिलाफ़ पैदा हुए जन-असन्तोष के कारण राज्य सत्ता को यहाँ एक कदम पीछे हटना पड़ा है। साथ ही सुप्रीम कोर्ट ने तुरन्त ही यह आदेश भी जारी कर दिया कि दिल्ली हाई कोर्ट का यह आदेश दूसरे राजनीतिक कैदियों के रिहाई के लिए एक मिसाल नहीं बनेगा। सन्देश यहाँ साफ़ है : सरकार के खिलाफ़ जो भी आवाज़ उठायेगा उसको इतनी आसानी से रिहा होने का मौका नहीं दिया जायेगा। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि पिछले महीने जब नताशा अपने करोना संक्रमित पिता को देखने के लिए अन्तरिम जमानत की याचिकाएँ जमा कर रही थी तब यही दिल्ली हाई कोर्ट ने उन याचिकाओं पर सुनवाई करने में बेवजह देर की। जब नताशा को अन्तरिम जमानत मिली तब तक बहुत देर हो चुकी थी, उसके पिता का एक दिन पहले ही निधन हो गया था। नताशा अपने बीमार पिता से आखिरी बार मिल भी नहीं सकी। नताशा के लिए व्यक्तिगत जीवन की इतनी बड़ी क्षति की क्या यह मानवद्रोही न्याय व्यवस्था भरपायी कर सकती है ?

फ़ासीवादी भाजपा केंद्र सरकार के अलावा राज्य सरकारें भी राजनीतिक कार्यकर्ताओं और पत्रकारों की गिरफ्तारियों में पीछे नहीं थीं। दो महीने पहले जब उत्तर प्रदेश में करोना का कहर अपने चरम पर था हर एक दिन हजारों लाशें जलायी और दफ़नायी जा रही थीं तब योगी सरकार ने स्वास्थ्य व्यवस्था को दुरुस्त करने और ऑक्सीजन और वेण्टिलेटर उपलब्ध कराने की जगह यह आदेश जारी किया की जो भी व्यक्ति या अस्पताल

ऑक्सीजन की कमी के बारे में शिकायत करेगा उस पर एनएसए लगा दिया जायेगा, उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली जायेगी और उनकी गिरफ़्तारी भी हो सकती है। महामारी के दौरान सरकार की भयंकर अविस्मरणीय लापरवाहियों के बारे में बात करने वाले पत्रकारों, कलाकारों, कवियों, बुद्धिजीवियों और कार्टूनिस्टों के सोशल मीडिया अकाउण्ट बन्द कर दिए गये और उनपर कई मुकदमे दर्ज़ कर दिये गये। पिछले महीने मणिपुर के दो जनपक्षधर पत्रकार किशोरचन्द्र वांगखेम और इरेन्द्र लेचोनबम को गोबर और गोमूत्र को कोरोना का इलाज़ बताए जाने पर फेसबुक पर व्यंग्य करने के आरोप में एनएसए के अन्तर्गत गिरफ़्तार कर लिया गया। हाल ही में लक्षद्वीप में फ़ासीवादी एजेण्डे को लागू करके अपने पूँजीपति मालिकों के लिए जमीन अधिग्रहण में जुटी हुई केन्द्रीय सरकार की आलोचना करने के मामले में लक्षद्वीप की फिल्म निर्माता आएशा सुल्ताना पर देशद्रोह का मामला लगा दिया गया है। इसके अलावा तीस साल से अफस्पा जैसे काले कानून की वजह से एक विशाल क़ैदखाना बने हुए कश्मीर में भी कोरोना काल के दौरान पत्रकारों, मानव अधिकार कार्यकर्ताओं और यहाँ तक कि विरोध प्रदर्शनों में भाग लेने वाले स्कूल के छोटे बच्चों पर भी यूएपीए जैसे काले कानून लगाये गये। अप्रैल के महीने में तेलंगाना की तेलंगाना राष्ट्रीय समिति सरकार ने छात्रों, बुद्धिजीविओं, कलाकारों और मज़दूरों के बीच काम कर रहे सोलह जन संगठनों पर नक्सलवादियों से सम्बन्धित होने के आरोप में एक साल के लिये प्रतिबन्ध लगा दिया। सरकार का कहना है कि ये संगठन भीमा कोरेगाँव में हुए गिरफ़्तार कार्यकर्ताओं की रिहाई, यूएपीए जैसे कानूनों को समाप्त करने और सीएए-एनआरसी को रद्द करने जैसे मुद्दों को लेकर आम जनता को संगठित कर रहे थे। यह बात साफ़ है कि इन जनवादी अधिकारों के मुद्दों पर आवाज़ बुलन्द करने वाले किसी भी व्यक्ति या संगठन की गिरफ्तारी सिर्फ भाजपा कर रही है ऐसा नहीं है। यूएपीए क़ानून बनाने वाली सरकार कांग्रेस की थी और आज भाजपा और गैर-भाजपा सरकारें समान रूप से इन क़ानूनों के तहत छात्रों, राजनीतिक कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को गिरफ़्तार कर रही है।

आज ज़रूरत है कि सभी इंसाफ़पसंद छात्र और नौजवान, आम मेहनतकश जनता के साथ मिलकर इन जनपक्षधर राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई और सारे काले कानून ख़त्म करने की मांग करें और इनके खिलाफ़ भारी संख्या में सड़कों पर उतरें। राजनीतिक क़ैदियों की रिहाई की इस लड़ाई को आम फ़ासीवाद विरोधी संघर्ष और पूँजीवादी व्यवस्था के उन्मूलन के संघर्ष के साथ जोड़ते हुये करोड़ों मज़दूरों-मेहनतकशों को संगठित करने की ज़रूरत है। साथ ही हमारे इस संघर्ष में अगर हम यह उम्मीद करते हैं कि इस पूँजीवादी व्यवस्था की सेवा करने वाली कोई भी पूँजीवादी या संशोधनवादी पार्टी हमारी मदद करेंगी तो यह हमारी एक ग़लतफ़हमी होगी जो पूरे संघर्ष के लिये घातक सिद्ध होगी। ये सभी काले क़ानून तमाम पूँजीवादी पार्टियों की आम सहमति से बनते हैं और सत्ता में आने के बाद सभी पार्टियाँ इन क़ानूनों का जमकर इस्तेमाल करती हैं। इसका सबसे स्पष्ट उदाहरण है 2019 में यूएपीए क़ानून में संशोधन। इस संशोधन में यह जोड़ दिया गया कि इस क़ानून के तहत अब किसी की भी गिरफ्तारी हो सकती है चाहे वह किसी प्रतिबन्धित समूह से सम्बन्धित है या नहीं। कुछ एक दो ज़ुबानी जमाख़र्च के अलावा किसी ने इस संशोधन का प्रतिरोध नहीं किया। सबसे कमाल की बात तो यह है कि अपने आप को फ़ासीवाद विरोधी संघर्ष का हिरावल बताने वाली संशोधनवादी माकपा और भाकपा ने भी दो साल पहले केरल के दो छात्रों पर नक्सलवादी होने के आरोप में यूएपीए लगा दिया था। 2018 में शिव सेना-भाजपा की गठबन्धन सरकार ने ही भीमा कोरेगाँव मामले के तहत फर्ज़ी गिरफ़्तारियों का सिलसिला शुरू किया था और अब जब महाराष्ट्र में शिव सेना-कांग्रेस-राष्ट्रवादी कांग्रेस की गठबन्धन सरकार है तब भी भीमा कोरेगाँव के राजनीतिक बन्दियों को जेल प्रशासन और अदालत के हाथों उतनी ही प्रताड़ना सहनी पड़ती है जैसी पहले। सोशल मीडिया पर शिव सेना-कांग्रेस-राष्ट्रवादी कांग्रेस की गठबन्धन सरकार बनने पर उछलने वाले लिब्बुओं को कुछ नज़र नहीं आता। सभी चुनाव को फुटबॉल मैच की तरह देखते हैं और भाजपा के हारने पर ऐसे खुश और लोट-पोट होते हैं मानों क्रान्ति ही हो गयी हो। यही हाल पश्चिम बंगाल चुनावों के दौरान भी हुआ। सभी भूल गए कि फ़ासीवाद को धूल चटाने के मिशन की नयी वीरांगना और लिबरल जमात की नयी आशा ममता बनर्जी ने भी 2017-2018 में भांगर जनआन्दोलन को कुचलने के लिए दर्जनों कार्यकर्ताओं और साधारण ग्रामवासियों को यूएपीए के अन्तर्गत गिरफ़्तार कर लिया था। सभी पूँजीवादी और संशोधनवादी पार्टियाँ एक सरीख़े हैं। जनता की हर न्याय-संगत लड़ाई में हम इन पूँजीवादी और संशोधनवादी पार्टियों को जनता के खिलाफ़ ही खड़े पायेंगे। आज हमें जनता की जुझारू सामूहिक शक्ति के बूते ही सारे राजनीतिक कैदियों की रिहाई और सारे काले क़ानून ख़त्म करने के संघर्ष के लिए कमर कसनी होगी।

हमें जिस "देश के सुरक्षा" का झाँसा देकर यह पूँजीवादी राज्यसत्ता हम पर सारे काले क़ानून थोपती है उसी "देश की सुरक्षा" के बारे में पाश ने कहा है :

"यदि देश की सुरक्षा यही होती है
कि बिना ज़मीर होना ज़िन्दगी के लिए शर्त बन जाए
आँख की पुतली में हाँ के सिवाय कोई भी शब्द
अश्लील हो
और मन बदकार पलों के सामने दण्डवत झुका रहे
तो हमें देश की सुरक्षा से ख़तरा है।"

सामयिकी

लक्षद्वीप में भाजपा का फ़ासीवादी हस्तक्षेप

केशव आनन्द

भाजपा के सत्तासीन होने के बाद संघ ने राजनीतिक लाभ मिलने का जमकर फ़ायदा उठाया। तमाम भाजपा शासित प्रदेशों में भीड़ द्वारा हिंसा के मामले सामने आने लगे। सड़कों पर होने वाली साम्प्रदायिक हिंसाओं को सत्ता द्वारा खुली छूट दे दी गयी। यह हिंसा मुस्लिमों, दलितों के ख़िलाफ़ शुरू होने के बाद हर उस शख्स के ख़िलाफ़ शुरू हो गयी, जो मौजूदा सरकार से मतभेद रखता था। सरकार ने भी अलग-अलग राज्यों में अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को लागू करने के लिए तमाम हथकण्डे अपनाने शुरू कर दिए। चाहे वो कश्मीर में 370 हटाने की बात या असम में एनआरसी को लागू करने की बात हो, यह सरकार इन राज्यों में अपनी जड़ें जमाने के लिए हर सम्भव प्रयास कर रही है। इसी कड़ी में सरकार का अगला निशाना लक्षद्वीप है। बीते दिनों तमाम बुद्धिजीवी, पत्रकार और प्रगतिशील नागरिक सरकार द्वारा लक्षद्वीप पर लिए गए फ़ैसले का विरोध कर रहे हैं। लक्षद्वीप में विकास और बदलाव के नाम पर तानाशाही का नया फ़रमान गढ़ा जा रहा है। फ़ासीवादी एजेण्डे के तईं नये प्रशासक महोदय लोगों की पारम्परिक खान-पान में दख़ल देने से लेकर उनके घर-बार, रोज़गार, राजनीतिक, जनवादी अधिकार सबकुछ छीनने के मंसूबे में हैं। तरह-तरह के प्रस्ताव पेश किए जा रहे हैं, जिसमें विकास के लिए आम लोगों के जमीन को हथियाने की योजना से लेकर स्थानीय चुनाव में उनकी भागीदारी सीमित करना है। एक प्रस्ताव के मुताबिक़ दो से अधिक बच्चों के माता-पिता स्थानीय निकाय चुनाव में हिस्सेदारी नहीं कर सकते।

इससे पहले कि हम भाजपा सरकार द्वारा लायी जाने वाली इन जनविरोधी नीतियों पर बात करें, आइये लक्षद्वीप की कुछ भौगोलिक, सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियों के बारे में जान लें। लक्षद्वीप कई द्वीपों का समूह है, जो कि अरब सागर में स्थित है। यहाँ के द्वीप भारत के तटीय शहर कोच्चि से करीब 220-440 किमी की दूरी पर है। यह 36 अलग-अलग द्वीपों का समूह है। 2011 की जनगणना के मुताबिक़ यहाँ की कुल आबादी 64,473 है। केरल राज्य के निकट होने की वजह से यहाँ की अधिकतम आबादी मलयालम भाषा की ही बोली बोलती है। यहाँ पर मुस्लिम आबादी की बहुतायत है। 2011 की जनगणना के मुताबिक़ मुस्लिम आबादी कुल आबादी का 96.58% हिस्सा है। यहाँ की आबादी का बड़ा हिस्सा नारियल की खेती व मछलीपालन पर निर्भर है।

लक्षद्वीप एक केन्द्रशासित प्रदेश है। भाजपा के पूर्व नेता तथा आरएसएस के क़रीबी प्रफुल खोदा पटेल पिछले साल दिसम्बर में नये लक्षद्वीप प्रशासक बनाए गए थे। जिसके बाद वे लगातार वहाँ पर आरएसएस के अल्पसंख्यक विरोधी एजेण्डे के तहत काम कर रहे हैं; आम जनता तथा स्थानीय निर्वाचित प्रतिनिधियों से मशविरा किए बिना विधान बदल रहे हैं, कानूनों को संशोधित कर रहे हैं। ये तमाम परिवर्तन तथा संशोधन जनविरोधी चरित्र के हैं। लक्षद्वीप को फ़ासीवाद की नयी प्रयोगशाला बनाया जा रहा है। गुजरात में नरेन्द्र मोदी के मुख्यमन्त्रित्व काल में गृहमन्त्री तथा दादरा और नगर हवेली तथा दमन और दीव के पूर्व प्रशासक रह चुके प्रफुल खोदा पटेल के नेतृत्व में आरएसएस लक्षद्वीप की मुस्लिम बाहुल आबादी के घेटोआइजेशन का काम कर रही है। अमित शाह के जेल जाने के दौरान प्रफुल ही मुख्यमन्त्री नरेन्द्र मोदी के सिपहसालार थे। ग़ौरतलब है कि प्रफुल पटेल का विवादों के साथ चोली दामन का साथ रहा है। फ़िलहाल वे महाराष्ट्र के स्वतन्त्र सांसद मोहन डेलकर के आत्महत्या के सिलसिले में जाँच के अधीन हैं।

लक्षद्वीप में कोरोना के फ़ैलने के ज़िम्मेदार भी यहाँ के प्रशासक महोदय प्रफुल पटेल ही थे। देशभर में कोरोना के संक्रमण फैलने के बावजूद लक्षद्वीप इससे बचा हुआ था, क्योंकि यहाँ आने वाले हर यात्रियों की कोविड जाँच और एक हफ़्ते का क्वारेण्टाइन अनिवार्य था। लेकिन प्रफुल ने इस अनिवार्यता को खत्म कर यहाँ कोविड को खुला निमन्त्रण दे दिया। यहाँ पहला मामला 18 जनवरी 2021 को सामने आया था; और आज कुल आबादी का दस फ़ीसदी हिस्सा इसकी चपेट में आ चुका है। यह संघी प्रशासक की लापरवाही का नतीजा है। लक्षद्वीप में वर्तमान कोरोना परीक्षण सकारात्मकता दर 68 प्रतिशत है। जनविरोधी क़ानून सीएए-एनआरसी के विरोध के दौरान भी यहाँ प्रदर्शन कर रहे लोगों पर कार्यवाही की गयी थी।

जनवादी अधिकारों के ख़िलाफ़ आज ट्विटर तथा लक्षद्वीप में आम लोग प्रफुल के नेतृत्व पेश किए गए जनविरोधी प्रस्तावों, मसौदों का पुरजोर विरोध कर रहे हैं। लोगों के विरोध के केन्द्र में "गुण्डा अधिनियम", "तटरक्षक अधिनियम", "पशु संरक्षण अधिनियम" तथा "मसौदा लक्षद्वीप विकास प्राधिकरण विनियमन, 2021 (एलडीएआर 2021)" है। आइए हम एक-एक कर समझते हैं कि किस प्रकार भाजपा इन अधिनियमों के

ज़रिए अपने फ़ासीवादी एजेण्डे को लागू करने का काम कर रही है।

प्रफुल ने 35वें प्रशासक के तौर पर पदभार संभालते ही सबसे पहले गुण्डा अधिनियम को लागू करने के काम किया। इस क़ानून के तहत प्रशासक किसी को भी शक़ के बिना पर डिटेन कर सकता है और उस व्यक्ति को किसी भी तरह के क़ानूनी मदद से वंचित रखा जाएगा। इस डिटेंशन की अवधि 12 महीने या उससे अधिक भी हो सकती है। ग़ौरतलब है कि पूरे भारत में लक्षद्वीप आपराधिक मामलों में सबसे कम मामले वाले प्रदेशों की श्रेणी में आता है। 31 दिसम्बर 2019 की एक आधिकारिक जानकारी के मुताबिक लक्षद्वीप जेलों में केवल 4 लोग ही क़ैद हैं। आम लोगों का कहना है कि द्वीप पर यह क़ानून गैर जनवादी है, जहाँ अपराध न के बराबर होता है और कारागार आमतौर पर खाली रहते हैं। इसका प्रयोग लोगों के जनवादी दायरे को सीमित करने के लिए किया जाएगा। इसका असल मक़सद प्रशासन के ख़िलाफ़ उठने वाले आवाजों को दबाना है।

जिस तरीक़े से पूरे देशभर में सीएए-एनआरसी और मोदी सरकार की तमाम जनविरोधी नीतियों के विरोध में प्रदर्शन हुए, ऐसे में यह सरकार अलग-अलग हथकण्डों से जनता के प्रतिरोध की आवाज़ को दबाने की कोशिश कर रही है। यूएपीए से लेकर रासुका तक, ये सभी क़ानून जनता के जनवादी अधिकारों के हनन के लिए लाए गए हैं। इसी कड़ी में सरकार लक्षद्वीप में गुण्डा अधिनियम लाकर वहाँ अपने ख़िलाफ़ उठने वाले आवाज़ों को दबाने की तैयारी कर रही है।

मसौदा लक्षद्वीप विकास प्राधिकरण विनियमन, 2021 (एलडीएआर 2021) के प्रस्तावित कार्यान्वयन के ख़िलाफ़ भी आन्दोलन जारी है। लोग इस मसौदे के जनवाद विरोधी चरित्र की आलोचना कर रहे हैं और उसके ख़िलाफ़ विरोध प्रदर्शन कर रहे हैं। एलडीएआर 2021 के प्रावधानों के तहत सरकार, योजना और विकास प्राधिकरण या उसके किसी अधिकारी या उसके द्वारा नियुक्त या अधिकृत व्यक्तियों के ख़िलाफ़ कोई क़ानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है। इसके मुताबिक प्रशासन कभी भी किसी भी घर की तलाशी बिना वारण्ट जारी किए ले सकता है। इसमें कड़े प्रावधान हैं जो प्रशासक को किसी भी भूमि को विकास गतिविधियों के नाम पर चिह्नित करने का अधिकार देता है। और एक बार चिन्हित हो जाने के बाद उक्त भूमि का विकास और उपयोग पूरी तरह से सरकार की इच्छा और महत्वाकांक्षा के अनुरूप होगा।

एलडीएआर 2021 की धारा 92 और धारा 93 में द्वीपवासियों से क्षेत्र परिवर्तन तथा विकास के लिए शुल्क लगाने का प्रावधान है। यानी द्वीपवासियों को विकास योजना के अनुसार क्षेत्र परिवर्तन के लिए अनुमति प्राप्त करने के लिए भुगतान करना होगा साथ ही वे अपनी भूमि विकसित करने की अनुमति के लिए भी भुगतान करने के लिए उत्तरदायी होंगे। इस मसौदे के तहत सरकार "विकास" के नाम पर हाइवे, म्यूज़ियम, पार्क इत्यादि बनाने की बात कर रही है। यह हास्यास्पद इसलिए है क्योंकि लक्षद्वीप के सबसे बड़े द्वीप का क्षेत्रफल क़रीब 4.9 वर्ग किमी है, जिस पर जनसंख्या घनत्व 2312 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी है। ऐसे में व्यावहारिक तौर पर यह कितना सम्भव है, इसका फ़ैसला हम पाठकों पर छोड़ते हैं।

प्रशासक महोदय आम लोगों के खान पान में दख़ल देने का भी काम कर रहे हैं। जिसकी शुरुआत लक्षद्वीप में, जहाँ लोग आम तौर पर समुद्री भोजन पर निर्भर हैं, स्कूल के मेन्यू से मांसाहारी खाद्य पदार्थों को हटाकर की गई। लक्षद्वीप में परम्परागत तरीके से बीफ़ का उपभोग किया जाता है। यहीं नहीं भारत के केरल, गोवा समेत कई जगहों में ऐसा किया जाता है, और भाजपा इस मसले पर मौके मुताबिक़ अपनी राजनीति करती रही है। "पशु संरक्षण अधिनियम", द्वीपों पर गोमांस के लिए वध तथा प्रसंस्करण को रोकने के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। लेकिन साथ ही यहाँ पर शराब पर प्रतिबन्ध हटा दिया गया, जो मुख्य रूप से मुस्लिम बहुल द्वीपवासियों की सांस्कृतिक और धार्मिक भावनाओं के ख़िलाफ़ जाता है।

"तटरक्षक अधिनियम" के उल्लंघन का हवाला देते हुए प्रशासन ने आम मछुआरों के जाल और अन्य उपकरण रखने के शेड को ध्वस्त कर दिया है। आजीविका के लिए मुख्य रूप से मछली पकड़ने का व्यवसाय करने वाली अधिकांश द्वीपवासी आबादी के लिए यह अधिनियम किसी पीड़ा से कम नहीं है। सरकार के निशाने पर पूरा मछली व्यवसाय है। महामारी के कारण लोगों के रोज़गार की स्थिति ख़ासा खराब हो चुकी है। पर्यटन और कृषि जैसे सरकारी कार्यालयों में काम करने वाली आबादी का रोज़गार छिन गया है, 38 आँगनवाड़ी केन्द्रों को बन्द कर दिया गया है। प्रशासन लोगों की खराब होती दशा की तरफ़ आँख मूँद कर बैठा है।

लक्षद्वीप में भाजपा के फ़ासीवादी हस्तक्षेप को हम दो रूपों में समझ सकते हैं। पहला, पूँजी का फ़ैलाव! साम्राज्यवाद के इस युग में आज पूँजी का फ़ैलाव देश के सुदूर हिस्सों तक हो रहा है। पूँजीवाद में उत्पादन में अराजकता की वजह से आज बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ मध्य प्रदेश और छत्तीसगढ़ के जंगलों को काटकर प्रकृति का अन्धाधुँध दोहन कर रहीं हैं। इसी कड़ी में पूँजी का विस्तार लक्षद्वीप के द्वीपों तक जा पहुँचा है। यहाँ अब "विकास" के नाम पर सरकार पूँजी को खुला आमन्त्रण दे रही है। ताकि प्रकृति का दोहन कर पूँजीपति मुनाफ़े की हवस पूरी कर सके। मसौदा लक्षद्वीप विकास प्राधिकरण विनियमन, 2021 (एलडीआर, 2021) इसी बात को सुनिश्चित करता है।

दूसरा, मुस्लिम बहुल आबादी वाले इलाके में भाजपा का हस्तक्षेप! फ़ासीवाद की एक चारित्रिक आभिलाक्षणिकता यह

भी है कि वह जनता के सामने एक 'नकली शत्रु' पेश करता है, और जनता की तमाम समस्याओं का ठीकरा उसी आबादी पर फोड़ता है। फिर इस 'शत्रु' का दायरा बड़ा करता है, और इसमें हर वो लोग आते हैं, जो सत्तापक्ष के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ उठाते हैं। मोदी सरकार के सत्तासीन होने के बाद तमाम लोगों को सरकार के ख़िलाफ़ बोलने के जुर्म में गिरफ़्तार कर लिया गया। और उनपर देशद्रोह का मुकदमा तक लगाया गया। नताशा नरवाल, देवांगना कलिता, प्रोफ़ेसर हैनी बाबू, डॉक्टर कफ़ील खान, उमर ख़ालिद.... फ़ेहरिस्त लम्बी है। ज़ाहिर है, इनका गुनाह बस इतना था कि इन्होंने मौजूदा सरकार से सवाल किए। अभी हाल में लक्षद्वीप की ही बात करें तो यहाँ कोरोना फ़ैलने के लिए प्रफुल पटेल को ज़िम्मेदार बताने के "जुर्म" में टीवी अभिनेत्री आएशा सुल्ताना पर एफ़आईआर दर्ज़ किया गया। यही नहीं, इसके बाद आएशा पर देशद्रोह का मुक़दमा लगा दिया गया। आज भाजपा का रास्ता हिटलर के नाज़ी पार्टी के रास्ते से अधिक भिन्न नहीं है।

भारत में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवाद ने मुस्लिम आबादी को 'शत्रु' के रूप में पेश किया है। ऐसे में यह तमाम हथकण्डों से मुस्लिम आबादी के बीच एक खौफ़ पैदा करने की कोशिश में लगा है। चाहे वो कश्मीर से 370 हटाने की बात हो या लक्षद्वीप में गुण्डा अधिनियम से लेकर पशु संरक्षण अधिनियम को लाने की बात हो, इनमें साफ़ तौर पर देखा जा सकता है कि किस तरीक़े से मुस्लिम आबादी की रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में राज्यसत्ता हस्तक्षेप कर रही है। और इसके साथ ही साथ आम लोगों के बीच यह प्रचार भी कर रही है कि ये कट्टरपन्थी लोग हैं। इनके खान-पान और रहन-सहन के तरीकों के ख़िलाफ़ भी आरएसएस लगातार ज़मीनी स्तर पर अलग-अलग तरीकों से प्रचार करता रहता है। आरएसएस ने अपने अंग्रेज़ी मुख्यपत्र ऑर्गनाइज़र में दावा किया है कि 96 फ़ीसदी मुस्लिम आबादी वाले इस छोटे से द्वीप में इस्लामिक कट्टरपन्थी लोगों को प्रशासन के ख़िलाफ़ भड़का रहे हैं। विरोधियों को इस्लामिक कट्टरपन्थी बताते हुए प्रफुल पटेल के समर्थन में क़सीदे पढ़े हैं।

इतिहास में हमने देखा है कि किस प्रकार फ़ासीवाद जनता के बीच अपनी जड़ें जमाता है। यह कितना ख़तरनाक और भयावह हो सकता है यह भी हम देख चुके हैं। भारत में फ़ासीवाद ने एक लम्बे समय में जनता के बीच अपनी जड़ें जमाई हैं, और इस रूप में यह और भी ज़्यादा ख़तरनाक है। राज्यसत्ता मिलने के बाद ज़ंजीर से बँधा शिकारी कुत्ता अब आज़ाद हो गया है। और पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े की रखवाली के लिए यह कुछ भी कर सकता है। ऐसे में इसका एक ही जवाब हो सकता है, जनता की इन फ़ासीवादी गुटों के ख़िलाफ़ गोलबन्दी! आज इनके हर एक मंसूबों को नाकाम करने के लिए देशभर में तमाम प्रगतिशील ताक़तों को आगे आना होगा। इतिहास इसका गवाह रहा है कि जनता की ताक़त ने बड़े-बड़े शासकों को धूल चटाई है। इसलिए आज हर इंसाफ़पसंद लोगों को लक्षद्वीप की जनता के संघर्ष के साथ खड़े होने ज़रूरत है, ताकि लक्षद्वीप में इनके मंसूबों को नाकाम किया जा सके।

●

शहीद-ए-आज़म भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव के शहादत दिवस (23 मार्च) पर

क़ानून की पवित्रता तभी तक रखी जा सकती है जब तक वह जनता के दिल यानी भावनाओं को प्रकट करता है। जब यह शोषणकारी समूह के हाथों में एक पुर्ज़ा बन जाता है तब अपनी पवित्रता और महत्त्व खो बैठता है। न्याय प्रदान करने के लिए मूल बात यह है कि हर तरह के लाभ या हित का ख़ात्मा होना चाहिए। ज्यों ही क़ानून सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना बन्द कर देता है त्यों ही ज़ुल्म और अन्याय को बढ़ाने का हथियार बन जाता है। ऐसे क़ानूनों को जारी रखना सामूहिक हितों पर विशेष हितों की दम्भपूर्ण ज़बरदस्ती के सिवाय कुछ नहीं है।

(भगतसिंह और उनके साथियों की ओर से सेशन कोर्ट में दिया गया बयान)

सामयिकी

महामारी का साल, सरकार बजाए गाल
स्वास्थ्य बजट की कहानी, खर्च सिर्फ मुँहज़ुबानी

अनन्त

28 जनवरी 2021 की तारीख प्रधानमन्त्री मोदी विश्व आर्थिक मंच के दावोस संवाद में ऑनलाइन सम्बोधन कर रहे थे। भारत उस वक़्त कोरोना वायरस महामारी की पहले लहर को झेल ही रहा था, और सामने दूसरी लहर खड़ी थी। उस सम्बोधन में लप्पेबाज प्रधानमन्त्री पूरी दुनिया के सामने अपनी सरकार की वाहवाही में लम्बी-लम्बी डींगें हाँक रहा था। मोदी दावा कर रहा था कि दुनिया देखती रही और उसकी सरकार ने कोरोना को धूल में मिला दिया।

उस भाषण के महज़ दो महीने के भीतर भारत प्रतिदिन 3 लाख नए संक्रमित मरीजों के आँकड़े को छू रहा था, हमारा देश रोज़ाना नये संक्रमितों की संख्या में दुनिया में सबसे ऊँचे पायदान पर पहुँच रहा था, हर तरफ कोहराम मचा हुआ था। बीमारों को अस्पताल में जगह मिलना तो दूर, मुर्दों को श्मशान और कब्रिस्तान में जगह मुनासिब नहीं हो रहा था। दवा, अस्पताल, बेड, ऑक्सीजन, पर्याप्त चिकित्सक व अन्य चिकित्सा कर्मचारी आदि की भयंकर कमी सबके सामने थी। फेंकूचन्द की सारी सच्चाई उभर कर सारी दुनिया के सामने आ गई। भारत पूरी दुनिया में कोरोना से लड़ने में सबसे फिसड्डी साबित हुआ।

प्रधानमन्त्री के आडम्बरपूर्ण सम्बोधन के तीन दिन बाद वित्तमन्त्री निर्मला सीतारमण के द्वारा केन्द्रीय बजट पेश किया गया। इसको लेकर भी काफी हवा बनाई गई, जैसा कि यह सरकार और गोदी मीडिया हर बार घोषित करती है, इस बार के बजट को भी ऐतिहासिक बजट घोषित किया गया। और हर बार की तरह भी यह थोथा चना बाजे घना से अधिक कुछ भी नहीं था। महामारी के इस साल में कम से कम यह उम्मीद की जा रही थी कि मोदी सरकार बजट में अपने ही स्वास्थ्य मन्त्रालय द्वारा पेश किए गए राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017 द्वारा अनुशंसित राशि स्वास्थ्य सेवा के लिए आवण्टित करेगी। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017 सन् 2025 तक कुल सकल घरेलू उत्पाद का 2.5 फ़ीसदी हिस्सा स्वास्थ्य सेवा पर खर्च करने का लक्ष्य रखती है। जिसकी शुरुआत जीडीपी के 1.15 फीसदी हिस्सा का स्वास्थ्य सेवा में खर्च करने के साथ किया जाना था। हालाँकि, भारत में स्वास्थ्य व्यवस्था की बेहद लचर स्थिति के मद्देनज़र राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति द्वारा प्रस्तावित राशि पहले से ही काफ़ी कम है, किन्तु मोदी सरकार पिछले बजट से लेकर मौजूदा बजट तक में उस तर्ज पर राशि आवण्टित करने में विफल रही है। भारत, जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा कोरोना वायरस केस लोड है, 2019 के राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रोफ़ाइल (एनएचपी) के आँकड़ों के अनुसार, अपने सकल घरेलू उत्पाद का सिर्फ एक प्रतिशत (केन्द्र तथा राज्य सरकारों को मिलाकर) सार्वजनिक स्वास्थ्य पर खर्च करता है, जो देश की आबादी, जनसांख्यिकी और लगातार बढ़ते बीमारी के बोझ को देखते हुए काफ़ी कम है। साथ ही यह दुनिया की किसी भी प्रमुख अर्थव्यवस्था के लिए भी सबसे कम है। ऑक्सफैम की 'कमिटमेण्ट टू रिड्यूसिंग इनइक्वलिटी' रिपोर्ट के अनुसार, भारत स्वास्थ्य ख़र्च में 155वें, नीचे से चौथे, स्थान पर है।

जनवरी माह के आखिरी सप्ताह में जारी किए गए आर्थिक सर्वेक्षण रिपोर्ट 2020-21का एक अध्याय का शीर्षक था "स्वास्थ्य सेवा आखिरकार केंद्र में"। सरकार स्वास्थ्य पर खर्च के नाम पर पूरी भूमिका बना रही थी। फ़रवरी में स्वास्थ्य बजट के आवण्टन को लेकर गोदी मीडिया बड़े-बड़े आँकड़ों की बाज़ीगरी करने लगा, बताया गया कि स्वास्थ्य सेवा के लिए इस बार बजट पिछले साल की बरक्स 137% अधिक है यानी दो गुना से भी अधिक। इस बार बजट में स्वास्थ्य सेवा के ऊपर करीब दो लाख चौबीस हजार करोड़ की राशि आवण्टित की गयी है, यह कुल जीडीपी का करीब 2 फ़ीसदी हिस्सा है, आदि, आदि। किन्तु, असलियत कुछ और है, बजट पर थोड़ा बारीक नज़र डालते ही पता चलता है कि इस साल फरवरी में पेश बजट में बजट एस्टीमेशन में जितनी राशि आवण्टित की गयी है, वह पिछले साल रिवाइज्ड एस्टीमेशन से भी कम है। दरअसल हक़ीक़त यह है कि इस बार का स्वास्थ्य बजट ले दे कर कुल जीडीपी का मात्र 0.34 प्रतिशत हिस्सा है। लेकिन मोदी सरकार द्वारा इसका इस तरह तूमार बाँधा गया कि इस बार का स्वास्थ्य बजट "जन-कल्याण" हेतु सीधे अम्बर से धरा पर लाया गया है!

आइए थोड़ा विस्तार से इस बार के बजट में स्वास्थ्य सेवा के लिए आवण्टित राशि के पीछे की गई आँकड़ों की बाजीगरी को देखते हैं। भयंकर जन-विरोधी फ़ासीवादी मोदी सरकार

जनता को महज छलने, ठगने, लूटने, भ्रम में रखने का ही काम कर सकती है, और कर रही है। यही काम बजट आवण्टन में भी किया गया है। इन पूँजी के चाकरों के लच्छेदार, घुमावदार भाषणों, अल्फ़ाज़ों के बीच जो सच्चाई होती है, वह बेहद ही कुरूप और डरावनी होती है। वित्त मन्त्री निर्मला सीतारमण ने अपने बजट भाषण में बजट को छह स्तम्भों पर आधारित बताया था, जिसमें पहला स्थान 'स्वास्थ्य और कल्याण' का था। लेकिन उन्होंने यह उल्लेख नहीं किया कि अपने तमाम चमक-दमक के बावजूद इस स्तम्भ को कितना खोखला और खाली रखा गया है। उन्होंने अपने भाषण में "स्वास्थ्य के लिए समग्र दृष्टिकोण" पर जोर दिया, जो "तीन क्षेत्रों को मजबूत करने: रोकथाम, उपचारात्मक और कल्याण" पर केन्द्रित है, और अपना काम इन्हीं "नेक उपदेशों" तक सीमित रखा।

कुल मिलाकर, स्वास्थ्य बजट – जैसा कि बजट के 'प्रमुख वस्तुओं के व्यय' विवरण से देखा जा सकता है – 67,484 करोड़ रुपये (बीई 2020-2021) से बढ़कर 73,931.77 (2021-2022) हो गया है। यह पिछले वर्ष के अनुमानित बजट (बजट एस्टीमेशन, बीई) से लगभग 10% की वृद्धि है, किन्तु यह आवण्टन वास्तव में 2020-2021 के संशोधित अनुमान (रिवाइज्ड एस्टीमेशन, आरई) 85,089 करोड़ रुपये से कम है। यानी सरकार की योजना मौजूदा वित्त वर्ष में पिछले वित्त वर्ष किए गए ख़र्च से भी कम ख़र्च करने की थी। जबकि, तमाम वैज्ञानिकों विशेषज्ञों ने दूसरी लहर को अपरिहार्य बताया था, और सरकार को लागतार इस बाबत आगाह किया था। इसलिए, इस वर्ष वास्तविक अर्थों में स्वास्थ्य बजट को कई गुणा बढ़ाना चाहिए था।

अब 137% बजट बढ़ोतरी के दावे को थोड़ा और करीब से देखते हैं। इस वृद्धि में कई ऐसी चीजें हैं जो स्वास्थ्य पर केन्द्रीय बजट से सम्बन्धित नहीं है। 2,23,846 करोड़ रुपये में से पोषण, जल और स्वच्छता पर किए जाने वाला खर्च भी शामिल है। पोषण, जल एवम् स्वच्छता की अपनी महत्ता है, किन्तु साथ ही इनका अपना स्वायत्त विभाग तथा मन्त्रालय है। इनके लिए खर्च की जाने वाली राशि को स्वास्थ्य व्यय के हिस्से के रूप में नहीं लिया जा सकता है!

किन्तु, जल एवम् स्वच्छता के लिए 60,030 करोड़ रुपये का आवण्टित बजट भी स्वास्थ्य परिव्यय में बण्डल किया गया है। इसी तरह, कोविड-19 टीकों के लिए घोषित 35,000 करोड़ रुपया एक बार का खर्च है और इसे नियमित स्वास्थ्य बजट के हिस्से के रूप में शामिल नहीं किया जा सकता है। इसके अलावा, संवैधानिक प्रावधान अनुच्छेद 275(1) के तहत वित्त मंत्रालय द्वारा दिया जाने वाला वित्त आयोग अनुदान को भी इसमें शामिल किया गया है। यह बजटीय समर्थन भी केवल एक बार के लिए है, जिसके तहत स्वास्थ्य के लिए करीब 13,000 करोड़ तथा जल एवम् स्वच्छता के लिए 36,000 करोड़ की राशि आवण्टित है। उपरोक्त घालमेल के परिणामस्वरूप बजट में कुल मिलाकर 137% की बढ़ोतरी हुई है, जोकि महज एक झूठ है। यानी संक्षेप में कहें तो अन्य विभागों और मन्त्रालयों और साथ ही एक बार खर्च किया जाने वाले खर्चों को एक साथ जोड़कर "स्वास्थ्य तथा कल्याण" के नाम पर भारी-भरकम आँकड़ों की बाजीगरी की गई है। दरअसल, केन्द्रीय स्वास्थ्य बजट अभी भी सकल घरेलू उत्पाद के लगभग 0.34% पर बना हुआ है – जोकि पिछले वर्ष अनुमानित बजट (बीई) 0.31% से मामूली वृद्धि है। जबकि, वित्त वर्ष 2020-2021 के लिए संशोधित अनुमान (आरई) 82,445 करोड़ रुपये, मौजूदा वित्त वर्ष 2021-2022 के अनुमानित बजट से 22% अधिक था। लफ्फाजी और मोदी सरकार एक दूसरे का पर्याय है। पिछले सात सालों के इतिहास ने इस तथ्य की पुष्टि बारम्बार की है।

सरकार समय-समय पर अलग-अलग झुनझुना भी लोगों को थमाती रहती है। इस बार के बजट में 'प्रधानमन्त्री आत्मनिर्भर स्वस्थ भारत योजना' (PMASBY) का झुनझुना थमाया गया। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के समान्तर इस योजना को भी चालू किया गया है। इसके लिए वित्तमन्त्री ने अगले छह वर्षों में 64,180 करोड़ रुपये के आवण्टन की घोषणा की। हालाँकि, इस राशि का बँटवारा किस प्रकार से होगा, इस बाबत कोई स्पष्ट बात नहीं की गई।

स्वास्थ्य व्यय को दी गई कम प्राथमिकता सरकार द्वारा कुल व्यय में इसके हिस्से में भी परिलक्षित होती है, जो कि केवल 4% है, जबकि वैश्विक औसत लगभग 11% है।

स्वास्थ्य पर यह खराब ख़र्च दर अपर्याप्त संसाधनों और बुनियादी ढाँचों समेत मानव संसाधनों में कमी और आमतौर पर लोगों के लिए स्वास्थ्य सेवाओं तक सीमित पहुँच में जाहिर होता है। एकाउण्टेबिलिटी इनिशिएटिव के बजट ब्रीफ के अनुसार, 20 नवंबर, 2020 तक केवल 50,069 हेल्थ एण्ड वेलनेस सेण्टर काम कर रहे थे, जो वित्त वर्ष 2020-21 के लिए संचयी लक्ष्य का 65% है। इसके अलावा, 2019 के ग्रामीण स्वास्थ्य सांख्यिकी के अनुसार, 10% से भी कम प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को भारतीय सार्वजनिक स्वास्थ्य मानक मानदण्डों के अनुसार वित्त पोषित किया जाता है, जिसमें एक चौथाई चिकित्सा अधिकारी पद खाली हैं। नतीजतन, अधिकांश लोग निजी क्षेत्र की बेहद ही महँगी स्वास्थ्य सेवाओं पर निर्भर रहने के लिए मजबूर हैं। असल में अधिकांश मरीजों के इलाज की जिम्मेदारी तथा खर्च का भार सरकार उठाती ही नहीं है।

भारत में 70% बहिरंग रोगी तथा 58% अन्तरंग रोगी अपनी जेब से खर्च कर निजी क्षेत्र में इलाज कराने के लिए

विवश हैं। देश में स्वास्थ्य पर होने वाले कुल खर्च का 60% से अधिक हिस्सा मरीजों की जेब से जाता है। यह दुनिया के अन्य मुल्कों की तुलना में सबसे अधिक है – जबकि डब्ल्यूएचओ का अनुशंसित मानदण्ड भी 15-20% है। हालाँकि, न्यायोचित यही है कि सरकार निशुल्क सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा सुनिश्चित करे। सरकार द्वारा सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रणाली पर किए जाने वाला बेहद कम खर्च, बाज़ार द्वारा स्वास्थ्य के नाम पर भयंकर लूट के लिए दरवाजे खोलने का काम करता है।

आर्थिक सर्वेक्षण, 2021 के मुताबिक अगर भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यय को मौजूदा स्तरों से बढ़ाकर जीडीपी के 3% हिस्से तक किया जाए तो यह आउट-ऑफ-पॉकेट खर्च (ओओपीई), यानी मरीज की जेब से होने वाला खर्च, को वर्तमान के 60% से लगभग 30% तक कम कर सकता है। ग़ौरतलब है की फ़िलहाल सार्वजनिक स्वास्थ्य व्यय, जैसा कि हमने पीछे देखा है, जीडीपी का महज़ 0.34% हिस्सा है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि स्वास्थ्य पर ओओपीई न केवल गरीब मेहनतकश आबादी की कमर तोड़ता है, बल्कि इस देश के मध्यम वर्ग पर भी अच्छा-खासा बोझ डालता है। दुनिया की 20 फ़ीसदी बीमारियों का भार ढोने वाला भारत वर्तमान में स्वास्थ्य सेवा की गुणवत्ता और पहुँच के दृष्टिकोण से 180 देशों में से 145वें तथा सरकारी बजट में स्वास्थ्य को प्राथमिकता देने वाले 189 देशों में से 179वें स्थान पर है।

यह सच है कि कोरोना महामारी ने वैश्विक स्वास्थ्य संकट पैदा करने का काम किया है। किन्तु,भारत के सन्दर्भ में यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इसने पहले से ही चौपट स्वास्थ्य व्यवस्था को उजागर मात्र किया है। भारत का स्वास्थ्य क्षेत्र पहले से ही संकट में था। बदहाल स्वास्थ्य व्यवस्था से निपटने के लिए भारतीय राज्यसत्ता ने जनस्वास्थ्य सुविधाओं को विस्तारित करने के बजाए निजीकरण को ही बढ़ावा देने का काम किया। पीपीपी मॉडल के नाम पर जिला अस्पतालों, मेडिकल कॉलेजों आदि को भी निजी हाथों में सौंपने की कवायद जारी है। महामारी के काल में सरकार द्वारा चिकित्सा बजट के नाम पर झूठी हवाबाज़ी किसी अपराधिक गलती से कम नहीं है। कोरोना से मरने वालों की संख्या आधिकारिक आँकड़ों से कई गुना अधिक है; जिनमें से ज्यादातर जानें बिल्कुल बचायी जा सकती थीं, जो सिर्फ़ इसलिए नहीं बचायी जा सकी, क्योंकि सत्ता में बैठे हुक्मरानों ने समय रहते कोई तैयारी नहीं की थी। स्वास्थ्य के क्षेत्र में पूँजी का नंगा खेल लोगों को मौत के मुँह में धकेलने के लिए जिम्मेदार है। सत्ता में बैठे फासिस्टों ने इस खेल को और किस अंजाम तक पहुंचाया इसकी एक बानगी गंगा में बहती लावारिश लाशों ने पेश की।

आज भारत में सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा की आवश्यकता है। सवाल महज़ लोगों की जेब पर पड़ रहे बोझ को थोड़ा हल्का करने मात्र का नहीं है; बल्कि पूरी की पूरी स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण कर हर किसी को निःशुल्क स्वास्थ्य के अधिकार की गारण्टी देना है। तमाम निजी अस्पतालों, नर्सिंग होमों, निजी पैथोलॉजिकल लैबों, दवा कम्पनियों, कोरोना वैक्सीन फैक्टरियों और अन्य चिकित्सा-सामग्री निर्माण उद्योगों का राष्ट्रीकरण कर हर किसी के लिए स्वास्थ्य सेवा सुनिश्चित किया जा सकता है।

ऐसा करना बिलकुल सम्भव है। दुनिया के कई देशों में सार्वभौमिक स्वास्थ्य सेवा लागू है। किन्तु, यह भी स्पष्ट है कि मौजूदा फ़ासीवादी निजाम स्वयं किसी रोज़ ऐसा कुछ नहीं करने वाला। इसके लिए तमाम इंसाफपसन्द, प्रगतिशील लोगों, छात्रों, नौजवानों को आम मेहनतकश आबादी के साथ मिलकर सत्ता पर दबाव बनाना होगा।

सामयिकी

जनता के पैसों से आपदा में अवसर का निर्माण करतीं वैक्सीन कम्पनियाँ

केशव आनन्द

एक लम्बे समय के शोध और वैज्ञानिकों की मेहनत के बाद कोविड-19 के वैक्सीन के सफ़ल परीक्षण की ख़बर ने तमाम लोगों को राहत की साँस दी। लेकिन जल्द ही यह भी खबर सामने आई कि दुनिया भर के तमाम देशों में वैक्सीन की भारी कमी हो रही है। कई देशों में आबादी के अनुपात में सरकार के पास वैक्सीन की मात्रा काफ़ी कम थी, जिसकी वजह से एक बड़ी आबादी इससे महरूम रही और कोरोना श्मशान में लाशों को निमन्त्रण देता रहा। इसका दोषारोपण पूरी तरीके से ख़राब कार्यपालिका पर मढ़ दिया गया और सरकार अपनी ज़िम्मेदारियों से मुक्त हो गई। लेकिन असल सवाल जो इसके पीछे छिपाया जा रहा है वह यह है कि वैक्सीन के शोध होने के बावजूद वैक्सीन निर्माण की गति इतनी धीमी क्यों रही है? मुनाफे पर टिकी इस पूँजीवादी व्यवस्था में लोगों की जान का भी सौदा किया जाता है। तमाम शोधों के पेटेण्ट, बड़ी फ़ार्मा कम्पनियों के हित में बने क़ानून और आज पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़े को सुनिश्चित करने वाली इन सरकारों की वजह से आज वैक्सीन की शोध के बावजूद आम आबादी का बड़ा हिस्सा वैक्सीन की कमी की वजह से कोरोना संक्रमण के ख़तरे का सामना कर रहा है।

वैक्सीन बनने की प्रक्रिया में देरी भी इस मुनाफ़ा केन्द्रित व्यवस्था की ही देन है। पूँजीवाद का मूल तर्क ही प्रतिस्पर्द्धा है। हर पूँजीपति उन क्षेत्रों में अपनी लागत कम करना चाहता है, जहां से उसके लिए मुनाफ़े की सम्भावना कम हो। दशकों से फ़ार्मा उद्योग द्वारा वैक्सीनों पर होने वाले अनुसन्धान को वरीयता में नीचे धकेल दिये जाने का काम जारी था, क्योंकि वैक्सीन यानी बीमारी की रोकथाम सम्बन्धी शोध में निवेश बड़ी फ़ार्मा कम्पनियों के लिए कम फ़ायदे का सौदा था। 21वीं सदी की शुरुआत से ही सार्स, मर्स, इबोला, नीपाह जैसी एक के बाद एक पैदा हो रही महामारियों के बीच वैक्सीन रिसर्च पर होने वाले निवेश की माँग को बड़ी फ़ार्मा कम्पनियाँ और पूँजीवादी सरकारें अनदेखा करती रहीं। अमेरिका की 18 बड़ी फ़ार्मा कम्पनियों में से 15 कम्पनियों ने अपना रिसर्च एंड डेवलपमेण्ट डिपार्टमेण्ट (R&D) बन्द कर दिया, क्योंकि इस पर उन्हें तात्कालिक मुनाफ़ा नहीं मिल रहा था। कोरोना के विस्फोट के बाद इन कम्पनियों को वैक्सीन के शोध के लिए सरकार की तरफ़ से बड़े-बड़े पैकेज दिये गये। सिर्फ़ मॉडर्ना वैक्सीन के निर्माण हेतु रिसर्च की शुरुआत करने से से लेकर उसे ख़रीदने तक, अमेरिकी सरकारी एजेंसियों ने कम्पनी को ढाई अरब डॉलर का भुगतान किया। अब जब मुनाफ़ा हो रहा है तो फ़ायदा कम्पनी का, और जब जोखिम लेने की बात आये, तो उसके लिए जनता के टैक्स का पैसा।

वैक्सीन के शोध के दौरान भी पूँजी की प्रतिस्पर्द्धा ने आम जनता का ही नुकसान किया। ज़ल्द से ज़ल्द वैक्सीन बनाकर अधिक मुनाफ़ा पीटने की होड़ में एक तरह की ही संक्रमण को रोकने के लिए अलग-अलग जगहों पर पानी की तरह पैसा बहाया गया। कम्पनियों ने रिसर्च डेटा एक-दूसरे से साझा करने की बजाय गुप्त रखा। ताकि शोध के सही होने पर इनके प्रतिद्वन्दी मुनाफ़ा न पीट पायें और बाज़ार में उनकी इजारेदारी क़ायम हो सके। इस पूरे प्रकरण में मुनाफे की अन्धी हवस के कारण आम जन तक वैक्सीन के पहुंचने का प्रश्न कहीं धूमिल हो गया। क्या यह बेहतर नहीं होता कि इन संसाधनों का इस्तेमाल मुनाफे के लिए गलाकाटू प्रतियोगिता के लिए नहीं बल्कि मानवता को कोविड महामारी से बचाने के लिए होता!

अब आते हैं वैक्सीन के पेटेण्ट पर। कोविड वैक्सीन के शोध होने के बाद भी अब तक भारत में केवल तीन कम्पनियाँ वैक्सीन बना रही हैं। क्योंकि इन दो कम्पनियों के पास ही वैक्सीन का पेटेण्ट है। इसका मतलब बाकी कम्पनियां वैक्सीन नहीं बना सकतीं, क्योंकि क़ानूनन पेटेण्ट सिर्फ़ दो कम्पनियों के ही पास है। और इन्हीं दो कम्पनियों को लोगों की बीमारियों और तकलीफों पर सरकार ने मुनाफ़ा पीटने की आज़ादी दी है। इसके बाद वैक्सीन की बिक्री पर भी सरकार ने निजी अस्पतालों को खुला हाथ दे दिया। 19 अप्रैल को लाई गई "उदारीकृत टीकाकरण नीति" ठीक इसी बात को सुनिश्चित करती है कि निजी अस्पतालों का मुनाफ़ा बना रहे। इसके बाद ये अस्पताल वैक्सीन को मनमाने दाम पर बेच रहे थे। पहले सरकार वैक्सीन की क़ीमतें तय करती थी, जो उनके लिए सामान्य मुनाफ़ा सुनिश्चित करती थीं। लेकिन अब ये मनमानी क़ीमतों पर मुनाफ़े कमा रही थीं। राज्यों को भी "स्वायत्तता" देने के नाम पर केन्द्र सरकार ने

उन्हें वैक्सीन की खरीदने की भी "स्वायत्तता" दे दी, जिसका खामियाजा यह हुआ कि कई राज्य जैसे झारखण्ड, उड़ीसा, छत्तीसगढ़ जैसे राज्य पर्याप्त वैक्सीन नहीं खरीद पाए। क्योंकि बड़ी फ़ार्मा कम्पनियों को बस केन्द्र सरकार से सौदा करने में दिलचस्पी थी।

जब इस नीति की पूरे देश भरमें थू-थू होनी शुरू हो गई तब सरकार को मजबूरन जनता के किए कुछ रियायतें देनी पड़ी। 7 जून, 2021 को राष्ट्र के नाम अपने सन्देश में मोदी ने घोषणा की कि अब सरकार 50% के बजाय 75% वैक्सीन खरीदेगी, और 18 वर्ष से ऊपर के सभी युवाओं का टीकाकरण करेगी। हालाँकि सरकार ने अभी भी 25% हिस्सा निजी अस्पतालों के लिए बचाकर रखा है। ताकि ये अस्पताल अपना मुनाफ़ा कमा सकें और इस रूप में सरकार ने एक बार फिर कॉरपोरेट के प्रति अपनी वफ़ादारी साबित की है। ग़ौरतलब है कि जितनी वैक्सीन इन निजी अस्पतालों द्वारा खरीदी जाती है, असल में उतनी लोगों तक पहुँच भी नहीं पाती। इण्डियन एक्सप्रेस की एक रिपोर्ट के मुताबिक 19 अप्रैल, 2021 के 2 महीने के बाद तक क़रीब 1.2 करोड़ वैक्सीन निजी अस्पतालों द्वारा खरीदी गई, जिसमें से केवल 22 लाख लोगों को ही यह डोज़ लगाया गया।

आज चिकित्सा के बाज़ारीकरण का खामियाजा आम जनता भुगत रही है। "आपदा को अवसर में" बदलने वाले ये मुनाफ़ाखोर पूँजीपति लोगों की लाश का सौदा करके भी मुनाफ़ा कमाने की होड़ में रहने को तैयार रहते हैं। आज हर संजीदा इंसान को इसके खिलाफ़ आवाज़ उठाने की ज़रूरत है। आज हमें इन सरकारों से यह माँग करनी चाहिए कि समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण किया जाए। वैक्सीन के पेटेण्ट को हटाकर इसके उत्पादन में तेज़ी की जाए, और 100% टीकाकरण की ज़िम्मेदारी यह सरकार ले, ताकि हर व्यक्ति का समय रहते टीकाकरण किया जाए।

इन सब के साथ ही साथ हमें यह भी समझने की ज़रूरत है कि कोरोना का महामारी में तब्दील होना, समय रहते इसके टीके का न बन पाना, टीका बनने के बाद टीकाकरण का न हो पाना, इन सब की जड़ में एक ही समस्या है, वह है मुनाफ़े पर टिकी यह पूँजीवादी व्यवस्था। जब तक चिकित्सा से लेकर तमाम चीज़ों के पीछे मुनाफा खड़ा होगा, तब तक इन लुटेरों को इंसानों की जान से ज़्यादा मुनाफ़ा निचोड़ने की परवाह अधिक होगी।

और सब भूल गए हर्फ़-ए-सदाक़त लिखना

और सब भूल गए हर्फ़-ए-सदाक़त लिखना
रह गया काम हमारा ही बग़ावत लिखना
लाख कहते रहें ज़ुल्मत को न ज़ुल्मत लिखना
हम ने सीखा नहीं प्यारे ब-इजाज़त लिखना
न सिले की न सताइश की तमन्ना हम को
हक़ में लोगों के हमारी तो है आदत लिखना
हम ने जो भूल के भी शह का क़सीदा न लिखा
शायद आया इसी ख़ूबी की बदौलत लिखना
इस से बढ़ कर मिरी तहसीन भला क्या होगी
पढ़ के ना-ख़ुश हैं मिरा साहब-ए-सरवत लिखना
दहर के ग़म से हुआ रब्त तो हम भूल गए
सर्व क़ामत को जवानी को क़यामत लिखना
कुछ भी कहते हैं कहीं शह के मुसाहिब 'जालिब'
रंग रखना यही अपना इसी सूरत लिखना

- हबीब जालिब

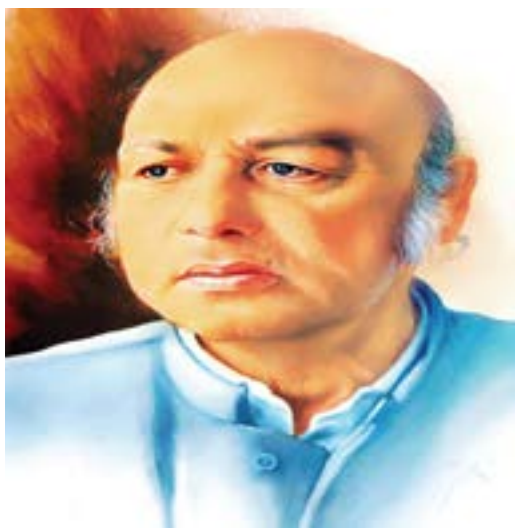

24 मार्च 1928 - 12 मार्च 1993

सामयिकी

समाजवादी शिक्षा व्यवस्था: शिक्षा के क्षेत्र में समाजवादी चीन में हुए प्रयोगों पर एक संक्षिप्त चर्चा

सार्थक

आह्वान के पाठक यह जानते हैं कि पिछले साल फ़ासीवादी भाजपा सरकार ने अपने पूँजीपति आकाओं के हितों को साधने के मकसद से नयी शिक्षा नीति 2020 पारित किया। यह जनविरोधी शिक्षा नीति घनघोर लफ़्फ़ाज़ियों के धूम्रावरण के पीछे वास्तव में शिक्षा के क्षेत्र में देशी-विदेशी पूँजी निवेश और मुनाफ़ाखोरी को खुली छूट देने दस्तावेज़ है और इस पर अमल भी किया जा रहा है। शिक्षा एक बेहतर मानवीय जीवन की मूलभूत शर्तों में एक होती है। लेकिन आज़ादी के बाद से ही हमारे देश की पूरी शिक्षा व्यवस्था ऐसी रही जो आम घरों के बेटे-बेटियों को बेहतर शिक्षा से कोसों दूर रखती थी। लेकिन जो भी थोड़ी बहुत गुंजाइश थी भी उसे यह शिक्षा नीति पूरी तरह से खत्म कर देगी। मुट्ठी भर पूँजीपतियों के हित में इस शिक्षा नीति के जरिये फासिस्ट मोदी सरकार शिक्षा को पूरी तरह से बाज़ार के हवाले करने की कानूनी वैधिक कवायद है।

निःशुल्क-सार्वभौमिक-वैज्ञानिक शिक्षा के अधिकार की इस लड़ाई में भी सभी सामाजिक-राजनीतिक लड़ाइयों की तरह संघर्ष और निर्माण के पहलू एक दूसरे से द्वन्द्वात्मक तरीके से जुड़े हुए हैं। इस मौजूदा अन्यायपूर्ण शिक्षा व्यवस्था के खिलाफ़ जुझारू संघर्ष किये बिना एक नयी न्यायसंगत शिक्षा व्यवस्था की ओर बढ़ा नहीं जा सकता। अगर हम एक उन्नत और सच्चे मायनों में क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पहलुओं को समझते हुए उसे व्यापक जनमानस तक विकल्प की तरह नहीं लेकर जाएँगे तो हमारा संघर्ष भी सुधारवाद की अँधेरी गलियों में रास्ता भटक जायेगा। अगर हम भारत के छात्र-युवा आन्दोलन के वर्तमान इतिहास पर एक नज़र डालें तो हम पाते हैं कि संघर्ष और निर्माण के इस द्वन्द्व में प्रधान पहलू मुख्यतः संघर्ष ही रहा है। मौजूदा पूँजीवादी शिक्षा व्यवस्था और उसके मानवद्रोही चरित्र के खिलाफ़ छात्रों-युवाओं का आन्दोलन कई उतार-चढ़ाव से होकर गुजरने के बावजूद एक नयी क्रान्तिकारी शिक्षा प्रणाली की वैचारिक और व्यावहारिक पहलुओं को समझने में बहुत हद तक असफल रहा है। इसके पीछे छात्र-युवा आन्दोलन की वैचारिक कमज़ोरी, छात्र-युवा आन्दोलन में संशोधनवादी-सुधारवादी विचारधारा की घुसपैठ, भारत की क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन की वैचारिक कमज़ोरी, छात्र-युवा आन्दोलन का मज़दूर-मेहनतकश वर्ग के संघर्षों से अलगाव जैसे कई कारण हैं जिनकी विस्तार से चर्चा करना इस लेख का मुख्य उद्देश्य नहीं है।

इस लेख का मुख्य उद्देश्य एक नयी शिक्षा व्यवस्था की वैचारिकी पर काम करना और अपने संघर्षों की दिशा उस ओर मोड़ने का छात्रों-युवाओं के समक्ष ज़रूरी कार्यभार रखना है। वैसे तो एक नयी शिक्षा व्यवस्था के निर्माण का प्रश्न पूरी व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन से जा कर जुड़ता है। लेकिन नयी शिक्षा व्यवस्था कैसी होगी? यह अपने आप में विचार मंथन और रचनात्मक सोच की माँग करता है। जिसमें समाजवादी प्रयोगों से अर्जित अनुभव हमारा मार्गदर्शन करेंगे। ऐसी समझदारी से लैस शिक्षा अधिकार का आन्दोलन न केवल इस पहलू में स्पष्ट होगा कि बुर्जुआ व्यवस्था से कैसी शिक्षा की माँग की जानी चाहिए? बुर्जुआ व्यवस्था की सीमाएँ क्या हैं? बल्कि वह संघर्ष को अगली मंजिल पर ले जाने के लिए भी तैयार होगा। भविष्योन्मुख शिक्षा व्यवस्था निश्चित तौर पर पुराने और नए द्वन्द्व से विकसित होगी; लेकिन अतीत के किन पहलुओं को रखना है, विकसित करना है या इतिहास के कचरापेटी में फेंकना है? एक क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था की चारित्रिक विषेशताएँ क्या होंगी? इस दिशा में प्रत्येक संवेदनशील और संजीदा छात्र और नौजवान को सोचने की ज़रूरत है।

समाजवादी देशों की शिक्षा के क्षेत्र में हुए नये-नये प्रयोग और अनुभव इस दिशा में सोचने में काफ़ी मददगार होंगे। सर्वहारा क्रान्तियों के आरम्भिक संस्करण जिन्होंने पिछली शताब्दी में इतिहास के कैनवास पर अपना रंग बिखेरा, उसके सृजनात्मक प्रभाव से शिक्षा, स्वास्थ्य, कला, संस्कृति, साहित्य आदि के क्षेत्रों में भी रंगीन स्याही से कई नये कीर्तिमान रचे गये, जो मानव इतिहास में अभूतपूर्व थे। समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बाद सोवियत संघ और चीन की जनता ने जो चौमुखी विकास के डग भरे उसने शताब्दियों का काम चन्द वर्षों में कर दिखाया। समाजवादी निर्माण प्रक्रिया के तमाम प्रयोगों में से सबसे महत्वपूर्ण प्रयोग रहें शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धी प्रयोग। इन प्रयोगों ने एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था को जन्म दिया जो समाजवादी सत्ता तथा मेहनतकश

वर्ग के हितों की सेवा करने के साथ-साथ नयी समाजवादी चेतना को गढ़ने में अग्रणी भूमिका अदा कर रही थी। महज़ कुछ सालों की समयावधि में निरक्षरता को जड़ से मिटाते हुए समाजवादी शिक्षा व्यवस्था एक वर्ग-विहीन शोषणमुक्त समाज की ओर संक्रमण में अहम भूमिका निभा रही थी। सोवियत संघ और चीन की समाजवादी शिक्षा व्यवस्थाओं के गहन अध्ययन और उनकी उपलब्धियों तथा कमज़ोरियों का सही मूल्यांकन किये बिना आज की ठोस परिस्थितियों में एक मुक्तिकामी शिक्षा परियोजना के निर्माण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। क्रान्तियों और समाजवादी संक्रमण काल के इतिहास से सीखने की ज़रूरत को समझते हुए हम इस लेख में समाजवादी चीन की क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

शिक्षा का वर्ग चरित्र : मार्क्स-लेनिन-माओ की शिक्षाओं का अनुसरण करते हुए क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था के संस्थापकों ने बुर्जुआ और संशोधनवादी शिक्षाविदों द्वारा फैलायी जा रही इस भ्रामक धारणा का पुरजोर विरोध किया कि शिक्षा का कोई वर्ग चरित्र नहीं होता या शिक्षा वर्ग और वर्ग संघर्ष से परे होती है या फिर शिक्षा अपने-आप में सभी वर्गों के लिए एक समान होती है। सोवियत संशोधनवादी शिक्षाविद इवान कैरोव से प्रेरित होकर चीनी संशोधनवाद के पितामह ल्यु श्याओ ची और शिक्षा के क्षेत्र में उनके सबसे वफ़ादार चेले लू दिंगयी चीन में इस "वर्ग-रहित" और "वर्ग-संघर्ष से परे" और "समान" शिक्षा की मिथकीय अवधारणा का प्रचार-प्रसार कर रहे थे, जिसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य शिक्षा के वर्ग चरित्र को धूमिल करना था। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान इन संशोधनवादियों के सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दी गईं और इनके स्मजवाद से गद्दारी को बेनकाब किया गया। क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था ने यह स्पष्ट तौर पर स्थापित किया की प्रत्येक वर्ग अपनी युवा पीढ़ी को अपनी वर्ग अवस्थिति के अनुकूल विश्व-दृष्टिकोण देता है; अपने वर्गीय राजनीतिक हितों के आधार पर शिक्षित-प्रशिक्षित करता है और इस प्रकार स्वयं अपने वर्ग हितों की रक्षा और सेवा के लिए अपनी नयी पीढ़ी तैयार करता है। इसलिए बुर्जुआ वर्ग की शिक्षा और सर्वहारा वर्ग की शिक्षा एक समान नहीं हो सकती। समाजवादी संक्रमण के दौरान बुर्जुआ वर्ग येन-केन-प्रकारेण अपने छिने स्वर्ग को दुबारा हासिल करने की पूरी कोशिश करेगा। इसलिये इस संक्रमण काल में वर्ग संघर्ष जारी रहेंगे जो सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में प्रदर्शित होंगे। शिक्षा व्यवस्था इन्हीं विभिन्न पहलुओं में से एक होगी। बुर्जुआ वर्ग शिक्षा व्यवस्था में घुसपैठ कर बुर्जुआ वर्ग हितों को साधने का प्रयास करेगा, जबकि सर्वहारा वर्ग की शिक्षा व्यवस्था बुर्जुआ वर्ग और सभी शोषक वर्गों का सम्पूर्ण उन्मूलन कर समाजवादी व्यवस्था को कम्युनिज़्म की ओर अग्रसर करने का लक्ष्य रखेगा। इस विषय पर 'लेनिन' के वक्तव्य का एक अंश बेहद प्रासंगिक है-"सामान्य रूप से विज्ञान की शिक्षा देते हुए सर्वांगीण शिक्षा हासिल किये इंसानों को पैदा करना पहले के स्कूलों का घोषित लक्ष्य हुआ करता था। हम जानते हैं कि यह सरासर झूठ है क्योंकि पूरा समाज शोषक वर्ग और शोषित वर्ग में विभाजित है और इसी पर बरकरार है, क्योंकि ये वर्ग भावना से पूरी तरह ओत-प्रोत होते हैं तो यह स्वाभाविक है कि पूराने स्कूल महज़ पूँजीपतियों के बच्चों को ही ज्ञान प्रदान करते थे। पूँजीपतियों के स्वार्थ के लिए हर एक शब्द में झूठ बोला गया। इन स्कूलों में मज़दूरों और किसानों की युवा पीढ़ी को शिक्षा नहीं मिलती थी बल्कि उनसे बस पूँजीपतियों के हित साधन की क़वायद करवायी जाती थी। उनका प्रशिक्षण ऐसे किया जाता था कि वे महज़ पूँजीपतियों के उपयोगी ग़ुलाम बन सकें और उनकी शान्ति और आराम में विघ्न डाले बना उनके लिए मुनाफ़ा पैदा कर सके।" (The Tasks of the Youth Leagues, page 285, Collected Works vol.31 , Progress Publishers, अनुवाद हमारा)

बुर्जुआ शिक्षा-शास्त्र से संघर्ष की प्रक्रिया में ही क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था का आरम्भ और विकास हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में यह दो लाइनों का संघर्ष पूरे समाज और कम्युनिस्ट पार्टी के भीतर चल रहे वर्ग संघर्ष की अभिव्यक्ति थी। यह 50 के दशक के उत्तरार्द्ध से लेकर 70 के दशक के मध्य तक अपने सबसे तीखे रूप में अभिव्यक्त हुई। हालाँकि यह कहा जा सकता है कि इस वर्ग संघर्ष के बीज चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा 1930 और 1940 के दशक में येनान के आधार इलाकों में पनपे थे। जब माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने ख्रुश्चेव की संशोधनवादी लाइन और ल्यु श्याओ ची, देंग शियाओ पिंग और लिन प्याओ विजातीय प्रवृत्तियों पर राजनीतिक-वैचारिक हमला तेज़ किया तब शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त संशोधनवादी और बुर्जुआ विचारधारा, व्यवहार और प्रवृत्तियाँ भी इस हमले का निशाना बनी। बुर्जुआ विचारधारा, व्यवहार और प्रवृत्तियों के खिलाफ़ तीव्र संघर्ष करते हुए क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा प्रणाली महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान अपने चरम बिन्दु पर पहुँची। इस तरह समाजवादी चीन की शिक्षा व्यवस्था ने दुनिया के सामने पूँजीवादी शिक्षा प्रणाली का एक समाजवादी विकल्प प्रस्तुत किया।

जिस तरह समाजवादी विचारधारा बिना किसी लाग-लपेट के स्पष्ट शब्दों में ऐलान करती है कि वह सर्वहारा वर्ग की विचारधारा है न कि "पूरे" समाज की, जिसका ढोंग अभी तक की सभी शोषक वर्ग की विचारधाराएँ करती चली आई हैं। ठीक उसी प्रकार क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था ने डंके की चोट पर यह ऐलान किया कि वह सर्वहारा वर्ग

और सर्वहारा राज्य सत्ता के हितों की सेवा करती है। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ ने समाजवादी निर्माण के लिए "राजनीति को कमान में रखने" का जो आम नारा दिया उसे क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था पर भी लागू किया गया। माओ का यह नारा ल्यु श्याओ ची और देंग शियाओ पिंग जैसे संशोधनवादियों के "उत्पादन को कमान में रखने" की कार्यदिशा के खिलाफ़ जाता था। उत्पादन को अधिकतम सम्भव बढ़ाने पर बल देने की संशोधनवादियों की कार्यदिशा इस तर्क पर आधारित थी कि सर्वहारा क्रान्ति के बाद निजी सम्पति का नाश हो जाता है। उत्पादन के साधनों पर सर्वहारा राज्यसत्ता का अधिकार स्थापित हो जाता है। बुर्जुआ उत्पादन सम्बन्ध समाजवादी उत्पादन सम्बन्धों में बदल जाते हैं। इस प्रकार समाज से वर्ग और वर्ग संघर्ष विलोप हो जाता हैं। वर्ग अन्तरविरोध के विलोप हो जाने के बाद समाज में उन्नत उत्पादन सम्बन्ध और पिछड़ी उत्पादक शक्ति के बीच का अन्तरविरोध ही मुख्य अन्तरविरोध के रूप में बचा रह जाता है। उत्पादन को अधिकतम सम्भव बढ़ाकर ही इस अन्तरविरोध को हल किया जा सकता है। शिक्षा के क्षेत्र में इस संशोधनवादी कार्यदिशा ने ज़बरदस्त घुसपैठ की। इस राजनीतिक कार्यदिशा को अपनाते हुए संशोधनवादियों ने एक ऐसी शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा दिया, जिसका मुख्य लक्ष्य था-एक ओर तकनीकी और प्रबन्धक विशेषज्ञों की फ़ौज तैयार करना, जिनका मक़सद मात्र उत्पादकता बढ़ाना था और वहीं दूसरी ओर मज़दूर वर्ग और व्यापक मेहनतकश जनता को बस उतनी ही शिक्षा देना जितनी उन्हें तकनीशियन, सुपरवाइज़र और मैनेजर के अधीन काम करते हुए उत्पादन बढ़ाने के लिए ज़रूरी है। हम स्पष्ट देख सकते हैं कि इन संशोधवादियों की शिक्षा व्यवस्था पूरी तरह पूँजीवादी शिक्षा व्यवस्था के चरित्र को ही प्रदर्शित करती है। इस संशोधनवादी कार्यदिशा का असली मक़सद भूतपूर्व शोषक वर्गों के विशेषाधिकारों की हिफ़ाज़त करना था, जो ज्ञान को अपने वर्ग तक सीमित रख कर किया जाना था। विशेषाधिकारों वाली टेक्नोक्रेटों-ब्यूरोक्रेटों की एक नई श्रेणी पनप रही थी, जो बुर्जुआ वर्ग को उपयुक्त भौतिक आधार प्रदान कर उसके खोये हुये स्वर्ग को वापिस हासिल करने के सपने संजो रही थी। इसके बरक्स माओ के "राजनीति को कमान में रखने" के नारे को शिक्षा में लागू करने का मतलब था ऐसी युवा पीढ़ी को तैयार करना जो समाजवादी चेतना से लैस हो और सर्वहारा वर्ग हितों की सेवा करना जिसका एक मात्र उद्देश्य हो। माओ की इस कार्यदिशा का अनुसरण करते हुए क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था ने जिन विशेषज्ञों को पैदा किया वे महज़ विशेषज्ञ नहीं थे बल्कि "लाल और विशेषज्ञ" (Red and Expert) थे जिन्होंने सर्वहारा राजनीति को कमान में रखते हुए मज़दूर-मेहनतकश जनता को सभी रूपों से शिक्षित प्रशिक्षित करते हुए समाजवादी अर्थव्यवस्था को नयी ऊँचाइयाँ तक पहुँचाने में अपना योगदान दिया।

शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के अन्तर को समाप्त करना : यह एक स्थापित तथ्य है कि शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के अन्तर को समाप्त करने के उद्देश्य से चीनी शिक्षा के क्षेत्र में जो प्रयोग हुए वे सबसे ज्यादा चर्चा में रहें। सर्वहारा विचारधारा के समर्थकों ने जहाँ इसे एक बेमिसाल प्रयोग बताया वहीं बुर्जुआ और संशोधनवादी आलोचकों ने इसे एक भयानक अनुभव घोषित किया। चीनी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम के बीच के अन्तर तथा सिद्धान्त और व्यवहार के बीच के अन्तर को मिटाने के लिए किये गये प्रयास बेहद रचनात्मक थे। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण प्रयास था उत्पादक शारीरिक श्रम को शिक्षा से जोड़ना और इसका प्रथम प्रयोग क्रान्ति से पहले येनान में ही शुरू हो गया था, फ़िर महान अग्रवर्ती छलाँग (ग्रेट लीप फ़ारवर्ड) के दौरान इसने तेज़ी पकड़ी और आख़िरकार महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान यह अपने शिखर पर पहुँचा।

शिक्षा को शारीरिक श्रम से जोड़ने के लिए उठाये गये ठोस क़दमों के बारे में चर्चा करने से पहले मार्क्सवादी-लेनिनवादी शिक्षा-सिद्धान्त की एक अति-संक्षिप्त चर्चा यहाँ प्रस्तुत करना प्रासांगिक होगा ताकि पाठकों को हम इस पूरे प्रयोग को उसकी वैचारिक पृष्ठभूमि में समझा सकें। क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था मार्क्सवादी-लेनिनवादी ज्ञानमीमांसा की नींव पर मज़बूती से टिकी हुई थी। मार्क्सवादी ज्ञानमीमांसा का दृष्टिकोण स्पष्ट है कि अपने भौतिक जीवन के उत्पादन और पुनरुत्पादन की प्रक्रिया में इन्सान प्रकृति और दूसरे इन्सानों से अन्तःक्रिया करता है और यही अन्त:क्रिया ही ज्ञान का प्राथमिक स्रोत होती है। ज्ञान पैदा होने की इस प्रक्रिया में उत्पादक शारीरिक श्रम की एक अहम भूमिका होती है। एंगेल्स ने अपने बेहद महत्वपूर्ण लेख 'वानर से नर बनने की प्रक्रिया में श्रम की भूमिका' में लिखते हैं कि"हाथों के विकास और श्रम के साथ शुरू हुई प्रकृति पर विजय ने हर एक नयी उपलब्धि हासिल होने पर मानव परिप्रेक्ष्य को व्यापक बनाया। वह प्रकृति की अब तक अज्ञात अभिलाक्षणिकताओं की लगातार खोज कर रहा था।" (International Publishers , page 10, अनुवाद हमारा) अपने दर्शन सम्बन्धी निबन्धों में माओ इस मार्क्सवादी-लेनिनवादी ज्ञान-सिद्धान्त की विस्तार से चर्चा करते हैं। 'व्यवहार के बारे में' अपने निबन्ध में माओ बताते हैं कि "मार्क्सवादी लोग मनुष्य की उत्पादक कार्रवाई को सबसे बुनियादी व्यावहारिक कार्रवाई मानते हैं, एक ऐसी कार्रवाई जो उसकी अन्य सभी कार्रवाइयों को निश्चित करती है। मनुष्य का ज्ञान मुख्यतः उसकी भौतिक उत्पादन की कार्रवाई पर निर्भर रहता है, जिसके ज़रिये वह क़दम-ब-क़दम प्राकृतिक घटनाक्रम, प्रकृति के स्वरुप, प्रकृति के नियमों और अपने

तथा प्रकृति के बीच के सम्बन्धों की जानकारी प्राप्त करता है; और अपनी उत्पादक कार्रवाइयों के ज़रिये वह क़दम-ब-क़दम मनुष्य और मनुष्य के बीच के निश्चित सम्बन्धों की जानकारी भी अलग-अलग मात्रा में प्राप्त करता जाता है। इस तरह का कोई भी ज्ञान, उत्पादक कार्रवाई से अलग रहकर प्राप्त नहीं किया जा सकता।" इसी निबन्ध में माओ आगे लिखते हैं कि ज्ञान व्यवहार-सिद्धान्त-व्यवहार की द्वन्दात्मक प्रक्रिया से होते हुए विकसित होता है। सिद्धान्त ठोस सामाजिक व्यवहार पर आधारित होता है और पलट कर ठोस सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करता है और इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही पहले से उन्नत धरातल पर पहुँचते हैं। सामाजिक व्यवहार न केवल सैद्धान्तिक ज्ञान का प्राथमिक स्रोत होता है बल्कि उसकी सटीकता का पैमाना भी होता है। सैद्धान्तिक ज्ञान सामाजिक व्यवहार में उतर कर ही ख़ुद की सटीकता या सार्थकता का प्रमाण दे सकता है। अतः उत्पादन प्रक्रिया और वर्ग संघर्ष में सक्रिय भागीदारी किये बिना अर्जित प्रकृति और समाज सम्बन्धी सारे ज्ञान अधूरे और छिछले ही रह जाते हैं। इसलिए मार्क्स ने भी बार-बार शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने की वकालत की थी। पूँजी खण्ड-1 में मार्क्स बताते हैं कि मनुष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए शिक्षा में उत्पादक श्रम और व्यायाम का तालमेल एक ज़रूरी शर्त है और 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में इसे समाज परिवर्तन का एक प्रभावी साधन बताते हैं। रूस में अक्टूबर क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आने पर सर्वहारा सत्ता ने भी शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने की दिशा में कई प्रयोग किये। ये प्रयोग पहली पंच-वर्षीय योजना के दौरान सबसे उन्नत रूप में सामने आये। इसी मार्क्सवादी-लेनिनवादी ज्ञानमीमांसा को व्यवहार में उतारते हुए और सोवियत संघ के प्रयासों से सीख लेते समाजवादी चीन ने शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने के महान प्रयोग किये।

जैसा कि हमने पहले बताया है की क्रान्ति से पहले 1940 के दशक में ही येनान के आधार इलाकों में शिक्षा को उत्पादक श्रम से जोड़ने के प्रयोगों के बीज बोये गये थे। ज्यादातर स्कूल, पार्टी संगठन और सेना की इकाइयों को अपने भोजन के लिए आवश्यक अनाज का एक हिस्सा ख़ुद ही उगाना पड़ता था और साथ ही सुअर पालन, फल-सब्ज़ी की खेती, जलावन की लकड़ी और अँगार का बन्दोबस्त, दस्तकारी इत्यादि भी ख़ुद करनी पड़ती थी। यहाँ ज्यादातर स्कूल 'मीन-बान' श्रेणी के स्कूल थे जिसका अर्थ था जनता और स्थानीय उत्पादन इकाइयों के द्वारा चलाये जा रहे स्कूल। इन मीन-बान स्कूलों में कक्षा में औपचारिक पढ़ाई और उत्पादक श्रम दोनों को ही एक समान समय और महत्व दिया जाता था। इन स्कूलों का कोई रेगुलर पाठ्यक्रम नहीं हुआ करता था और स्कूलों को अपनी स्थानीय परिस्थिति और ज़रूरतों के हिसाब से अपने पाठ्यक्रम बनाने की छूट थी। स्कूल की वार्षिक योजना स्थानीय बुआई-रोपाई-कटाई के चक्र के अनुसार और इलाके की अनाज और बाकी ज़रूरतों के अनुसार निर्धारित होती थी। इन स्कूलों के छात्र और शिक्षकों से यह उम्मीद की जाती थी कि वे न केवल उत्पादक श्रम में उत्साह के साथ हिस्सेदारी करें बल्कि उनमें स्थानीय व्यावहारिक समस्याओं को हल करने का भी सामर्थ्य हो।

महान अग्रवर्ती छलाँग (ग्रेट लीप फ़ारवर्ड) के दौरान 'आधा काम-आधी पढाई' के स्वरूप वाले 'मीन-बान' स्कूलों का पूरे देश में प्रचार-प्रसार किया गया। ग्रामीण इलाकों में न केवल प्राथमिक स्कूल बल्कि माध्यमिक स्कूल भी 'मीन-बान' सिद्धान्त से चलते थे। इनमें से कृषि-सम्बन्धी माध्यमिक स्कूल और तकनीकी माध्यमिक स्कूल ख़ासे लोकप्रिय थे और 1958 में शुरू हुए सामूहिकीकरण की सफलता और कृषि-कम्यूनों के उभार में इन स्कूलों ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सामूहिकीकरण की सफलता के लिए ज़रूरी कृषि विशेषज्ञ और टेकनीशियनों का एक बड़ा हिस्सा इन्हीं माध्यमिक स्कूलों से आता था जो स्थानीय परिस्थितियों और उत्पादन प्रणालियों से अच्छा-ख़ासा वाक़िफ़ था। 'मीन-बान' स्कूलों की सफलता का एक सबूत यह है कि 1957 और 1958 के बीच चीन में माध्यमिक शिक्षा में नामांकन दोगुना हो गया। शहरों के सभी स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों को वर्कशॉप और छोटे कारख़ाने लगा कर उत्पादन प्रक्रिया शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया गया। जो शिक्षा संस्थान कारख़ाने या वर्कशॉप बनाने में सक्षम नहीं थे, उन्हें पास के किसी कारख़ाने में कुछ समय के लिए काम करना था। साथ ही सभी बड़े कारख़ानों को भी अपने परिसर में स्कूल स्थापित करने को कहा गया। विज्ञान के छात्रों की प्रयोगशाला अब उनके स्कूल या कॉलेज के एक छोटे से कमरे तक सीमित नहीं थी, बल्कि कारख़ाने और बड़े-बड़े खेत उनकी प्रयोगशाला बन गये थे, जहाँ वे वास्तविक उत्पादन प्रक्रिया में सक्रिय हिस्सा लेते हुए अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को परख रहे थे और उसे विकसित कर रहे थे। स्कूल और उत्पादन स्थल के बीच पहले जो दीवार हुआ करती थी, वह अब गिरने लगी थी। शहरों से छात्रों को ग्रामीण इलाकों में किसानों के साथ मिलकर काम करने और उनकी दुनिया और उनकी ज़िन्दगी में कुछ समय के लिए जीने के लिए भी भेजा गया।

महान अग्रवर्ती छलाँग के समाप्त होने के बाद जब पार्टी और राज्यसत्ता के ऊपर संशोधनवादी लाइन हावी होने लगी, तब शिक्षा में लाये गए इन रेडिकल प्रयोगों को भी तिलांजलि देने की प्रक्रिया शुरू हो गयी। करीब पाँच साल तक शिक्षा में चली प्रतिक्रान्ति की लहर को महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति ने 1966 में निगल लिया और क्रन्तिकारी चीनी शिक्षा ने फ़िर से अपने विकास-मार्ग पर दृढ़ता के साथ कूच किया।

शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने का जो बीज येनान में बोया गया था और जो महान अग्रवर्ती छलाँग के दौरान एक सुन्दर पौधा बन गया था, महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति में मिले अनुकूल परिवेश में वह पौधा एक विशाल वृक्ष में बदल गया। इस दौरान महान अग्रवर्ती छलाँग के प्रयोगों को काफ़ी व्यापक पैमाने पर लागू किया गया। सर्वहारा क्रान्ति के साथ खड़े छात्र, शिक्षक, बुद्धिजीवी और विशेषज्ञ सभी ने उत्पादक शारीरिक श्रम में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया।

शिक्षा संस्थानों को, विशेष तौर पर विज्ञान की पढ़ाई को "खुली द्वार नीति" (ओपन डोर पॉलिसी) के तहत चलाया गया जिसका अर्थ था - शिक्षा को कक्षा के चौहद्दियों से आज़ाद करना और स्कूल को व्यापक समाज के साथ जोड़ना। एक ओर स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय के छात्र खेतों और कारख़ानों में काम करते और अपने सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में उतारते। वहीं दूसरी ओर मज़दूर और किसान स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालयों में पढ़ने के लिए जाते जहाँ उन्हें अपने व्यावहारिक ज्ञान के सैद्धान्तिक पहलुओं को समझने की शिक्षा मिलती। इस प्रक्रिया में उन्हें अपने इन्द्रिय-ग्राह्य ज्ञान (perceptual knowledge) को तर्कसंगत ज्ञान (rational knowledge) के धरातल पर विकसित करने का ज्ञान हासिल होता। "कम्यून से स्कूल और स्कूल से कम्यून" तथा "कारख़ाने से स्कूल और स्कूल से कारख़ाना" के नारे दिये गये जिसके तहत कारख़ाने और कम्यून अपने चुने हुए मज़दूरों और किसानों को स्कूल और कॉलेजों में उच्च शिक्षा के लिये भेजते। कुछ महीने या कुछ साल उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद मज़दूर और किसान कम्यून और कारख़ानों में वापस लौट आते थे। यह साफ़ देखा गया कि जब इन मज़दूरों के वर्षों के व्यावहारिक अनुभव को सैद्धान्तिक ज्ञान की रौशनी मिली तो न केवल उनकी उत्पादकता में बढ़ोत्तरी हुई बल्कि वे वैज्ञानिक और तकनीकी शोध कार्य में भी अपना योगदान देने लगे। इस मामले में शंघाई मशीन टूल कारख़ाना पूरे देश में ऐसा मशहूर कारख़ाना बना, जिसमें मज़दूरों ने तकनीकी शिक्षा हासिल करने के बाद बेहतर किस्म की मशीनों को डिज़ाइन करने में प्रशिक्षित इंजीनियरों और तकनीशियनों को भी पीछे छोड़ दिया था। कम्यून और कारख़ानों से किसान और मज़दूर महज़ पढ़ने के लिए ही स्कूल, कॉलेजों में नहीं जाते थे, बल्कि उनमें से सबसे उन्नत तत्व स्कूल और कॉलेजों में पढ़ाते भी थे। मजदूर वर्ग से आने वाले छात्रों और शिक्षकों की आलोचनाओं और टिप्पणियों से प्रशिक्षित शिक्षक और प्रोफ़ेसर भी शिक्षा लेते थे और ग़लतियाँ भी सुधारते थे। इस आलोचना-आत्मालोचना की प्रक्रिया में शिक्षक और प्रोफ़ेसरों ने अमेरिकी तथा सोवियत शिक्षा व्यवस्था का अन्धा अनुसरण करने की प्रवृत्ति से भी स्वयं को मुक्त किया। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने के प्रयोग से ऐसे विशेषज्ञ और बुद्धिजीवी पैदा हुए जो सक्रिय तौर पर उत्पादक शारीरिक श्रम करने में समर्थ थे और ऐसे मज़दूर-किसान तैयार हुए जो बौद्धिक श्रम भी भली-भाँति कर सकते थे।

हमें यहाँ इस बात पर ध्यान देने की ज़रूरत है कि शिक्षा को उत्पादक शारीरिक श्रम से जोड़ने का एक मात्र लक्ष्य सिद्धान्त और व्यवहार के बीच के अन्तर को समाप्त करना नहीं था बल्कि इसका एक और महत्वपूर्ण उद्देश्य था छात्रों, बुद्धिजीवियों और कम्युनिस्ट काडरों को मज़दूर वर्ग और आम मेहनतक़श जनता की ज़िन्दगियों के करीब लाना, उनके साथ जीवन्त सम्पर्क स्थापित करना था। माओ का यह साफ़ मानना था कि मज़दूरों-किसानों के साथ उत्पादन प्रक्रिया और वर्ग संघर्ष में भागीदारी किये बग़ैर छात्र और बुद्धिजीवियों में सच्ची समाजवादी चेतना का सृजन करना असम्भव था। मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद की शिक्षाओं को आत्मसात करने, सर्वहारा राजनीति को कमान में रखने, मज़दूरों-किसानों के साथ ख़ुद को जोड़ने, उनसे शिक्षित होने और उनकी सेवा करने की प्रक्रिया में ही छात्र, नौजवान और बुद्धिजीवी अपने आप को बुर्जुआ विचारों और प्रवृतियों के प्रभाव से मुक्त कर सकते हैं और अपना क्रान्तिकारी रूपान्तरण कर सकते हैं। युवाओं को मज़दूरों-किसानों के जनसमूह से ख़ुद को जोड़ने की ज़रूरत को रेखांकित करते हुए माओ लिखते हैं "हम इसका फ़ैसला कैसे करेंगे कि कोई नौजवान क्रान्तिकारी है या नहीं? हम कैसे बता सकते हैं? इसे परखने का बस एक ही पैमाना है कि क्या वह नौजवान मज़दूरों और किसानों के व्यापक जनसमुदाय के साथ जुड़ने के लिए तैयार है और क्या वह ऐसा व्यवहार में करता है? अगर वह ऐसा करने के लिए तैयार है और वह वाकई ऐसा करता है तो वह एक क्रान्तिकारी है; नहीं तो वह एक ग़ैर-क्रन्तिकारी या प्रति क्रान्तिकारी है।" ("The Orientation of the Youth Movement" (May 4, 1939), Selected Works, Vol. II, p. 246, अनुवाद हमारा)

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान मेहनतकश जनता के साथ एक होने, उनसे सीखने और उनकी सेवा करने का नारा सबसे मुखर तौर पर बुलन्द किया गया और इस नारे को व्यवहार में उतारने का एक महत्वपूर्ण साधन बना शिक्षा को उत्पादक श्रम से जोड़ना। उच्च शिक्षा या कोई नौकरी पाने के लिए माध्यमिक स्कूल से उत्तीर्ण होने के बाद छात्रों का कम से कम एक से दो साल ग्रामीण इलाकों में उत्पादक श्रम में भागीदारी करना एक ज़रूरी शर्त बना दिया गया। एक लेखक के अनुसार 1968 और 1977 के बीच 1.2 करोड़ छात्र शहरों से अपनी माध्यमिक शिक्षा खत्म कर गाँवों में आ गये जहाँ जीवन शहरों की तुलना में ज्यादा कठिन था। मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर को कम करने के साथ-साथ इस

प्रयोग के द्वारा गाँवों और शहरों के अन्तर को भी कम करने की कोशिश की गयी।

प्रवेश परीक्षा की परम्परा की पूरी समाप्ति : उस समय चीन में इंजीनियर, डॉक्टर, प्रोफेसर बनने का या कोई और अच्छी सरकारी नौकरी पाने के लिए परीक्षाओं में अच्छे अंक लाकर देश के सबसे अच्छे स्कूलों और कॉलेजों में दाखिला लेना सबसे बेहतर रास्ता हुआ करता था। इन परीक्षाओं में प्रतिस्पर्धा बहुत अधिक हुआ करती थी। यह ज़ाहिर सी बात थी कि शासक वर्गों से आने वाले छात्र ही ज्यादातर इन प्रवेश परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुआ करते थे क्योंकि उनके पास सदियों के सांस्कृतिक और शैक्षणिक प्रभुत्व का अनुभव हुआ करता था। लम्बे समय से मज़दूरों, किसानों, सैनिकों, क्रान्तिकारी छात्रों और शिक्षकों के व्यापक जनसमुदाय ने यह बता दिया था कि वे पारम्परिक प्रवेश परीक्षा की व्यवस्था से खुश नहीं हैं और इसलिए वे इसे समाप्त करने की माँग कर रहे थे। जून 13,1966 को चीनी कम्युनिस्ट पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पुरानी प्रवेश परीक्षा की व्यवस्था को ख़त्म करने की घोषणा की। यह महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान शिक्षा के क्षेत्र में किया गया पहला बड़ा परिवर्तन था। क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा के समर्थकों का यह स्पष्ट मानना था कि स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में प्रवेश परीक्षा में मिले अंक के आधार पर दाख़िले की व्यवस्था के कारण ज्यादातर मज़दूरों, छोटे और निम्न-मध्यम किसानों, क्रान्तिकारी काडरों, क्रान्तिकारी सैनिकों, क्रान्तिकारी शहीदों के बच्चों को दाख़िला नहीं मिल पता पता है। इसके ज़रिये पुराने शोषक वर्ग शिक्षा संस्थानों पर अपना आधिपत्य बनाए रखने में कामयाब होते हैं। इन संस्थानों में वे अपने खोये हुए स्वर्ग को दुबारा हासिल करने के उद्देश्य से अपनी नयी पीढ़ी को शिक्षित-प्रशिक्षित करते हैं। यह व्यवस्था नौजवानों की चेतना के क्रान्तिकारी होने में बाधा डालती है और उनमें व्यक्तिगत शोहरत और ओहदे की भूख पैदा करके उन्हें बुर्जुआ पेशेवर बनने के लिए प्रेरित करती है। शिक्षा के क्षेत्र में चल रहे वर्ग संघर्ष को सर्वहारा वर्ग के पक्ष में मोड़ने के लिए यह ज़रूरी था कि स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय में दाख़िले की नीति सर्वहारा वर्ग और उसके सहयोगी वर्गों के अनुकूल हो। क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था ने यह ऐलान किया कि जहाँ तक इम्तहानों में अंक हासिल करने की बात है तो "अंको के हिसाब से सब एक समान" नहीं होते हैं और शिक्षा संस्थानों में दाख़िले के सन्दर्भ में भी सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व स्थापित किया जाएगा।

दाख़िले की पुरानी संयुक्त राष्ट्रीय प्रवेश परीक्षा के समाप्त होने के बाद जो नयी प्रणाली लायी गयी, उसके अनुसार निर्धारित उत्पादन इकाइयाँ (कारख़ाने, कम्यून, उत्पादन ब्रिगेड आदि) और सेना की इकाइयाँ कॉलेजों और विश्वविद्यालयों के दाख़िले के लिए कुछ उम्मीदवारों के नाम सुझाव के तौर पर भेजती थीं और उम्मीदवारों का अन्तिम चयन कॉलेजों और विश्वविद्यालयों की क्रान्तिकारी कमेटियाँ किया करती थीं। ये क्रान्तिकारी कमेटियाँ क्रान्तिकारी छात्रों, शिक्षकों, सैनिकों, काडरों और मज़दूरों-किसानों की संयुक्त कमेटियाँ हुआ करती थीं जो सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान ही अस्तित्व में आयी थीं। (यह क्रान्तिकारी कमेटियाँ सिर्फ़ शिक्षा में ही नहीं बल्कि उत्पादन और अधिरचना के सारे क्षेत्रों में बनी थीं और कहा जा सकता है कि ये कमेटियाँ महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के तृणमूल स्तर की मुख्य संचालक इकाइयाँ थीं।) छात्रों के चयन में मज़दूर-किसान वर्ग से आने वाले उम्मीदवारों को प्राथमिकता दी जाती थी और उम्मीदवारों के अतीत के राजनीतिक व्यवहार और उत्पादक श्रम और वर्ग संघर्ष में सक्रिय भागीदारी को ध्यान में रखा जाता था।

समान स्कूल व्यवस्था की स्थापना : 1958 में महान अग्रवर्ती छलाँग के दौरान देश भर में 'मीन-बान' और 'आधा काम-आधी पढ़ाई' वाले स्कूलों की शुरुआत होने के बावजूद कई अलग-अलग क़िस्म के स्कूल मौजूद थे जो गुणवत्ता, पाठ्यक्रम, प्रबन्धन और वित्तपोषण में एक दूसरे से काफ़ी अलग थे। इन स्कूलों को मुख्यतः दो व्यापक धाराओं में बाँटा जा सकता है - पहली धारा थी राज्य द्वारा चलायी जाने वाली नियमित स्कूलों की और दूसरी थी उत्पादन ब्रिगेड, कम्यून या कारख़ानों द्वारा चलाये जा रहे मीन-बान या 'आधा काम-आधी पढ़ाई' वाले स्कूल। पहली धारा के स्कूलों को बेहतर स्कूल माना जाता था जहाँ पढ़ाई -लिखाई पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाता था और उत्पादक श्रम पर ज़ोर कम रहता था। जहाँ राज्य द्वारा वित्तपोषित होने के कारण बेहतर संसाधन और ज्यादा क़ाबिल शिक्षक थे। इन नियमित स्कूलों में 'की-पॉइन्ट'(key point) सबसे कुलीन स्कूल हुआ करते थे जिन्हें देश के चुनिन्दा सबसे बेहतरीन स्कूलों में गिना जाता था। इन 'की-पॉइन्ट' स्कूलों को सरकारी अनुदान का सबसे बड़ा हिस्सा मिलता था। इन स्कूलों में मुख्यतः ऊँचे ओहदे वाले सरकारी अफ़सर, वरिष्ठ काडर, विशेषज्ञ और बुद्धिजीवियों के बच्चे ही दाखिला पाते थे। इसलिए मज़दूरों-किसानों और क्रान्तिकारी छात्रों को इन की-पॉइन्ट स्कूल के साथ साथ मौजूद बहु-स्तरीय स्कूल व्यवस्था उतनी ही नापसन्द थी जितनी उन्हें प्रवेश परीक्षा नापसन्द थी। इसलिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरू होने के बाद इन 'की-पॉइन्ट' स्कूलों के सभी विशेषाधिकारों को ख़त्म कर दिया गया और बहु-स्तरीय स्कूल व्यवस्था के बदले एक समान स्कूल व्यवस्था स्थापित की गयी। ग्रामीण इलाकों में नियमित और मीन-बान स्कूलों में अन्तर को ख़त्म करके ज्यादातर स्कूलों को उत्पादन ब्रिगेड और कम्यूनों को सौंप दिया गया और राज्यों से उन्हें बस छोटे पैमाने का अनुदान मिलता था। ग्रामीण स्कूलों के इस प्रबन्धन का शहरों में हूबहू नक़ल नहीं किया जा सकता था। इसलिए

शहरों के सारे स्कूलों को राज्य प्रबन्धन के अन्तर्गत लाया गया और 'की-पॉइन्ट स्कूल' और प्रवेश परीक्षाओं के जड़मूल से समाप्त होने के बाद उनके बीच के तथाकथित गुणात्मक अन्तर भी समाप्त हो गये। सारे स्कूलों में अब औपचारिक पढ़ाई और उत्पादक शारीरिक श्रम को समान समय और समान महत्व दिया जाता था। इसके अलावा काडरों के बच्चों के लिए विशेष स्कूल, बालिकाओं के लिए अलग स्कूल, सैनिकों के बच्चों के लिए विशेष स्कूल, विश्वविद्यालय परिसर में चल रहे विशेष स्कूल आदि के भी विशेषाधिकारों को ख़त्म करके उनको राज्य द्वारा चलाये जाने वाले साधारण स्कूल की श्रेणी में ले आया गया।

शिक्षा में जनता की पहलक़दमी : महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान माओ ने जनता की पहलक़दमी और प्रबन्धन और निर्णय की प्रक्रिया में उनकी भागीदारी पर ख़ासा ज़ोर दिया। जनता की अपार क्रान्तिकारी और सृजनात्मक ऊर्जा को उभारकर उसे सही दिशा में इस्तेमाल करने के लिए पार्टी और जनता के बीच के द्वन्द्वात्मक समबन्ध को रेखांकित किया गया और पार्टी को जनता से सीखते हुए जनता को सही नेतृत्व प्रदान करने की ज़रूरत पर बल दिया गया। इस दौरान चीनी समाज के अन्य सभी क्षेत्रों की तरह ही शिक्षा के क्षेत्र में भी जनता की पहलक़दमी और सृजनात्मकता की बेहतरीन मिसालें देखने को मिलीं। स्कूल, कॉलेज, और विश्वविद्यालय के प्रबन्धन की ज़िम्मेदारी क्रान्तिकारी कमेटियों के कन्धों पर आ गयी। शिक्षा अनुष्ठानों में यह क्रान्तिकारी कमेटियाँ मज़दूर-किसान, पार्टी काडर और क्रान्तिकारी छात्रों-शिक्षकों के संश्रय से बनती थी जो पार्टी कमेटियों के अधीन थी। छात्रों का दाखिला, शिक्षकों की भर्ती, पाठ्यक्रम की विशेषताओं का निर्धारण, वित्तीय लेखा-जोखा इत्यादि सभी छोटे से छोटे और बड़े से बड़े कामों में इन क्रान्तिकारी कमेटियों की विशेष भूमिका होती थी। क्रान्तिकारी कमेटियों का अस्तित्व में आना "बुर्जुआ वर्ग के ऊपर सर्वहारा वर्ग के चौमुखी अधिनायकत्व" को सुदृढ़ करने की ओर एक निर्णायक क़दम था।

इसके साथ ही छात्र-शिक्षक सम्बन्ध में भी आमूलचूल परिवर्तन आये। शैक्षणिक संस्थाओं का प्रबन्धन, पाठ्यक्रम की रूप-रेखा तैयार करना इत्यादि तमाम निर्णय प्रक्रियाओं में छात्रों को सक्रिय हिस्सेदारी प्राप्त हुई। इसके अलावा पढ़ने-पढ़ाने की प्रक्रिया में भी बुनियादी बदलाव लाये गये। छात्रों और शिक्षकों के बीच एक द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध बना जिसके अनुसार शिक्षक न केवल छात्रों को पढ़ाते थे, बल्कि उनसे सीखते भी थे। महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान क्रान्तिकारी छात्रों के द्वारा शिक्षकों के पढ़ाने के तरीकों पर और उनकी बुर्जुआ प्रवृत्तियों पर खुल कर बेझिझक आलोचना करना एक आम बात बन गयी थी। छात्रों के पास अब यह ताक़त थी कि वे मज़दूर-किसान और क्रान्तिकारी काडरों के साथ मिल कर इस बात का निर्धारण करें कि उन्हें कौन पढ़ायेगा? कैसे पढ़ायेगा? और क्या पढ़ायेगा? दूसरे शब्दों में कहा जाए तो उनकी शिक्षा की कमान अब स्वयं उनके अपने हाथों में थी।

महान अग्रवर्ती छलाँग और ख़ास करके महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान शिक्षा एक जन आन्दोलन बन गयी। न केवल शैक्षणिक संस्थानों के प्रबन्धन में जन कार्यदिशा लागू की गयी, बल्कि पढ़ने और पढ़ाने जैसी बुनियादी शिक्षा प्रक्रिया भी एक जन कार्रवाई बन गयी। मज़दूरों-किसानों का पढ़ना, पढ़ाना और शोध करना इसका एक उदाहरण है, जिसके बारे में हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं। सही मायनों में जनता की शिक्षा तक पहुँच क्या होती है? इसके बारे में शशि प्रकाश ने अपने लेख 'समाजवाद की समस्याएँ, पूँजीवादी पुनर्स्थापना और महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति' में लिखा है"माओ ने ज्ञान के व्यक्तिगत सम्पत्ति होने के बुर्जुआ दर्शन पर प्रहार करते हुए जनसमुदाय को बताया कि ज्ञान एक सामाजिक सम्पत्ति है और इस पर कुछ लोगों का अधिकार बुर्जुआ वर्ग की सत्ता का एक प्रबल भौतिक आधार है। द्वन्द्ववाद और अन्य दार्शनिक विषय जो अब तक जनता के लिए अबूझ माने जाते थे और उसकी पहुँच से बाहर थे, उनका सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान व्यापक प्रसार हुआ और आम मेहनतकश जनता ने इन्हें आत्मसात करके दैनन्दिन व्यवहार में लागू करने की चमत्कारी मिसालें क़ायम कीं।" इसी प्रक्रिया का एक विस्तृत उदाहरण हमें 'दर्शन कोई रहस्य नहीं' लेख में देखने को मिलता है जिसमें चेकियांग प्रान्त के चिंचिएन उत्पादन ब्रिगेड के किसानों के अनुभव का वर्णन किया गया है कि किस प्रकार उन्होंने माओ के अन्तरविरोध सम्बन्धी लेखों का गहन अध्ययन करके उत्पादन सम्बन्धी स्थानीय समस्याओं को हल किया, उत्पादन को कई गुना बढ़ाया और संशोधनवादियों द्वारा समूहिकीकरण की प्रक्रिया में अड़चन डालने के प्रयासों को परास्त किया। देश भर में सैकड़ों मज़दूरों और किसानों के 'दर्शन-अध्ययन समूह' बने जिन्होंने न केवल मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी विज्ञान का जनता के बीच प्रचार-प्रसार किया बल्कि खुद कई दर्शन सम्बन्धी लेख भी लिखे। विश्वविद्यालयों और अकादमिक दायरों को लाँघते हुए दर्शन और विज्ञान कारख़ानों और खेत-खलिहानों में जा स्थापित हुआ। जनता की पहलक़दमी और सृजनात्मक शक्ति को निर्बन्ध करने में मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओवाद उनका हथियार बना तथा माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी उनकी पथ प्रदर्शक।

सर्वहारा वर्ग की राजनीति को कमान में रख कर शिक्षा को एक जन आन्दोलन का रूप दिया गया, इसे उत्पादक शारीरिक श्रम के साथ जोड़ते हुए मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर को मिटाया गया और प्रवेश परीक्षाओं को समाप्त कर

समान स्कूल व्यवस्था की स्थापना की गयी। इन क्रान्तिकारी राजनीतिक प्रयासों का ही परिणाम था कि उच्च शिक्षा में मज़दूर और किसान वर्ग के छात्रों की हिस्सेदारी क्रमशः बढ़ती गयी। 1952 में उच्च शिक्षा में मज़दूर और किसान वर्ग के छात्रों का अनुपात 21 प्रतिशत था जो 1958 में बढ़ कर 48 प्रतिशत, 1962 में 67 प्रतिशत हो गया और 1970 आते आते यह दर 90 तक पहुँच गय।

वैज्ञानिक व तकनीकी शोध और विकास : समाज के सभी क्षेत्रों की तरह वैज्ञानिक व तकनीकी शोध और विकास में भी जन कार्यदिशा लागू की गयी और जनता की पहलक़दमी और सृजनात्मकता और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीन में विज्ञान और तकनीकी विकास ने, ख़ासकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान, तीव्र गति पकड़ी । चीन के क्रान्तिकारी वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं और मज़दूर-किसानों ने पूँजीवादी देशों में प्रचलित इस बुर्जुआ प्रथा को समाप्त किया कि शुद्ध-वास्तविक शोध सिर्फ़ 'आदर्श' परिवेश में, प्रयोगशालाओं के बन्द दरवाज़ों के पीछे, आम मेहनतकश जनसमुदाय के वर्ग संघर्ष और शारीरिक श्रम से कट कर, महज़ बौद्धिक चिन्तन-मनन करते हुए ही किया जा सकता है। जैसा कि हमने पहले चर्चा की है कि मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के अन्तर को मिटाने की प्रक्रिया में ऐसे बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक और तकनीकी विशेषज्ञ पैदा हुए जो उत्पादक शारीरिक श्रम और वर्ग संघर्ष में भी सक्रिय हिस्सेदारी करते थे और ऐसे मज़दूर-किसान निकले जो बौद्धिक श्रम और वैज्ञानिक शोध भी करते थे। सारी उत्पादन इकाइयों में शोध कार्य मज़दूरों-किसानों, तकनीकी विशेषज्ञों-वैज्ञानिकों और पार्टी काडरों के संश्रय से बने 'एक में तीन' समूहों (3-in-1 groups) के द्वारा किये जाते थे। वैज्ञानिक प्रयोग और शोध में बड़े पैमाने में जनता की भागीदारी का एक उदाहरण है ग्रामीण प्रयोग समूहों (rural experimentation groups) का बनना जो ज़िला विज्ञान विभाग के साथ सम्पर्क रखते हुए स्थानीय स्तर पर वैज्ञानिक व तकनीकी शोध कार्य किया करते थे। सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान एक करोड़ से ज़्यादा मज़दूर, किसान और युवा तकनीशियन इन समूहों का हिस्सा बने थे। क्रान्तिकारी चीनी वैज्ञानिकों और शोधकर्ताओं ने वैज्ञानिक शोध और तकनीकी विकास के क्षेत्र में मार्क्सवादी पहुँच और पद्धति के प्राधिकार को स्थापित किया और वैज्ञानिक दायरों में फैले हुए भाववादी, अधिभूतवादी और अनुभववादी पद्धतियों और सिद्धान्तों के खिलाफ़ अनवरत संघर्ष चलाया।

इस दौरान चीन ने कृषि विज्ञान, भूविज्ञान, चिकित्सा विज्ञान, परमाणु शक्ति, अन्तरिक्ष शोध, सामरिक शोध, अर्धचालक (semiconductor) सम्बन्धी शोध इत्यादि में विशेष तरक्की हासिल की। चीनी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति की एक ऊपरी समझ पाने के लिए हम भारत और चीन की वैज्ञानिक उपलब्धियों की एक सरसरी तुलना कर सकते हैं। प्रथम परमाणु बम के परीक्षण में और अन्तरिक्ष में खुद अपने कृत्रिम उपग्रह छोड़ने में चीन भारत से दस साल आगे था और इन उपलब्धियों को हासिल करने वाला दुनिया का महज़ पाँचवा देश था। यह ध्यान देने की बात है कि भारत को उस दौरान दोनों महाशक्तियों से वैज्ञानिक और तकनीकी मदद मिलती थी। जबकि चीन को किसी विकसित पूँजीवादी देश से कोई मदद तो दूर, यहाँ तक कि ख्रुश्चेव के आने के बाद सोवियत संघ से जो कुछ मदद मिलती थी, वह भी मिलनी बन्द हो गयी। इसके विपरीत दोनों महाशक्तियाँ चीन के वैज्ञानिक और तकनीकी विकास में रोड़ा अटकाने का प्रयास करने लगीं। इन प्रतिकूल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का सामना करते हुए क्रान्तिकारी चीन ने इतनी वैज्ञानिक और तकनीकी तरक्की कर ली कि वह तीसरी दुनिया के पिछड़े देशों और राष्ट्रीय मुक्ति में संघर्षरत जनता को वैज्ञानिक और तकनीकी मदद प्रदान करने की स्थिति में आ गया। यह ज़ाहिर है कि जब पूरे जनसमुदाय को बचपन से ही एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण दिया जाता है और जब विज्ञान चन्द पूँजीपति घरानों की निजी सम्पत्ति की जगह जनसमुदाय के प्राधिकार में सामाजिक सम्पत्ति बन जाता है, जिस पर पूरे जनसमुदाय का अधिकार हो तब विज्ञान इंसान की सारी ज़रूरतों को पूरा करते हुए तेज़ी से आगे बढ़ता है। ऐसे विज्ञान के विकास की कोई सीमा नहीं होती जिसके विकास में करोड़ों मेहनतकश लोगों की सृजनात्मक शक्ति लगी होती है।

जगह की सीमा के कारण समाजवादी चीन में हासिल की गयी वैज्ञानिक और तकनीकी उपलब्धियों के बारे में हम यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं कर पा रहे हैं। मगर वैज्ञानिक और तकनीकी शोध के बारे में यहाँ यह संक्षिप्त चर्चा इसलिए आवश्यक थी क्योंकि माओ की मृत्यु के बाद जब चीन में पूँजीवादी पुनर्स्थापना हो गयी तो देंग श्याओ पिंग और उसके संशोधनवादी समर्थकों ने महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति और क्रान्तिकारी शिक्षा व्यवस्था की उपलब्धियों को नकारते हुए उसे एक 'महान विपदा' साबित करने के लिए इस बात का काफ़ी शोर मचाया कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान बुद्धिजीवियों के साथ बहुत नाइंसाफ़ी हुई, जिसकी वज़ह से देश में वैज्ञानिक और तकनीकी विकास बाधित हुए। उस दौर में चीन की यात्रा करने वाले पश्चिमी देशों के बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों और शोधकर्ताओं के विस्तृत विवरणों से तथा कुछ नए शोधों से यह बात साफ़ हो गयी है कि देंग और उसके समर्थकों के द्वारा फैलाया गया यह एक झूठ था, सफ़ेद झूठ। यह बिल्कुल ग़लतबयानी है कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौर में वैज्ञानिक शोध और तकनीकी विकास रुक गया था। तथ्य इसके विपरीत बात करते हैं। पश्चिमी वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों के विवरणों से पता चलता है की वे चीनी

समाज में आम जनता की विज्ञान तक सीधी पहुँच को देख कर प्रभावित थे। इतना ही नहीं, जनता की बुनियादी समस्याओं को हल करने में विज्ञान के सक्रिय उपयोग से भी वे बेहद प्रभावित थे। यह सच है कि सांस्कृतिक क्रान्ति के शुरुआती दिनों में वर्ग संघर्ष की जो भीषण लपटें संशोधनवादियों के छुपे भूमिगत आशियानों पर धावा बोल रही थीं, उन लपटों की ज़द में कुछ ऐसे बुद्धिजीवी भी ज़रूर आ गए थे जो मुख्यतः स्वयं संशोधनवादी या उनके समर्थक भी नहीं थे। यह भी सच है कि कई स्कूल और कॉलेजों में संशोधनवाद के खिलाफ़ वैचारिक-राजनीतिक संघर्ष ने छात्र गुटों के बीच हाथापाई की शक्ल भी ले ली थी। मगर जैसा माओ ने कहा था "क्रान्ति एक प्रीतिभोज नहीं है, या एक रचना लिखने या चित्रकारी करने या कढ़ाई करने के सामान भी नहीं है ; यह इतना सभ्य, इतना मन्थर और सौम्य, इतना शान्त, दयालु, शालीन, संयमित और उदार नहीं हो सकती। क्रान्ति एक विद्रोह है, एक हिंसक परिघटना है जिसमें एक वर्ग दूसरे वर्ग को बल पूर्वक उखाड़ फेकता है।" ("A revolution is not a dinner party, or writing an essay, or painting a picture, or doing embroidery; it cannot be so refined, so leisurely and gentle, so temperate, kind, courteous, restrained and magnanimous. A revolution is an insurrection, an act of violence by which one class overthrows another.") आमूलचूल क्रान्तिकारी परिवर्तन के दौरान ऐसी कुछ गलतियों से बच पाना कठिन होता है क्योंकि यह परिवर्तन इतना वेगवाही होता है कि एक-एक पहलू को नियन्त्रण में रख पाना लगभग असम्भव होता है। लेकिन चूँकि ऐसे परिवर्तनों का सार सर्वहारा अधिनायकत्व की रक्षा करते हुए वर्ग संघर्ष को आगे बढ़ाना होता है तो पूरा यक़ीन होता है कि चीज़ें बेहद ज़ल्द नियन्त्रण में कर ली जाएँगी।

समाजवादी चीन में शिक्षा के क्षेत्र में हुए क्रान्तिकारी प्रयोग के कुछ विशेष पहलुओं पर हमने यहाँ चर्चा की है। 1976 में माओ की मृत्यु के बाद 'गैंग ऑफ़ फोर' और अन्य क्रान्तिकारी नेताओं को क़ैद करने के बाद चीन में देंग श्याओ पिंग के नेतृत्व में पूँजीवादी पुनर्स्थापना शुरू हो गयी। इसके बाद चीनी शिक्षा व्यवस्था में भी संशोधनवादियों का दबदबा कायम हो गया। एक-एक करके क्रान्तिकारी चीनी शिक्षा व्यवस्था के सभी क्रान्तिकारी प्रयोगों का परित्याग कर दिया गया। 1977 में ही संयुक्त प्रवेश परीक्षा और 'की-पॉइन्ट' स्कूलों को बहाल कर दिया गया और 1980 आते आते शिक्षा को शारीरिक श्रम से जोड़ने के प्रयोग को समाप्त कर दिया गया। स्कूलों और कॉलेजों में शारीरिक श्रम को महज़ एक औपचारिक काम बना कर छोड़ दिया गया। आज चीन की शिक्षा व्यवस्था किसी भी अन्य पूँजीवादी देश की शिक्षा व्यवस्था जैसी रह गयी है। पूँजीवादी पुनर्स्थापना के बाद शिक्षा के प्रतिक्रान्तिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया की भी यहाँ विस्तार से चर्चा नहीं की जा सकती है। यह लेख हमारे पाठकों को समाजवादी चीन और सोवियत संघ में शिक्षा के क्षेत्र में किये गए प्रयोगों से परिचित करवाने का एक छोटा प्रयास था। समाजवादी शिक्षा व्यवस्था और शिक्षा पद्धति की गहन समझदारी के लिए चीन और सोवियत संघ में हुए व्यापक प्रयागों के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता है। इसके साथ ही दूसरे अन्य देशों में भी हुए कुछ अपेक्षाकृत छोटे प्रयागों का भी अध्ययन ज़रूरी है। परिवर्तन का सपना देखने वाले सभी छात्रों और नौजवानों को इन तमाम प्रयोगों की उपलब्धियों और कमज़ोरियों से सबक़ लेने की आज बेहद ज़रूरी है। हमें समझना होगा कि एक समान-नि:शुल्क-वैज्ञानिक शिक्षा हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और अगर हमें यह हासिल नहीं है तो चीन के सर्वहारा वर्ग और आम मेहनकश जनता की तरह उन्नत और न्यायसंगत शिक्षा व्यवस्था के लिए महान संघर्ष छेड़ना होगा। आज अपने आप को इसी शिक्षा व्यवस्था में कहीं खपा कर या इससे वंचित रह कर चुप-चाप अज्ञानता में जीते चले जाने की जगह हमें यह सवाल पूछना होगा कि हमारी शिक्षा व्यवस्था का वर्ग चरित्र क्या है? यह किन वर्गों के हितों की नुमाइन्दगी करती है? क्या आज शिक्षा और ज्ञान सही मायनों में हर किसी की पहुँच में है? क्या हमारी शिक्षा व्यवस्था हमें श्रम की गरिमा सिखाती है? देश के बहु-स्तरीय स्कूली व्यवस्था और बहुस्तरीय उच्च शिक्षा का असली मक़सद क्या है? क्या यह हमें व्यापक जनसमुदाय के जीवन से सही मायनों में जुड़ने का अवसर देती है? क्या आज की शिक्षा हमें समाज को बदलने की प्रक्रिया में ख़ुद को भी बदलना सिखाती है? क्या हमें यह एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान करती है? क्या आज की शिक्षा सिद्धान्त को व्यवहार से अलग करके मानव ज्ञान के पैरों में बेड़ियों का काम नहीं कर रही? हमारे पाठ्यक्रमों में जो लिखा है क्या वह व्यापक जनसमुदाय की बुनियादी समस्याओं को हल करने का सामर्थ्य रखता है?

आज हमें महज़ फीस वृद्धि के खिलाफ संघर्ष और सबके लिए समान नि:शुल्क शिक्षा की माँग से आगे बढ़ते हुए एक क्रान्तिकारी शिक्षा की माँग करनी चाहिए। इस व्यवस्था की चौहद्दियों के भीतर इन सवालों का जवाब मिलना असम्भव है लेकिन इससे कम में ज्ञान और शिक्षा का सामाजीकरण भी असम्भव है। हमें अपनी शिक्षा से सम्बन्धित संघर्षों को व्यापक वर्ग संघर्ष से जोड़ना होगा। समाजवादी शिक्षा और शिक्षा व्यवस्था के प्रयोगों के बारे में आम छात्रों को अवगत कराते हुए बताना होगा कि बेहतर शिक्षा हासिल करने का संघर्ष मानव मुक्ति के ऐतिहासिक संघर्ष से जुड़ा हुआ है।

●

विश्व पटल पर

ब्राज़ील में बोल्सोनारो के ख़िलाफ़ तेज़ हुआ जनान्दोलन परन्तु चुनौती सरकार-विरोधी आन्दोलन को व्यवस्था-विरोधी रूप देने की है

आनन्द

ब्राज़ील के धुर-दक्षिणपन्थी राष्ट्रपति जेयर बोल्सोनारो के ख़िलाफ़ उसके कार्यकाल की शुरुआत से ही कई मुद्दों को लेकर लोग सड़कों पर उतरते रहे हैं। चाहे एमेज़ॉन के जंगलों की अन्धाधुँध कटाई की अनुमति देने का मुद्दा रहा हो या उसके कार्यकाल में भ्रष्टाचार के तमाम मुद्दे रहे हों, बोल्सोनारो के इस्तीफ़े या उसके ऊपर महाभियोग चलाने की माँग समय-समय पर उठती रही है। लेकिन कोरोना महामारी से मची तबाही में बोल्सोनारो सरकार की स्पष्ट भूमिका की वजह से लोगों के बीच बढ़ते असन्तोष ने अब एक व्यापक जनान्दोलन का रूप अख्तियार कर लिया है। गत 29 मई को राजधानी ब्रासीलिया, रियो दे जेनरो और साओ पॉलो सहित ब्राज़ील के 200 से भी अधिक शहरों में लाखों लोग सड़कों पर उतरे। इन प्रदर्शनों में बड़ी संख्या में मज़दूरों, छात्रों, युवाओं और महिलाओं ने भागीदारी की। प्रदर्शनकारियों के बैनर पर 'बोल्सोनारो जाओ' और 'बोल्सोनारो नरसंहारक' जैसे नारे लिखे थे। वे बोल्सोनारो पर महाभियोग चलाने की माँग कर रहे थे। मई माह में ही किये गये एक ओपिनियन पोल में 57 प्रतिशत लोग महाभियोग चलाने के पक्ष में दिखे जो दिखाता है कि ब्राज़ील की जनता का बड़ा हिस्सा बदलाव की माँग कर रहा है। ग़ौरतलब है कि 29 तारीख़ के ऐतिहासिक प्रदर्शन के अलावा भी मई के महीने में कई बार लोगों ने बोल्सोनारो के खिलाफ़ सड़कों पर उतरकर अपना आक्रोश जताया।

लोगों के आक्रोश की तात्कालिक वजह बोल्सोनारो सरकार की कोरोना संकट से निपटने में अक्षमता और ख़ुद बोल्सोनारो द्वारा महामारी को हल्के में लेने का रवैया है। ग़ौरतलब है कि ब्राज़ील में इस समय कोरोना की दूसरी लहर से भारत जैसी ही तबाही मची हुई है। वहाँ अब तक आधिकारिक रूप से कोरोना से साढ़े चार लाख से ज्यादा लोगों की मौत हो चुकी है जो दुनिया में केवल अमेरिका से कम है। बोल्सोनारो ने महामारी की शुरुआत से ही इसे हल्के में लिया और कोरोना को मौसमी सर्दी-जुक़ाम बताया। उसने मास्क पहनने वालों की खिल्ली उड़ाई और उसकी सरकार ने सोशल डिस्टेंसिंग को लागू नहीं करवाया और हालात क़ाबू से बाहर होने के बावजूद लॉकडाउन को लम्बे समय तक टालता रहा क्योंकि उसका मानना था कि ज्यादा लोगों को बीमारी फैलेगी तो उनमें 'हर्ड इम्यू निटी' विकसित हो जाएगी। यही नहीं, बोल्सोनारो ने ब्राज़ील के लोगों को कोरोना की वैक्सीन लगाने की भी कोई ठोस योजना नहीं बनायी जिसकी वजह से वहाँ अभी तक 10 फ़ीसदी से भी कम लोगों को वैक्सीन लग पायी है। बोल्सोनारो ने वैक्सीन लगवाने का भी मज़ाक़ उड़ाते हुए कहा था कि वैक्सीन लगाने वाले लोग मगरमच्छ में तब्दील हो जाएँगे। बोल्सोनारो के इस अवैज्ञानिक और कूपमण्डूक रवैये की वजह से लोगों का ग़ुस्सा लगातार बढ़ता गया है।

ब्राज़ील के जो नागरिक आज सड़कों पर उतरे हैं उनके ग़ुस्से की तात्कालिक वजह कोरोना संकट से हुई बदहाली है, लेकिन यह ग़ुस्सा लम्बे समय से ब्राजील के समाज में पल रहा था जिसकी जड़ में बोल्सोनारो और उसके पहले की सरकारों द्वारा बेशर्मी से लागू की गयी नवउदारवादी नीतियों की वजह से हो रही तबाही और बर्बादी है। ग़ौरतलब है कि ब्राज़ील की अर्थव्यवस्था इस समय भयंकर संकट से गुज़र रही है। इस साल की शुरुआत में बोल्सोनारो ने स्वयं यह स्वीरकार किया कि ब्राज़ील का सरकारी ऋण सकल घरेलू उत्पायद के 90 प्रतिशत तक पहुँच चुका है। कोरोना संकट ने अर्थव्यवस्था के संकट को और गहरा कर दिया है। पिछले दो सालों में ब्राज़ील में भुखमरी और कुपोषण की दर तेज़ी से बढ़ी है जिसकी वजह से भी कोरोना संक्रमण का कई गुना घातक असर देखने में आ रहा है क्योंकि ग़रीबों और मेहनतकशों में कोरोना की वजह से हुई मृत्युं की दर सबसे ज्यादा देखने में आयी है। पिछले एक साल में लाखों लोग बेरोज़गार हुए हैं जिसकी वजह से बेरोज़गारी आसमान छू रही है। बोल्सोनारो ने अपने कार्यकाल में शिक्षा, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी सुविधाओं में बड़े पैमाने पर कटौती की और तथाकथित पेंशन सुधारों के ज़रिये लोगों की रही-सही सामाजिक सुरक्षा भी छीन ली जिसका ख़ामियाज़ा आज ब्राज़ील की जनता को भुगतना पड़ रहा है।

बोल्सोनारो की तेज़ी से घटती लोकप्रियता और उसके ख़िलाफ़ उठ खड़े हुए व्यापक जनान्दोलन की वजह से ब्राज़ील के शासक वर्ग के माथे पर बल पड़ने शुरू हो गये हैं। उनकी सबसे बड़ी चिन्ता यह है कि कहीं सरकार-विरोधी आन्दोलन व्यवस्था-विरोधी आन्दोलन में न तब्दील हो जाये और राजनीतिक संकट व्यवस्था के संकट में न तब्दील हो जाये। इसी वजह से ब्राज़ील के कई पूँजीपति व मीडिया घराने अब बोल्सोनारो के विकल्पे के बारे में सोचने लग गये हैं। ब्राज़ील की संसद में बोल्सोनारो द्वारा कोरोना संकट के कुप्रबन्धन की जाँच-पड़ताल के लिए एक कमेटी भी बनायी जा चुकी है। ब्राज़ील की सेना के शीर्ष स्तर पर भी बोल्सोनारो के ख़िलाफ़ असंतोष पनप रहा है। शासक तबक़ों का एक हिस्सा लूला डी सिल्वा को वापस सत्ता में लाने के बारे में जनमत तैयार करने की योजनाएँ बनाने लगा है। हाल ही में लूला भ्रष्टाचार के आरोपों से बरी हुए हैं और उनके राजनीतिक अधिकारों की बहाली हुई है। ऐसे में यह ताज्जुब की बात नहीं होगी अगर लूला या किसी अन्यर उदारवादी बुर्जुआ चेहरे का इस्तेमाल लोगों के ग़ुस्से पर ठण्डा पानी छिड़ककर व्यवस्था की हिफ़ाजत के लिए किया जाये। दिक्क़त की बात यह है कि ब्राज़ील में चल रहा जनान्दोलन व्यापक तो है, परन्तु उसमें स्वत:स्फूर्तता का पहलू हावी है और उसे व्यवस्था -विरोधी आन्दोलन में तब्दील करने में सक्षम क्रान्तिकारी नेतृत्व का नितान्त अभाव है। यही वह पहलू है जो मौजूदा वर्ग संघर्ष में शासक वर्ग के पक्ष में जाता है और जिसकी वजह से शासक वर्ग के लिए यह आसान होगा कि जनता को मामूली रियायत देकर व्यवस्था के दायरे के भीतर ही आन्दोलन का दम तोड़ दिया जाये।

नाज़िम हिक़मत के स्मृतिदिवस (3 जून) पर

एक लाश पड़ी हुई है,
उन्नीस साल के नौजवान की लाश,
दिन दहाड़े सूरज की रोशनी में,
और रात में सितारों के नीचे,
इस्ताम्बुल के बेयाजित चौराहे पर.
एक लाश पड़ी हुई है,
एक हाथ में कापी,
और दूसरे हाथ में वह ख्वाब थामे
जो शुरू होने के पहले हीं टूट गया,
1960 की अप्रैल में,
इस्ताम्बुल के बेयाजित चौराहे पर
एक लाश पड़ी हुई है,
बन्दूक से दागी गई,
गोली का एक जख्म
जैसे कोई लाल कारनेशन उसके माथे पर,
इस्ताम्बुल के बेयाजित चौराहे पर
एक लाश पड़ी रहेगी.
बहता रहेगा उसका खून धरती पर,
जब तक उठ नहीं खड़ा होता मेरा वतन
और जबरन कब्जा नहीं कर लेता चौराहे पर
हथियारों और आजादी के तरानों के साथ
- मई, 1690
(अनुवाद: मनोज पटेल)

(3 जनवरी 1902 - 03 जून 1963)

हमारा आख़िरी जवाब

कुतर्कों, कठदलीली, कूढ़मग़ज़ी और कुलकपरस्ती की पवनचक्की के पंखों में गोल-गोल घिसट रहे *दोन किहोते दि ला पटना* और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली

सनी

धनी किसान-कुलक आन्दोलन के विषय में हमारी यानी कि 'आह्वान' की पिछले कई माह से चल रही 'यथार्थ'/'दि टूथ' पत्रिका से बहस में पाठकों के समक्ष अब तक दोनों पक्षों के सभी तर्क आ चुके हैं। जैसा कि कुछ दिनों पहले ही हमने स्पष्ट किया था कि यह हमारा आख़िरी जवाब होगा। वजह यह है कि 'यथार्थ/दि टूथ' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा मूर्ख मण्डली इस बहस में पहले ही औंधे मुंह पड़ी है, उसके सारे कुतर्क, कठदलील, गलदोदई और साथ ही शर्मनाक मूर्खता और अज्ञान पहले ही बेनक़ाब हो चुके हैं। साथ ही, बहस में पिट जाने के कारण हताशा के शिकार "यथार्थवादी" कुण्ठितों की गलबहियां जिस प्रकार के कुत्साप्रचारकों, स्त्री-विरोधी यौन कुण्ठितों और पतित तत्वों के साथ चल रही है, उसके बाद इनसे बहस करने का कोई साझा आधार वैसे भी समाप्त हो चुका है। और तीसरी बात, मूर्खता के ऐसे स्तर से लगातार *इंगेज* करना वक़्त की भी बरबादी है और इससे आपकी सेहत पर भी बुरा असर पड़ सकता है! यही वजह है कि 'आह्वान' की ओर से यह हमारा आख़िरी जवाब है।

हमने 'यथार्थ'/'दि टूथ' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुए विभिन्न प्रकार के बौद्धिक फ्रॉडों की तथाकथित "क्रान्तिकारी" लफ्फाज़ी के खोल में छिपी कुलकपरस्ती को लगातार उजागर किया है। साथ ही इस बहस में यह भी स्पष्ट हुआ है कि "यथार्थवादी" मण्डली के रूप में इकट्ठा हुए इन कुलक-प्रेमियों, जिनमें कि हमारे *दोन किहोते दि ला पटना* उर्फ़ "महासचिव" अजय सिन्हा और सोशल मीडिया के कुर्सीतोड़ "वामपन्थी" पत्रकार यानी कि मुकेश असीम प्रमुख हैं, का मार्क्सवाद से कोई लेना-देना नहीं है। हो भी नहीं सकता क्योंकि इसके लिए मार्क्सवाद के गम्भीर अध्ययन की आवश्यकता होती है। इसके अलावा हमने अब तक यह भी देखा कि बहस में पिट जाने और निरुत्तर हो जाने के बाद किस तरह *माटसाब* और "यथार्थवादी" मूर्ख मण्डली अपनी अवस्थितियों को बेशर्मी और मौक़ापरस्ती के साथ बदलती रही है। यही नहीं बहस में हुई रगड़ाई से उठे दर्द की टीस और हताशा ने इन्हें सीधे तमाम क़िस्म के ग़लीज़ कुत्साप्रचारकों, क्रान्ति के भगोड़ों, स्त्री-विरोधी यौन कुंठितों और ऐसे ही अन्य पतित तत्वों की बांहों में पहुँचा दिया। बहरहाल, इस बहस में हमारे पक्ष को निम्न लिंकों पर जाकर देखा जा सकता है:

http://ahwanmag.com/archives/7714

http://ahwanmag.com/archives/7719

http://ahwanmag.com/archives/7726

http://ahwanmag.com/archives/7748

Ajay Sinha aka Don Quixote de la Patna's Disastrous Encounter with Marx's Theory of Ground Rent (and Marx's Political Economy in General)

आप देखेंगे कि हमारी आलोचनाओं का तर्कशः और तथ्यतः जवाब देने की जगह 'यथार्थ'/'दि टूथ' पत्रिका के बौद्धिक फ्रॉडों ने अपनी अवस्थितियों को बदलते जाना, झूठ बोलना और कठदलीली करना व हमारे खिलाफ़ कुत्सा-प्रचार करना जारी रखा है।

हम 'यथार्थ' पत्रिका के नये अंक में आये दो लेखों में उनके कुतर्कों और उनकी इस गलथेथरी का 'आह्वान' के पृष्ठों से आख़िरी बार जवाब दे रहे हैं क्योंकि "यथार्थवादी" बौड़म ब्रिगेड के मूल तर्क ख़त्म हो चुके हैं और अब मास्टरजी यानी कि "महासचिव" अजय सिन्हा बस अपनी नन्ही-सी बच्चा पार्टी के समक्ष अपनी इज़्ज़त बचाने के प्रयास में कभी अपने ही द्वारा बोली गयी बातों को बदल रहे हैं तो कभी गंजे होने की हद तक घिस चुके अपने कुतर्कों को बार-बार गोल-गोल दुहरा रहे हैं। 'यथार्थ' में आये ये लेख निम्न लिंक पर जाकर पढ़े जा सकते हैं:

https://sarwahara.com/2021/05/19/ahwan-bigul-reply-3/

https://sarwahara.com/2021/05/19/kisan-

andolan-yatharth-bigul-bahas/

मौजूदा लेख के ज़रिये हम पटना के दोन किहोते महोदय के बातबदलूपन और झूठों को एक बार फिर आख़िरी बार पाठकों के समक्ष स्वयं *माटसाब* को ही उद्धृत करके उजागर करेंगे और उनकी नयी मूर्खताओं और बुनियादी मार्क्सवादी अवधारनाओं के प्रति उनकी अज्ञानता को भी एक बार फिर बेपर्द करेंगे। यह जवाब हमारा आख़िरी जवाब इसलिए भी है क्योंकि मूर्खता, बातबदलूपन और अज्ञान के इस स्तर से बार-बार *इंगेज* करना किसी की भी सेहत के लिए अच्छा नहीं होता है और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं होती है।

अपने मौजूदा लेख में *माटसाब* ने हमारी पिछली लिखित आलोचना आते ही अपनी पुरानी अवस्थिति पुन: बदल ली है। हम उनके उपरोक्त दो लेखों के ज़रिये उनकी इस चिर-परिचित आदत को एक बार फिर दर्शाएंगे और अन्त में बेहद संक्षेप में उनकी अब तक की तमाम बन्दरकुद्दियों और उलटबांसियों के प्रक्षेप पथ को *ट्रेस* करेंगे। लेकिन सबसे पहले आइये देखते हैं कि इस बार के लेखों में पटना के दोन किहोते ने क्या नए गुल खिलाएं हैं:

1. इस बार के लेखों में *माटसाब* ने अक्तूबर क्रान्ति के इतिहास के साथ फिर से दुराचार किया है, उसे पुनः तोड़ा-मरोड़ा है और अब यह बताने का प्रयास किया है कि अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में भी तात्कालिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति ही हुई थी और तीन वर्गों का मोर्चा ही बना था। **वह अपनी पुरानी अवस्थिति बदलते हुए कहते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति के वक़्त धनी किसान और कुलक वर्ग समाजवादी क्रान्ति के वर्ग संश्रय में शामिल नहीं थे लेकिन फिर भी यह वर्ग समाजवादी क्रान्ति के साथ आया था!** एक दफ़ा फिर ऐसा अजीबोग़रीब पैंतरापलट हमारे दोन किहोते महोदय ने इसलिए किया गया है ताकि वह आज भारत में समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को स्वीकार करते हुए भी धनी किसानों-कुलकों की पूँछ में कंघी कर सकें।

2. **दूसरा, *माटसाब* द्वारा 'किसान बुर्जुआज़ी' के सवाल पर बोले गये झूठ को पकड़े जाने पर फिर अपनी बात बदल ली गयी है।** पाठकों को याद होगा कि पटना के दोन किहोते महोदय का दावा था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है और सर्वहरा वर्ग का मित्र है। हमने लेनिन के हवाले से सप्रमाण और ससंदर्भ दिखलाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' दरअसल पूँजीवादी फार्मर है जो गाँव में पूँजीपति वर्ग की भूमिका में ही है और ग्रामीण पूँजीपति वर्ग का हिस्सा है। अब "महासचिव" अजय सिन्हा अपने इस सफ़ेद झूठ बोलने के बाद रंगे हाथों पकड़े जाने पर कहते हैं कि लेनिन के अनुसार उत्पादन सम्बन्धों में धनी किसान पूँजीपति वर्ग है लेकिन वर्ग संघर्ष के ठोस मूल्यांकन के मसले में यह वर्ग पूँजीपति नहीं रहता है! और इस प्रकार उत्पादन सम्बन्ध को गुणात्मक श्रेणी और वर्ग संघर्ष को मात्रात्मक श्रेणी में तब्दील कर हमारे पटना के दोन किहोते एक बार फिर साधू गोरेन्फ्लो वाले कर्मकाण्ड के द्वारा 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूँजीपति वर्ग बताकर भी पूँजीपति नहीं बनने देते हैं!

3. अन्त में *माटसाब* एक बार फिर श्रम-शक्ति के मुद्दे पर आते हैं। इसमें ऐसा लगता है कि उनका ज़ंग लगा कवच पवनचक्की के पंखों में फँस गया है और यह महोदय इसमें उलझकर गोल-गोल घूमकर तलवार भांज रहे हैं! हमारे *दोन किहोते दि ला पटना* शून्य के चारों ओर चक्कर काटते हैं और अपने सांचो पांज़ाओं की बच्चा पार्टी को इसे कुण्डलाकार गति बताते हैं! लेकिन सच तो यह है कि वह गोल-गोल ही घूम रहे हैं और हर चक्कर के बाद इनकी अवस्थिति ही बदल जाती है! समाजवाद में श्रमशक्ति को माल घोषित करने के प्रश्न पर यह जनाब बौद्धिक तौर पर फिर से नंगे ही हो गये हैं। **इस बार इन्होंने मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के प्रति अपने निपट अज्ञानता की झांकी फिर निकालते हुए श्रमशक्ति के मूल्य को "श्रम के मूल्य" के समान बता दिया है और इसके बाद फिर से समाजवाद के अन्तर्गत मज़दूरों को मिलने वाली उजरत को श्रम शक्ति का मूल्य घोषित कर दिया है!** इस प्रश्न पर भी *माटसाब* इतनी बुरी तरह से फँस चुके हैं कि बातें बदलने, कुतर्क करने और अनाप-शनाप बकने के अलावा इनके पास कोई और रास्ता नहीं बचा है। श्रम, मूल्य और श्रम शक्ति जैसी बुनियादी अवधारनाओं से लेकर राजनीतिक अर्थशास्त्र के हर अन्य मसले पर "महासचिव" अजय सिन्हा ने इस बार भी मार्क्सवादी समझदारी के प्रति अपनी पूर्ण अनभिज्ञता प्रदर्शित की है।

हम इन तीनों मसलों पर सिलसिलेवार ढंग से अपनी बात रहेंगे और पीआरसी के "महासचिव" अजय सिन्हा व "यथार्थवादी" मण्डली के अवसरवादी चरित्र को एक बार फिर परत-दर-परत उजागर करेंगे। इस बार के इनके लेखों को पढ़ते हुए मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि हमारे पटना के दोन किहोते में *सबएटॉमिक* कणों के गुण आ गये हैं। जैसे ही हम किसी भी प्रश्न पर उनकी मूर्खतापूर्ण अवस्थिति को इंगित कर आलोचना का प्रकाश उस पर डालते हैं वह मेंढक की तरह कुद्दियाँ मारकर अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं! *सबएटॉमिक* कण का व्यवहार प्रेक्षण में ऐसा ही होता है। अगर उसका संवेग (momentum) पता चलता है तो अवस्थिति (position) नहीं पता चलती और अगर अवस्थिति पता चल जाती है तो संवेग पता नहीं चलता है। ***माटसाब* की नज़र में अक्तूबर क्रान्ति में धनी किसान-कुलक वर्ग सहयोगी हैं भी और नहीं भी, 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीपति वर्ग है भी और नहीं भी, समाजवादी समाज में श्रमशक्ति माल है भी और नहीं भी! उनकी अवस्थिति श्रोडिंगर की बिल्ली की तरह मृत भी है और जीवित भी है!**

श्रोडिंगर सूक्ष्म जगत को स्थूल जगत में निरूपित कर इस

काल्पनिक प्रयोग से *सबएटॉमिक* कणों के गुणों को उभारने की कोशिश करते हैं। प्रेक्षण के कारण सूक्ष्म जगत के कणों में ऐसा परिवर्तन आता है जिससे प्रेक्षण में संभाव्यता (probability) पैदा होती है। प्रेक्षण के कारण ही सूक्ष्म जगत के इन कणों में अनिश्चितता आ जाती है। प्राकृतिक विज्ञान की उपरोक्त अवधारणाओं से कोई वाक़िफ़ न भी हो तो भी उसे पता है कि सामाजिक व्यवहार में भी ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया निरपेक्ष तौर पर पूर्ण नहीं होती है क्योंकि एक तो समाज निरंतर परिवर्तनशील है, दूसरा, हमारा प्रेक्षण सीमित है और तीसरा, ख़ुद हमारे सामाजिक व्यवहार से भी समाज बदलता है। लेकिन अगर कोई ख़ुद को मार्क्सवादी कहे और अपनी ग़लत अवधारणा को चोरी-छिपे बदले और व्यवहार के आइने में नहीं बल्कि अपनी इज़्ज़त बचाने के लिए ऐसा करे तो उस व्यक्ति को बेईमान और अवसरवादी ही कहा जाएगा। ***माटसाब* ने बहस में अवसरवादिता की जो आंधी चलाई है इस वजह से ही ऐसा लगता है कि उनमें श्रोडिंगर की जीवित और मृत बिल्ली के गुण आ गये हैं। बिल्ली चाहे इनकी जीवित हो या मृत हम प्लेखानोव की राय मानते हुए हम कोड़े बरसाएंगे! 'यथार्थ' पत्रिका की यह बिल्ली तबसे कुलक ज्ञान पर म्याऊं-म्याऊं ही कर रही है!**

'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुआ बौड़म गिरोह एक ऐसी शंकर जी की बारात है जिसमें बौद्धिक बौनों का समूह सांचो पांज़ाओं की बच्चा पार्टी के साथ मिलकर पत्रिका के नाम पर कुलकगान का प्रसार कर रहा है और ये तमाम अपढ़ "मार्क्सवादी" मार्क्स से लेकर लेनिन तक की रचनाओं के नये मूर्खतापूर्ण मतलब गढ़ रहे हैं।

1. कुलकपरस्त 'यथार्थ' पत्रिका में रूसी क्रान्ति का इतिहास: *माटसाब* की नयी "ऐतिहासिक" बन्दरकुद्दियां

अब बकौल *माटसाब* अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में तीन वर्गों का ही संश्रय था और उनकी "समूची किसान आबादी" गयी तेल लेने!

माटसाब इस बार अपनी पुरानी अवस्थिति से यू-टर्न मारते हुए कहते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में गाँव में भी तीन वर्गों का मोर्चा बना था, जिसका अर्थ यह है कि धनी किसान और कुलकों का वर्ग क्रान्ति का संश्रयकारी वर्ग नहीं था। **वह ऐसा क्यों कह रहे हैं और अपनी बात पूरी तरह बदल क्यों रहे हैं?** इसलिए क्योंकि हमने अपनी पिछली आलोचना में तफ़सील से दिखलाया था कि अक्तूबर क्रान्ति के समय कुलकों-धनी किसानों के साथ सर्वहारा वर्ग का कोई रणनीतिक मोर्चा नहीं बना था जैसा कि *दोन किहोते दि ला पटना* का दावा था और यह कि इन महोदय कि "समूची किसान आबादी" के हर-हमेशा समाजवादी क्रान्ति में साथ आने की कोरी लफ्फाज़ी न सिर्फ ऐतिहासिक रूप से *माटसाब* की कुलकपरस्त कपोल-कल्पना है बल्कि इसका मार्क्सवादी सिद्धान्त से भी दूर-दूर तक कोई लना-देना नहीं है। पाठकों को याद होगा कि अपनी इसी कुलकपरस्ती के कारण *माटसाब* और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली ने 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूँजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं बताया था और लेनिन के हवाले से हमारे द्वारा दिखलाया गया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीपति वर्ग का हिस्सा ही है। अब चूंकि *माटसाब* अपने झूठों और कठदलीली के चक्रव्यूह में बाज़ाप्ता फँस गये हैं तो उन्होंने इस बार इसलिए ऐसा "ऐतिहासिक" यू-टर्न मारा है! क्योंकि *माटसाब* को एक तरफ तो कुलकों की गोद में भी बैठना है और उनका समर्थन करना है, तो दूसरी तरफ़ ख़ुद को कम्युनिस्ट भी दिखाना है और इसलिए बताना है कि वह कुलकों-धनी किसानों के साथ कोई वर्ग संश्रय की वक़ालत नहीं कर रहे हैं।

इस अवसरवादिता और कुलकपरस्ती को मास्टरजी "लचीलापन" और "द्वंद्ववाद" का नाम देते हैं! अपनी राजनीतिक रीढ़ की हड्डी के इस लचीलेपन के चलते ही वह अपनी पोज़ीशन में तमाम विचारधारात्मक द्रविड-प्रणायाम कर बदलाव कर पाते हैं! इसलिए इस बार वह 'यथार्थ' के नए अंक में यह अवधारणा लेकर आए हैं कि रूस में अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में तात्कालिक तौर पर भी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल ही मौजूद थी और रूस की विशिष्ट परिस्थितियों में कोई जनवादी कार्यभार सर्वहारा क्रान्ति को पहले पूरे नहीं करने थे। अब आप बस यह देखें कि यह बौद्धिक बौना किस प्रकार बन्दर की तरह अपनी एक अवस्थिति से दूसरी अवस्थिति पर छलांग मार रहा है!

'यथार्थ' के पुराने अंकों में *माटसाब* द्वारा प्रस्तुत अवस्थिति:

आप नीचे दिये गये उद्धरणों में धनी किसानों-कुलकों के प्रश्न पर पर 'यथार्थ' पत्रिका की पुरानी अवस्थिति देख सकते हैं:

''1917 के अक्टूबिर में जो सर्वहारा क्रान्ति हुई वह किसान क्रान्ति पर सवार हो कर ही हुई, देहातों में बिना वर्ग-संघर्ष सम्पन्न हुए हुई और जिसमें सभी किसान यहाँ तक कि **कुलक भी इधर खड़े थे न कि उधर, यानी क्रान्ति के विरूद्ध।**'' (कॉर्पोरेट को लाल सलाम कहने की बेताबी में शोर मचाती 'महान मार्क्सवादी चिंतक' और 'पूँजी के अध्येता' की 'मार्क्सवादी मंडली' का घोर राजनैतिक पतन, 'यथार्थ')(*ज़ोर हमारा*)

और देखें:

''It is important to note that the peasants mass confiscation of land and property of Russian landed states was termed as peasant revolution by Lenin. **Lenin calls it final consummation of land question, the kernel of the bourgeois democratic revolution, by the proletarian revolution.** We have seen above how much importance Lenin ascribes to its combining with proletarian revolution for the easy victory of the proletariat

over the proletariat in the struggle for power in the cities.'' (Apologists Are Just Short Of Saying "Red Salute To Corporates" [2nd Instalment], 'The Truth') (*ज़ोर हमारा*)

यह भी देखें:

''In short, the proletariat seized power together **with the peasants a whole** which didn't include erstwhile landlords and rural bourgeoise. They were to be expropriated forth with without delay and any compensation and the real proletarian revolution in the rural districts began only in the summer of the next year, almost eight months after seizing power in the cities. The true fact about it is that it was stirred and waged from above giving assistance to the poor peasants after realising that kulaks are grabbing most of the confiscated land and properties of the landed estates through the existing communes where they were in dominant position historically. This happens after eight months of assuming state power in the cities. Even then, expropriation of the kulaks was not on the immediate agenda of the party or the state as we have seen.''(Apologists Are Just Short Of Saying "Red Salute To Corporates" [2nd Instalment], 'The Truth')

बताते चलें कि मास्टरजी और "यथार्थवादी" मूर्ख टोली हाल तक धनी किसानों-कुलकों को पूँजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं मानती थी और सर्वहारा का मित्र वर्ग मानती थी। इसलिए उपरोक्त उद्धरणों से यह साफ़ हैं कि उनके अनुसार कुलक-धनी किसान क्रान्ति में साथ खड़े थे और साथ ही इनके अनुसार गाँवों में वर्ग संघर्ष नहीं हुआ था तथा सर्वहारा वर्ग ने गाँवों में "समूची किसान आबादी" के साथ सत्ता हासिल की थी। यहाँ तक कि *माटसाब* ने पिछले अंक में यह भी कहा था कि ये सारी बातें सुनकर हमें ताज्जुब होगा! यक़ीन मानिए, उस वक़्त हमें थोड़ा आश्चर्य हुआ था कि कोई इतनी मूर्खतापूर्ण बात कैसे कर सकता है। लेकिन अब इस मूर्ख-मण्डली के द्वारा लिखा गया कुछ भी पढ़कर हमें अप्रत्याशित या अजीबोग़रीब नहीं लगता है। आख़िरकार "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादियों" की फ़ितरत ही है अनवरत बेसिर-पैर की बातें करना, हवा में कुतर्कों के तीर छोड़ना, बहस में परास्त होने पर बातें बदलना और फिर अचानक कोई नयी बात शुरू कर देना। अब मौजूदा अंक में धनी किसान-कुलक वर्ग के प्रश्न पर इनके बदले हुए अंदाज़ भी देख लेते हैं।

'यथार्थ' के नये अंक में *माटसाब* की अवस्थिति:

''हमारे अनुसार रूस में जनवादी कार्यभार को पूरा करने की दृष्टि से न तो समाजवादी क्रान्ति के चरण में कोई बदलाव लाया गया और न ही नया वर्ग-संश्रय ही बनाया गया। लेनिन किसानों के विद्रोह पर सर्वहारा क्रान्ति को सवार करने की नीति पर चले, न कि नया वर्ग-संश्रय कायम किया।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

और देखें:

''धनी किसानों के साथ इसलिए वर्ग-संश्रय नहीं कायम हो जाएगा कि वह कॉर्पोरेट के प्रति विरोध का भाव रखते हैं। धनी किसानों के साथ छोड़िये, समूचे मध्य वर्ग के साथ भी ऐसा कोई स्थायी वर्ग संश्रय कायम नहीं हो सकता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

और भी देखें:

''सर्वहारा के पक्ष में खुले तौर पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम और अपने तरीके के राष्ट्रीकरण की नीतियों के पीछे उन्हें लामबन्द करने के काम को, **बिना समूची किसान आबादी यानी कुलकों आदि से वर्ग-संश्रय बनाये बिना ही,** मुल्तवी करते हैं, या कहें परिस्थितियों के आदेश को शिरोधार्य करते हें। दूसरे शब्दों में, किसानों के उक्त पूँजीवादी भूस्वामी विरोधी कार्रवाइयों व विद्रोहों की लहर के साथ सर्वहारा क्रान्ति की लहर को, **बिना क्रान्ति के चरण को जनवादी घोषित करते हुए और बिना वर्ग-संश्रय को बदले ही,** अनोखे रूप से मिला देते हैं।" ([किसान *आन्दोलन*] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, 'यथार्थ') (*ज़ोर हमारा*)

आप देख सकते हैं कि 'यथार्थ'/'दि टूथ' के पिछले अंकों में आये लेखों में *दोन किहोते दि ला पटना* बता रहे थे कि रूस में कुलक-धनी किसान वर्ग भी सर्वहारा क्रान्ति में साथ खड़े थे। पुराने लेखों में हमारे *माटसाब* "समूची किसान आबादी" की श्रेणी का भी बार-बार इस्तेमाल करके बताते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग के साथ समूची किसान आबादी आई थी, जिसमें कि धनी किसान और कुलक भी शामिल थे और यह भी कि उस वक़्त गाँव में कोई वर्ग संघर्ष नहीं चला था। अब इन्होंने एक़दम से यू-टर्न मारा है, हालाँकि वह जो नयी बात कह रहे हैं, वह पहले से भी ज़्यादा मूर्खतापूर्ण है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

पाठकों को यह भी याद होगा कि धनी किसानों-कुलकों के वर्ग को क्रान्ति का मित्र वर्ग साबित करने के लिए ही पटना के दोन किहोते ने 'किसान बुर्जुआज़ी' की श्रेणी का भी प्रयोग किया था और बताया था कि यह कुलक-धनी किसान वर्ग वास्तव में 'किसान बुर्जुआज़ी' है, जोकि *माटसाब* के हिसाब से पूँजीपति वर्ग नहीं हैं। और चूंकि *माटसाब* के अनुसार यह धनी किसान-कुलक वर्ग पूँजीपति वर्ग नहीं है इसलिए वह इसे सर्वहारा क्रान्ति का मित्र और सहयोगी घोषित कर देते हैं।

हमने अपनी आलोचना में लेनिन को विस्तारपूर्वक उद्धृत करते हुए दिखलाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' उद्यमी पूँजीवादी फार्मर है और ठीक इसलिए पूँजीपति वर्ग ही है और गाँव में ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग का हिस्सा है और यह भी कि पटना के इस बौद्धिक बौने की लफ्फाज़ी का मार्क्सवाद-लेनिनवाद से कोई सम्बन्ध नहीं है।

हमने यह भी बताया था कि समूची किसान आबादी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में उस हद तक ही साथ आ सकती थी, जिस हद तक जनवादी कार्यभार पूरे किये जाने थे, जैसे कि रूसी क्रान्ति की विशिष्ट परिस्थितियों में हुआ था। लेकिन उस सूरत में भी, समूचा धनी किसान-कुलक वर्ग क्रान्ति का सहयोगी वर्ग नहीं था और गाँव में उसका एक हिस्सा शत्रुओं के समान ही बर्ताव कर रहा था। हमने यह भी बताया था कि **अक्तूबर 1917 में रूस में हुई क्रान्ति एक ऐसी समाजवादी क्रान्ति थी जिसमें विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के चलते ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य रूप से जनवादी कार्यभारों को ही पूरा किया गया था। अक्तूबर 1917 में हुई रूसी समाजवादी क्रान्ति में रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम को लागू किया गया जिसके पीछे तमाम वस्तुगत व मनोगत कारण मौजूद थे। इसका पूरा ऐतिहासिक सन्दर्भ पाठक हमारी पिछली आलोचना में पढ़ सकते हैं।** लेकिन अब अपने मौजूदा लेख में पटना के दोन किहोते पैंतरापलट करते हैं और बताते हैं कि चूँकि रूसी क्रान्ति में गाँव में भी समाजवादी क्रान्ति का ही चरण था इसलिए वर्ग संश्रय में भी कोई परिवर्तन नहीं किया गया, यानी कि अब *माटसाब* के अनुसार अक्तूबर क्रान्ति में तीन वर्गों का मोर्चा ही बना था और धनी किसान-कुलक वर्ग इस वर्ग संश्रय का हिस्सा नहीं था!

बहरहाल यह समझना ज़रूरी है कि "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" मण्डली ने अपनी पुरानी अवस्थिति में परिवर्तन क्यों किया है? दरअसल हुआ यह कि जब *माटसाब* ने बिना पढ़े कहीं से रूसी क्रान्ति में गाँवों में सर्वहारा वर्ग के साथ समूची किसान आबादी के साथ आने की बात सुनी तो इन्होंने सोचा की यह तथ्य तो मेरी कुलकपरस्ती को और बल देगा और मुझे इसे वैध ठहराने का अच्छा मौक़ा हाथ लगा है! इसलिए *माटसाब* ने आव देखा न ताव "सिद्धान्त प्रतिपादन" की हवा छोड़ दी और अक्तूबर क्रान्ति में समूची किसान आबादी को साथ लेने के समीकरण को विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ से निरपेक्ष आम समीकरण बनाया और फिर धनी किसानों-कुलकों की दलाली करने को मौजूदा धनी किसान *आन्दोलन* में एकमात्र "क्रान्तिकारी" हस्तक्षेप बताया। हालाँकि अक्तूबर क्रान्ति में *माटसाब* की समूची किसान आबादी के एक संश्रयकारी के तौर पर पूरी तरह साथ आने की बात भी बोगस थी जिसे हमने अपनी पिछली आलोचना में सप्रमाण व ससंदर्भ प्रस्तुत किया था।

हमने "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" बौद्धिक फ्रौडों के इन "सिद्धांतों" की विस्तारपूर्वक आलोचना रखी जिसके चलते ही उन्होंने अब अपनी "समूची किसान आबादी" को वर्ग संश्रय से बाहर कर दिया है। लेकिन ऐसे तीन-तिकड़मों के बाद अब इन बौद्धिक बौनों की अवस्थिति बेहद पेचीदा हो गयी है क्योंकि अब इनके ही अनुसार धनी किसान वर्ग क्रान्ति के साथ भी था लेकिन वर्ग संश्रय का हिस्सा भी नहीं था! यह कारनामा कैसे अंजाम दिया गया था यह तो हमारे *माटसाब* ही बता सकते हैं क्योंकि इस तथ्य के एकमात्र ऐतिहासिक स्रोत वह ख़ुद ही हैं! ख़ुद *माटसाब* के अनुसार ''1917 के अक्तूबर में जो सर्वहारा क्रान्ति हुई वह किसान क्रान्ति पर सवार हो कर ही हुई, देहातों में बिना वर्ग-संघर्ष संपन्न हुए हुई और जिसमें सभी किसान यहाँ तक कि कुलक भी इधर खड़े थे न कि उधर, यानी क्रान्ति के विरूद्ध।'' लेकिन हमारी आलोचना के बाद अपने सुर बदलते हुए *दोन किहोते दि ला पटना* अब कहते हैं कि ''सर्वहारा के पक्ष में खुले तौर पर समाजवादी कृषि कार्यक्रम और अपने तरीके के राष्ट्रीकरण की नीतियों के पीछे उन्हें लामबन्द करने के काम को, **बिना समूची किसान आबादी यानी कुलकों आदि से वर्ग-संश्रय बनाये बिना ही,** मुल्तवी करते हैं, या कहें परिस्थितियों के आदेश को शिरोधार्य करते हें।'' अब *दोन किहोते दि ला पटना* के सांचो पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी के लिए हमारी तरफ से एक पहेली: वे यह बताएं कि आख़िर कुलक और धनी किसान सर्वहारा क्रान्ति के दुश्मन थे या दोस्त थे?

हमारे *माटसाब* ऐसे में विश्वामित्र का रूप धर लेते हैं और इन कुलकों के वर्ग को एक तरफ़ अपने तपबल से सर्वहारा वर्ग के साथ क्रान्ति में साथ भी खड़ा करना चाहते हैं तो दूसरी तरफ़ आलोचना में पिटने के बाद बात बदलते हुए देवबल से कुलकों-धनी किसानों को सर्वहारा क्रान्ति के संश्रय में शामिल भी नहीं होने देना चाहते हैं! कुलक त्रिशंकु की तरह 'त्राहि-त्राहि' कर रहे हैं! इस कुलक-कष्ट से *माटसाब* को काफ़ी दुख पहुँचा है और इसलिए ही वह उन्हें वर्ग संश्रय और वर्ग शत्रुता की मोह-माया से भरी हुई इहलौकिक श्रेणियों से अलग कर देते हैं और उनके लिए एक नये पारलौकिक "यथार्थवादी'' स्वर्ग की रचना करते हैं जहाँ वह शत्रुता और मित्रता के मायावी चक्कर से ही मुक्त हो जाते हैं! खैर, *माटसाब* की नयी अवस्थिति का खण्डन करने से पहले हम यहाँ अपनी पिछली आलोचना का वह हिस्सा रख रहे हैं जिसके कारण हमारे मास्टरजी अस्त-व्यस्त सी बन्दरकुद्दी मारने को विवश हुए हैं। हमने पिछले लेख में ही बताया था कि:

''रूस में अक्तूबर 1917 में समाजवादी क्रान्ति ने गाँवों में, यानी खेती के क्षेत्र में, मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरे किये। **क्या पीआरसी के नेता महोदय का मानना है कि भारत की समाजवादी क्रान्ति को भी आज खेती में जनवादी कार्यभार पूरे करने हैं? क्या भारत की कुल आबादी में बहुसंख्या किसानों की है? आइये देखते हैं।**

"भारत में किसानों की कुल आबादी 11.8 करोड़ है, जिसमें से धनी व उच्च मध्यम किसान (4 हेक्टेयर से अधिक भूमि वाले) मात्र 5-6 प्रतिशत हैं। 2 हेक्टेयर से कम ज़मीन वाले किसान 92 प्रतिशत हैं और 1 हेक्टेयर से कम वाले किसान 72 प्रतिशत हैं, जिनकी स्थिति अब अर्द्धसर्वहारा की है और उनकी आय का मुख्य स्रोत अब खेती नहीं बल्कि मज़दूरी है। भारत में किसान आबादी का आकार और उसमें विभेदीकरण की स्थिति की अक्तूबर 1917 के रूस से कोई तुलना ही नहीं हो सकती है। मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूरा करना तो दूर, आज जनवादी क्रान्ति का कोई कार्यभार भूमि कार्यक्रम के मामले में भारतीय समाजवादी क्रान्ति को नहीं पूरा करना है। चूंकि चरण ही अलग है इसलिए "समूची किसान आबादी" का आज सर्वहारा वर्ग के साथ मोर्चा बनने का कोई सवाल ही नहीं पैदा होता है और बन ही नहीं सकता है। जो ऐसा मानता है, उसे नवजनवादी क्रान्ति का कार्यक्रम अपना लेना चाहिए। लेकिन पीआरसी के नेता महोदय की बुद्धि चुनौटी भर है और उसी के अनुसार उनकी कल्पना के मरियल खच्चर दौड़ते हैं। रूसी क्रान्ति के इतिहास के प्रति अपने निपट अज्ञान को इस बौद्धिक जोकर ने एक बार फिर से प्रदर्शित किया है।

"आज़ादी के बाद से लेकर अब तक भारत में पूँजीवादी वर्ग सम्बन्ध बेहद स्पष्ट हो चुके हैं और प्रशियाई पथ के एक भारतीय संस्करण से हुए भूमि सुधार भी पूर्णत: परिपक्व हो चुके हैं। रूस के मुक़ाबले भारत में वर्ग शक्तियों का सन्तुलन आज सर्वहारा क्रान्ति के कहीं ज़्यादा अनुकूल है। जनसांख्यिकी के लिहाज़ से भी आज भारत की कार्यशक्ति में 50 करोड़ से अधिक सर्वहारा आबादी है, जिनमें खेतिहर मज़दूर 14 करोड़ के करीब हैं और बाकी गैर-खेतिहर ग्रामीण व शहरी सर्वहारा हैं। **इन आँकड़ों की एक शताब्दी पहले के रूस से कोई तुलना ही सम्भव नहीं है।**

"भारत में आज समाजवादी क्रान्ति को गाँवों में जनवादी भूमि कार्यक्रम लागू करने की कोई आवश्यकता नहीं है। भारत में समाजवादी क्रान्ति आज गाँवों में धनी व उच्च मध्यम पूँजीवादी फार्मरों व कुलकों की ज़मीनों को ज़ब्त कर भूमिहीन खेतिहर मज़दूरों की वर्ग शक्ति के बूते राजकीय व सामूहिक फार्मों की बड़े पैमाने पर स्थापना करने के कार्य को सीधे हाथ में लेगी, ग़रीब किसानों व निम्न मध्यम किसानों को (जो कि पहले ही कहीं ज़्यादा विकसित विभेदीकरण व पूँजीवादी विकास के कारण अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुके हैं) आज सहकारी व सामूहिक फार्मों की साझी खेती के लिए तैयार करना कहीं ज़्यादा आसान है, क्योंकि उनकी पीढ़ियों की पीढ़ियाँ पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मातहत परिपक्व हो चुकी हैं और देख चुकी हैं कि छोटी जोत की किसानी का कोई भविष्य नहीं है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण से लेकर तमाम आँकड़ों व सर्वेक्षणों में यह बात सामने आ चुकी है कि किसान आबादी का बहुलांश पक्के रोज़गार की आकांक्षा रखता है और पहला मौका मिलते छोटी जोत की खेती को छोड़ देना चाहता है। ज़ाहिर है कि जब तक रोज़गार का विकल्प उसके पास नहीं होगा, तब तक इस छोटी जोत से चिपके रहना उसकी बाध्यता बनी रहेगी, लेकिन यह भी साफ़ है कि ग़रीब मेहनतकश किसानों के समूचे वर्ग की इच्छा और आकांक्षा आज क्या है।

"संक्षेप में, आज भारत की समाजवादी क्रान्ति को समूची किसान आबादी को साथ लेकर मूलत: और मुख्यत: जनवादी कार्यभार पूर्ण नहीं करने हैं। रूसी क्रान्ति को विशिष्ट परिस्थितियों में जिन ऐतिहासिक सीमाओं का सामना करना पड़ा था, आज की नयी समाजवादी क्रान्तियों को उन सीमाओं का सामना नहीं करना है, हालाँकि उनके सामने अलग राजनीतिक चुनौतियां हैं, जिन पर हम यहाँ विस्तार में नहीं जा सकते। **लेकिन *माटसाब* को बहस में हुई रगड़ाई के कारण अपनी पूँछ बचानी थी, इसलिए जल्दबाज़ी में उन्होंने बिना जाँच–पड़ताल किये, बिना इतिहास का कोई संजीदा अध्ययन किये, कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा जोड़ दिया है। इसे बौद्धिक बौनापन ही कहा जा सकता है।**

"दूसरी बात यह कि बड़े इजारेदार पूँजीपति वर्ग और कुलक-धनी किसान वर्ग के बीच मित्रतापूर्ण अन्तरविरोध है, शत्रुतापूर्ण नहीं। यह उम्मीद करना कि उनके बीच अन्तरविरोध के तीखे होने की वजह से अपेक्षाकृत छोटी पूँजी का यह हिस्सा सर्वहारा वर्ग के साथ खड़ा होगा, वर्ग सहयोगवाद की कार्यदिशा है। ऐसा हो भी नहीं रहा है जैसा कि मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के अभी तक के विकास-क्रम से साफ़ भी हो चुका है। इस लाइन के तहत तो पीआरसी के लेखक महोदय को दिल्ली में मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों और पटना के भवन निर्माण ठेकेदारों को भी बड़ी इजारेदार पूँजी के प्रवेश से बचाने का ऐलान कर देना चाहिए और उनसे सर्वहारा क्रान्ति के लिए वर्ग मोर्चा बना लेना चाहिए! पूँजीपति वर्ग के किसी भी छोटे हिस्से और खेतिहर बुर्जुआज़ी के बीच कोई गुणात्मक अन्तर नहीं है। दोनों ही बड़ी इजारेदार पूँजी के प्रवेश के कारण बरबादी का ख़तरा झेल रहे हैं। **तो फिर *माटसाब* छोटे कारखाना मालिकों, ठेकेदारों, व्यापारियों के साथ पक्षपात क्यों कर रहे हैं? उन्हें जल्द से जल्द सर्वहारा क्रान्ति करने के लिए पटना के लघु उद्यमी संघ के अध्यक्ष या सचिव का चुनाव लड़ना चाहिए! प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के ख़िलाफ़ भी मास्टरजी को दिल्ली से पटना तक के व्यापारियों के साथ वर्ग मोर्चा स्थापित करना चाहिए जोकि बड़ी पूँजी द्वारा सताए हुए हैं। पटना के दोन किहोते अपेक्षाकृत छोटे खेतिहर पूँजीपति वर्ग पर जो फार्मुला लागू कर रहे हैं, उसे पूरे पूँजीपति वर्ग पर क्यों लागू नहीं किया जाना चाहिए?** उनके अनुसार, "बेहद, बेहद धनी किसानों" व कारपोरेटों से मोर्चा नहीं बनेगा लेकिन अन्य धनी

किसानों, यानी अपेक्षाकृत छोटी बुर्ज़ुआज़ी से बड़ी बुर्ज़ुआज़ी के खिलाफ सर्वहारा वर्ग का मोर्चा बनेगा! वैसे तो अति-अति धनी किसान भी मौजूदा आन्दोलन में कारपोरेट के खिलाफ शामिल है। इसलिए *माटसाब* उनको क्यों *सिंगल आउट* कर रहे हैं, यह समझ से परे है। **खैर, फिर बड़ी इजारेदार पूँजी के प्रवेश से उजड़ रहे छोटे कारखाना मालिक, दुकानदारों–व्यापारियों, ठेकेदारों, दलालों से भी पीआरसी सीपीआई (एमएल) को मोर्चा क्यों नहीं बनाना चाहिए? आप देख सकते हैं कि इस प्रकार की कार्यदिशा कहाँ जाती है। यह सीधे–सीधे वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद के मलकुण्ड में जाकर गिरती है और वास्तव में यह बौद्धिक मस्खरा उसी मलकुण्ड में छप–छप कर रहा है।'' (सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियाँ और बड़बड़ाहट)"**

लेकिन अपनी पुरानी अवस्थिति से पलटी मारने के बावजूद मास्टरजी अब भी वर्ग सहयोगवाद और वर्ग आत्मसमर्पणवाद के मलकुण्ड में ही गिरे पड़े हैं। वह समाजवादी क्रान्ति का नया वर्गीय समीकरण ढूंढ लाए हैं जिससे कि धनी किसानों को वर्ग संश्रय में साथ लेने की ज़रूरत भी नहीं पड़ती है और वह समाजवादी क्रान्ति में सहयोगी भी बने रहते हैं! यह कारनामा कुलक स्तुतिगायक यानी कि हमारे *माटसाब* गोरेन्फ्लो और विश्वामित्र का अजब संगम बन कर अंजाम देते हैं! आइए देखते हैं कि *माटसाब* ने इस बार कितने नये झूठ बोले हैं और कौन सी नयी कठदलीली पेश की है।

नयी अवस्थिति का सार: दोन किहोते दि ला पटना व "यथार्थवादियों" द्वारा अपनी कुलकपरस्ती को ढाँपने की एक और बेशर्म कवायद

जैसा कि ऊपर *माटसाब* को उद्धृत करते हुए हमने बताया था कि अपने नए लेखों में इन्होंने कुलकों-धनी किसानों को सर्वहारा क्रान्ति का सहयोगी कहने वाली बात पर पलटी मारी है, हालाँकि इस प्रकार के "बौद्धिक" करतब दिखाने से हमारे बेचारे पटना के दोन किहोते का पूरा सन्तुलन ही गड़बड़ा गया है। उस पर तुर्रा यह कि कुलकपरस्ती की अपनी कुत्सित वर्ग सहयोगवादी अवस्थिति यह महाशय हम लोगों पर ही आरोपित कर रहे हैं! ऐसी ग़ज़ब की पैंतरेबाज़ी *दोन किहोते दि ला पटना* और उनकी "यथार्थवादी" मूर्ख मण्डली ही कर सकती है। पूरी बहस के दौरान इन कुलकप्रेमियों के मुखारबिंद से अपने राजनीतिक आकाओं यानी कि धनी किसानों और कुलकों के लिए एक आलोचनात्मक शब्द नहीं फूटा, और इस बेशर्म "बौद्धिक" ब्रिगेड की जुर्रत देखिये! हम *माटसाब* की बौखलाहट समझ सकते हैं! बहस में ठीक से पिट जाने का दर्द इनके लिए असहनीय हो चुका है और इसलिए अपने सांचा पान्ज़ाओं की छोटी सी बच्चा पार्टी को इस तरह की मनोरंजक बन्दरकुद्दियाँ मारकर उनका ध्यान अपनी रगड़ाई से भटकाना चाह रहे हैं लेकिन यह सब करते हुए वह किसी बौद्धिक जोकर से कम नहीं लग रहे हैं!

अपनी कुलकपरस्ती के चलते ठीक से रगड़ा जाने के बाद अब नए लेख में *दोन किहोते दि ला पटना* का कहना है कि अक्तूबर क्रान्ति में गाँव में भी तात्कालिक तौर पर भी समाजवादी क्रान्ति का ही चरण था और वर्ग संश्रय भी तीन वर्गों का था जबकि पहले इन महोदय ने रूस की परिस्थितियों का हवाला देते हुए आज के भारत से उसकी तुलना की थी और कहा था कि यहाँ भी आज सर्वहारा क्रान्ति समूची किसान आबादी को साथ लेगी। जब हमने अपनी आलोचना में विस्तारपूर्वक बताया कि रूस की विशिष्ट परिस्थितियों की आज के भारत से कोई तुलना ही नहीं हो सकती है और रूस में मोटे तौर पर समूची किसान आबादी जनवादी कार्यभारों को पूरा करने की विशिष्ट परिस्थितियों के कारण ही समाजवादी क्रान्ति के पहले दौर में साथ थी और प्रतिक्रान्ति का हिस्सा बनने वाले कुलकों के अतिरिक्त समूचे कुलक व धनी किसान वर्ग का ठीक इसीलिए सम्पत्तिहरण नहीं किया गया था, तो इन जनाब के बौद्धिक दिवालियापन के शिकार दिमाग़ को और कुछ नहीं सूझा और वह हम पर प्रत्यारोप लगाने पर उतर आये।

ज़ाहिरा तौर पर रूस में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल थी क्योंकि क्रान्ति की मंज़िल का निर्धारण राज्यसत्ता के चरित्र से होता है और चूंकि रूस में फरवरी क्रान्ति के साथ ही बुर्ज़ुआ राज्यसत्ता क़ायम हो गयी थी इसलिए वहाँ समाजवादी क्रान्ति ही हो सकती थी। इससे कौन इनकार ही कर रहा है, जो *माटसाब* समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल की दुहाई दे रहे हैं! देखें हमने अपनी पिछली आलोचना में क्या लिखा था जिसे अँधेरे में छोड़े गये इस बार के इनके कुतर्कों के तीरों का खण्डन करने के लिए यहाँ दोहराना मात्र ही पर्याप्त है:

"**अक्तूबर 1917 में रूस में हुई क्रान्ति एक ऐसी समाजवादी क्रान्ति थी जिसमें विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों के चलते ग्रामीण क्षेत्र में मुख्य रूप से जनवादी कार्यभारों को ही पूरा किया गया था। अक्तूबर 1917 में हुई रूसी समाजवादी क्रान्ति में रैडिकल बुर्ज़ुआ भूमि कार्यक्रम को लागू किया गया जिसके पीछे तमाम वस्तुगत व मनोगत कारण मौजूद थे।** *परन्तु माास्टरजी इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को गोलकर जाते हैं और उपदेशात्मक शैली में बताते हैं कि आज भी ऐसी परिस्थितियाँ पैदा हो सकती हैं और इतिहास ख़ुद को दोहरा सकता है।* आइए तत्कालीन रूस और आज के भारत की तुलना करके देखते हैं कि क्या आज यह सम्भव है?

"रूस में प्रशियाई पथ से भूमि सुधार लागू हुए। इसकी शुरुआत 1860-61 में भूदास प्रथा के औपचारिक ख़ात्मे से हुई थी और 1907-08 के स्तोलिपिन सुधारों तक रूसी कृषि में पूँजीवादी

विकास विचारणीय स्तर तक पहुँच चुका था। हालाँकि अभी पूँजीवादी विकास के साथ बड़ी ज़मीन्दारी और सामन्ती उत्पादन सम्बन्ध आंशिक रूप से क़ायम थे और अलग-अलग परिमाण में ग़रीब किसान आबादी की अस्वतन्त्रता भी अभी देखी जा सकती थी। रूसी क्रान्ति बेहद विशिष्ट परिस्थितियों में सम्पन्न हुई। प्रथम विश्वयुद्ध, आर्थिक विसंगठन और अकाल की परिस्थितियों और साथ ही सोवियत आन्दोलन के स्वतःस्फूर्त उभार के कारण पहले फरवरी 1917 में जनता के उभार ने ज़ार की सत्ता को उखाड़ फेंका और जनवादी क्रान्ति के कार्यभार को पूरा करने की शुरुआत की। लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियों की कमज़ोरी के कारण सत्ता सोवियतों के हाथ में नहीं आ सकी और बुर्जुआ आरज़ी सरकार और सोवियतों की सत्ता के रूप में एक 'दोहरी सत्ता' (dual power) अस्तित्व में आई, जिसमें से आरज़ी सरकार बुर्जुआ वर्ग की तानाशाही का प्रतिनिधित्व कर रही थी, जबकि सोवियत सत्ता मज़दूरों और किसानों की जनवादी तानाशाही का। बुर्जुआ आरज़ी सरकार में मुख्य शक्तियां बुर्जुआ व पेटी-बुर्जुआ पार्टियां थीं, जिनमें कैडेट पार्टी जैसी पूँजीवादी पार्टी के अलावा, मेंशेविक व समाजवादी-क्रान्तिकारी (नरोदवादी) भी शामिल थे। इस आरज़ी सरकार ने युद्ध से मुक्ति, यानी शान्ति, रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार, और भूख और अकाल से मुक्ति का वायदा पूरा नहीं किया और संविधान सभा तक इन्तज़ार करने का झुनझुना व्यापक किसान आबादी और मज़दूर व सैनिक आबादी को थमा दिया। इस मामले में सबसे बड़ा विश्वासघात समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ने किया जो कि एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि कार्यक्रम पेश तो कर रही थी, लेकिन किसानों द्वारा उसे लागू किये जाने का विरोध कर रही थी। वहीं युद्ध में रूस की भागीदारी रूसी समाज और अर्थव्यवस्था के लिए विनाशकारी साबित होती जा रही थी।

"बोल्शेविकों का गाँवों की ग़रीब और मंझोली किसान आबादी में राजनीतिक आधार बेहद सीमित था। किसान आबादी में सबसे ज़्यादा आधार समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी का था और उसका कार्यक्रम एक रैडिकल बुर्जुआ भूमि सुधार का था, जैसा कि हमने ऊपर उल्लेख किया है। 'अप्रैल थीसिस' में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूस फरवरी 1917 की जनवादी क्रान्ति के बाद अब समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, हालाँकि इस क्रान्ति को कई जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे और पहला कार्य होगा 'समाजवाद की ओर कुछ क़दम' बढ़ाकर रूस को सिर पर खड़े आर्थिक विनाश और आपदा से बचाना। अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और समाजवाद की ओर कुछ आरम्भिक क़दम के साथ समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की शुरुआत भी कर सकती थी, अन्यथा उसका भी गला घोंट दिया जाना तय था, जैसा कि कोर्निलोव मसले से सिद्ध हो गया था।

"इसी बीच दो स्वत:स्फूर्त आन्दोलन रूस में उभर चुके थे: पहला था समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी द्वारा बनाई गयी भूमि समितियों का आन्दोलन जो कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी के ही निर्देश का उल्लंघन करते हुए ज़मीन को भूस्वामियों से छीन रहा था और किसानों के बीच बांट रहा था; और दूसरा, कारखाना समिति आन्दोलन जो कि कारखानों पर कब्ज़ा कर रहा था। लेनिन ने इन दोनों ही आन्दोलनों को रूस की क्रान्ति की तात्विक शक्ति बताते हुए सहयोजित किया। लेनिन ने भूमि समितियों के आन्दोलन को साथ लेने के साथ समाजवादी-क्रान्तिकारियों का भूमि कार्यक्रम अपना लिया, जिसे कि समाजवादी-क्रान्तिकारी पार्टी ख़ुद ही लागू करने में आनाकानी कर रही थी और संविधान सभा का इन्तज़ार करने का आश्वासन किसानों को दे रही थी। लेनिन पर कुछ लोगों ने आरोप लगाया कि उन्होंने समाजवादी कृषि कार्यक्रम को छोड़कर समाजवादी-क्रान्तिकारियों का बुर्जुआ कार्यक्रम अपना लिया। लेनिन ने इसका जवाब दिया कि रूस की आबादी का 85 प्रतिशत किसान हैं और 85 फीसदी आबादी पर समाजवादी भूमि कार्यक्रम थोपा नहीं जा सकता है; दूसरी बात, किसान आबादी में बोल्शेविकों का आधार बेहद कम है जिसके कारण आर्थिक वर्गीय विभेदीकरण के बावजूद ग़रीब व मंझोले किसान धनी किसानों के ही राजनीतिक नेतृत्व में हैं; तीसरी बात, किसानों में ज़मीन की भूख क्रमिक व अपूर्ण पूँजीवादी रूपान्तरण के कारण बनी हुई है और उनके जनवादी आन्दोलन को सहयोजित करके ही रूस की जनवादी क्रान्ति को भी हत्या से बचाया जा सकता है, पूर्णता तक पहुँचाया जा सकता है और समाजवादी क्रान्ति की शुरुआत की जा सकती है; चौथी बात, रूस के मेहनतकश किसानों द्वारा जो भूमि कार्यक्रम पेश किया जा रहा था वह बुर्जुआ जनवादी भूमि कार्यक्रम के दायरे में होने के बावजूद, बोल्शेविकों के भूमि कार्यक्रम के नज़दीक पड़ता था क्योंकि यह भूमि के राष्ट्रीकरण और उजरती श्रम पर रोक की माँग भी कर रहा था" **(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)"**

यह है वह पूरा विशिष्ट ऐतिहासिक सन्दर्भ जिसमें रूस की समाजवादी क्रान्ति को तात्कालिक तौर पर जनवादी कार्यभार पूरे करने पड़े थे। इससे क्रान्ति की मंज़िल नहीं बदल गयी थी, *माटसाब*! न ही इस बहस में ऐसा किसी ने कहा। लेकिन तात्कालिक तौर पर जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के चलते खेती में समाजवादी कार्यक्रम नहीं लागू किया गया था। अगर अक्तूबर क्रान्ति के समय रूस में गाँवों में कोई विशिष्ट परिस्थितियां मौजूद ही नहीं थी जिसके कारण बोल्शेविक पार्टी को समाजवादी-क्रान्तिकारियों का कार्यक्रम तात्कालिक तौर पर अपनाना पड़ा था और पहले जनवादी कार्यभारों को पूर्ण करना पड़ा था तो फिर *माटसाब* ने "समूची किसान आबादी" का जुमला फेंका ही क्यों था?

दरअसल हमारी आलोचना के बाद उन्हें समझ में तो आ गया है कि समकालीन भारत की क्रान्तिकालीन रूस से तुलना

करके वह फँस गये हैं तो अब कठदलीली और अपनी बात बदलने के अलावा बेचारे दोन किहोते महोदय और कर भी क्या सकते हैं? ईमानदारी से अपनी ग़लती मान लेने की उम्मीद इस बेईमान बौद्धिक बौने से तो नहीं की जा सकती है।

अगर गाँव में कोई जनवादी कार्यभार पूरा ही नहीं होना था तो इसका मतलब है कि तात्कालिक तौर पर भी गाँवों में भी समाजवादी क्रान्ति का कार्यक्रम ही लागू होना चाहिए था। तो फिर सामूहिकीकरण 1917 से ही क्यों नहीं शुरू कर दिया गया? क्यों क्रान्ति के तत्काल बाद भी राजकीय फार्मों की संख्या नगण्य थी? *माटसाब* की कुलकपरस्त भोंडी देसी बुखारिनपन्थी लाइन ने उनके दिमाग़ में विचित्र घोल-मट्ठा तैयार कर दिया है! हम पहले ही बता चुके हैं कि वह पवनचक्की- के पंखे में उलझकर गोल-गोल घूमे जा रहे हैं! इसलिए उनकी बातों और कुतर्कों में कोई सामंजस्य नहीं होता है, बल्कि अक्सर *माटसाब* अपने ही पिछले कुतर्कों के ठीक विपरीत बात कर रहे होते हैं और बेहद अन्तरविरोधी तरीक़े से अपनी द्वारा बोली गयी बातें काट रहे होते हैं। इसका एक नमूना आप नीचे देख सकते हैं:

"रूस की बात करें तो, वहाँ ऊपर के राजकीय सुधारों के द्वारा पूर्व के सामन्ती भूस्वामियों से परिवर्तित बड़े पूँजीवादी भूस्वामियों के रूप में एक साझा दुश्मन के विरूद्ध लड़ाई की पूर्णाहुति तक ही सर्वहारा क्रान्ति सीमित थी। **जिस हद तक यह साझा दुश्मन यानी भूस्वामी पूँजीवादी बन चुका था उस हद तक रूस के देहातों में हुई अक्तूबर क्रान्ति समाजवादी ही थी, लेकिन दूसरी तरफ जिस हद तक कुलकों को निशाना नहीं बनाया गया उस हद तक देहातों में अक्तूबर क्रान्ति जनवादी बनी रही।** कुल मिलाकर रूस में अक्तूबर क्रान्ति फरवरी में हुई जनवादी क्रान्ति का पूर्ण समापन (consummation) बनी लेकिन कहीं से भी यह सम्पूर्णता में नवजनवादी क्रान्ति नहीं थी। देहातों में ग़रीब किसानों के बीच भी बड़े पैमाने की खेती के प्रति आश्वस्त समर्थन के अभाव के साथ इसके लिए जरूरी भौतिक प्रगति की मौजूदगी न होने की वजह से एकमात्र एक दशक बाद ही जाकर (1929-30 में) शुरू हुए सामूहिक फार्म *आन्दोलन* की जीत के बाद समाजवादी कृषि कार्यक्रम लागू किया जा सका।" ([किसान *आन्दोलन*] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, 'यथार्थ')(*ज़ोर हमारा*)

माटसाब क्रान्ति की मंज़िल को लेकर इतनी सफ़ाई क्यों दे रहे हैं, अब हमारी समझ में आया! हमने "महासचिव" अजय सिन्हा को उनकी कुलकपरस्ती की वजह से जनवादी कार्यक्रम अपनाने की सलाह दी थी और यह भी कहा था कि उन्हें या फिर यह मान लेना चाहिए कि अक्तूबर क्रान्ति के ही समान आज के भारत में भी समाजवादी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक सीमित रहेगी, जिसका निशाना सामन्ती भूस्वामी वर्ग था, तो मास्टरजी को लगा कि 'ओह! अब तो क्रान्ति का कार्यक्रम ही बदल डालना होगा या एक समान्ती भूस्वामी वर्ग तलाशना होगा!' चूंकि भारत में आज उन्हें यह सामन्ती भूस्वामी वर्ग कहीं मिलेगा नहीं तो *माटसाब* घबराये-घबराये से घूम रहे हैं और इसलिए बार-बार समाजवादी क्रान्ति-समाजवादी क्रान्ति कर रहे हैं। अरे मूर्खाधिराज! रूस की क्रान्ति समाजवादी ही थी, घबराइए मत! लेनिन आपकी तरह कुलकपरस्त नहीं थे। वे जानते थे कि रूस की विशिष्ट परिस्थितियों के चलते ही वहाँ समाजवादी क्रान्ति को ही कई जनवादी कार्यभार भी पूरे करने पड़ेंगे वर्ना क्रान्ति को अंजाम देना और टिका पाना भी मुश्किल होगा। लेकिन इन सबके चलते क्रान्ति की मंजिल जनवादी क्रान्ति की नहीं हो जाती है।

दूसरे, आज भारत में रूस के समान कोई ऐसी विशिष्ट परिस्थितियां मौजूद नहीं है कि यहाँ समाजवादी क्रान्ति को उस क़िस्म के और उतने जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे; भारत में गाँवों में भी मुख्यतः और मूलतः जनवादी कार्यभार पूरे हो चुके हैं, जैसा कि हमारे उपरोक्त उद्धरण में भी विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया था। खैर, *माटसाब* के कल्पना लोक में क्या गड़बड़झाला चला रहा है चूंकि उसकी कोई तार्किक व्याख्या, सिवाय उनकी कुलकपरस्ती के, सम्भव नहीं है, इसलिए बेहतर है कि हम देखें कि लेनिन की इस सवाल पर क्या राय थी।

लेनिन ने बार-बार यह स्पष्ट किया था कि अक्तूबर क्रान्ति ने भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में जनवादी कार्यभारों को पूर्ण किया था, जिसमें कि समूची किसान आबादी को साथ लेना स्वाभाविक था, और उसके बाद ग़रीब किसानों, मंझोले किसानों को धनी फार्मरों व कुलकों से अलग कर समाजवादी क्रान्ति को भूमि सम्बन्धों के क्षेत्र में अंजाम दिया जाना था। लेनिन **'सर्वहारा क्रान्ति और ग़द्दार काऊत्स्की'** में लिखते हैं:

"It is the alliance between the proletariat and the peasants in general that reveals the bourgeois character of the revolution, for the peasants in general are small producers who exist on the basis of commodity production. Further, the Bolsheviks then added, the proletariat will win over the *entire semi-proletariat* (all the working and exploited people), will neutralise the middle peasants and *overthrow* the bourgeoisie; this will be a socialist revolution, as distinct from a bourgeois-democratic revolution.

"**Having *completed* the bourgeois-democratic revolution** in alliance with the peasants as a whole, the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in **splitting the rural population, in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against the kulaks and the**

bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie." (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky,** *emphasis ours*)

जैसा कि पाठक देख सकते हैं, लेनिन स्वयं ही एक़दम स्पष्ट कर देते हैं कि रूस में अक्तूबर क्रान्ति द्वारा गाँव में पहले जनवादी कार्यभारों को पूर्ण किया गया और उसके बाद ही समाजवादी कार्यक्रम लागू करने की शुरूआत हुई। क्या यह स्पष्ट नहीं कि "महासचिव" अजय सिन्हा अब साफ़ झूठ बोलने पर आमादा हैं और एक बार फिर सोवियत समाजवाद के इतिहास का विकृतिकरण कर रहे हैं? लेनिन स्पष्ट करते हैं कि समूची किसान आबादी को साथ लेने के लिए बोल्शेविकों ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम के कुछ हिस्सों को अपना लिया था:

"We showed how we achieve it on October 26, 1917, when we took that part of the programme of the Socialist-Revolutionaries which supports the peasants and put it into operation in full. In that way we showed that the peasant who had been exploited by the landowners, who lives by his own labour and does not profiteer, finds a true protector in the worker sent to him by the central state authority. In this way we have effected concord with the peasants." (Lenin, **Seventh All-Russia Congress of Soviets**)

पुन: लेनिन गाँवों में क्रान्ति का तात्कालिक कार्यक्रम स्पष्ट करते हुए लिखते हैं:

''In October 1917 we seized power together with the peasants as a whole. *This was a bourgeois revolution,* inasmuch as the class struggle in the rural districts had not yet developed. As I have said, the real proletarian revolution in the rural districts began only in the summer of 1918. Had we not succeeded in stirring up this revolution our work would have been incomplete. **The first stage was the seizure of power in the cities and the establishment of the Soviet form of government. The second stage was one which is fundamental for all socialists and without which socialists are not socialists, namely, to single out the proletarian and semi-proletarian elements in the rural districts and to ally them to the urban proletariat in order to wage the struggle against the bourgeoisie in the countryside. This stage is also in the main completed.** The organisations we originally created for this purpose, the Poor Peasants' Committees, had become so consolidated that we found it possible to replace them by properly elected Soviets, i.e., to reorganise the village Soviets so as to make them the organs of class rule, the organs of proletarian power in the rural districts. Such measures as the law on socialist land settlement and the measures for the transition to socialist farming, which was passed not very long ago by the Central Executive Committee and with which everybody is, of course, familiar, sum up our experience from the point of view of our proletarian revolution.'' (Lenin, **Eighth Congress of the R.C.P.(B.),** *emphasis ours*)

अक्तूबर क्रान्ति से ठीक पहले भी लेनिन ने इस अवस्थिति को पेश किया:

"At the present time the national and agrarian questions are fundamental questions for the petty-bourgeois sections of the population of Russia. This is indisputable. And on both these questions the proletariat is "not isolated" — farther from it than ever. It has the majority of the people behind it. It alone is capable of pursuing such a determined, genuinely "revolutionary-democratic" policy on both questions which would immediately ensure the proletarian state power not only the support of the majority of the population, but also a real outburst of revolutionary enthusiasm among the people. This is because, for the first time, the people would not see the ruthless oppression of peasants by landowners and of Ukrainians by Great Russians on the part of the government, as was the case under tsarism, nor the effort to continue the same policy camouflaged in pompous phrases under the republic, nor nagging, insult, chicanery, procrastination, underhand dealing and evasions (all that with which Kerensky rewards the peasants and the oppressed nations), but would receive warm sympathy proved by deeds, immediate and revolutionary measures against the landowners, immediate restitution of *full* freedom for Finland, the Ukraine, Byelorussia, for the Moslems, and so on." (Lenin, **Can the Bolsheviks Retain State Power?**)

लेनिन इस प्रश्न पर साफ़ नज़रिया रखते हैं तथा अक्तूबर

क्रान्ति में गाँव में बने वर्ग संश्रय को भी स्पष्ट करते हैं:

''रूस में बुर्जुआ वर्ग की पराजय के बाद बड़े किसानों के विरुद्ध सर्वहारा के संघर्ष को जटिल बनाने और धीमा करने वाली विशेष परिस्थितियाँ, मुख्य रूप से, निम्नलिखित थीं: 25 अक्टूबर (7 नवम्बर) 1917 के बाद रूसी क्रान्ति ने "आम जनवादी" मंज़िल को पार कर लिया – यानी मूलतः समग्र किसान समुदाय द्वारा भूस्वामियों के विरुद्ध बुर्जुआ जनवादी संघर्ष, शहरी सर्वहारा की सांस्कृतिक और संख्यात्मक कमज़ोरी; और अन्त में, बहुत अधिक दूरियाँ और संचार के बहुत ख़राब साधन। चूँकि उन्नत देशों में संघर्ष को धीमा करने वाली ये स्थितियाँ मौजूद नहीं हैं, इसलिए यूरोप और अमेरिका के क्रान्तिकारी सर्वहारा को अधिक ऊर्जस्वी ढंग से तैयारी करनी चाहिए, **और बड़े किसानों के प्रतिरोध पर पूर्ण विजय ज़्यादा तेज़ी, दृढ़ता और सफ़लता के साथ हासिल करनी चाहिए। यह अनिवार्य है क्योंकि, जब तक ऐसी पूर्ण विजय हासिल नहीं होती, तब तक ग्रामीण सर्वहाराओं, अर्द्धसर्वहाराओं और छोटे किसानों का जनसमुदाय सर्वहारा राज्य को पूरी तरह स्थिर राज्य के रूप में स्वीकार्य नहीं करेगा।''** *(लेनिन, **'भूमि-प्रश्न पर प्रारम्भिक मसविदा थीसिस')***

साफ़ है कि पटना के दोन किहोते महोदय अपनी वर्ग सहयोगवादी लाइन के लिए रूसी क्रान्ति के इतिहास को तोड़-मरोड़ रहे हैं। *माटसाब* ने 'अप्रैल थीसिस' के प्रश्न पर भी भ्रम फैलाने का काम किया है। वह कहते हैं कि लेनिन ने 'अप्रैल थीसिस' में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि क्रान्ति समाजवादी क्रान्ति होगी और हम पर यह आरोप मढ़ते हैं कि हमारे अनुसार लेनिन 'अप्रैल थीसिस' में ही गाँव में जनवादी क्रान्ति की अवधारणा पेश करते हैं। देखें *माटसाब* क्या लिखते हैं:

''कुल मिलाकर कुछ इस तरह की तस्वीर उभरती है *जिसमें मानो अप्रैल से ही नये वर्ग-संश्रय की नीति कायम कर ली गयी थी और भूमि समितियों के जमीन दखल और शहरों में कारखाना दखल के स्वतः:स्फूर्त आन्दोलन तेज हुए तो इस नीति के तहत दोनों आन्दोलनों को तात्विक शक्ति मानते हुए एक साथ सहयोजित कर लिया गया। यानी पहले से ही वर्ग संश्रय की नीति कायम थी और उचित अवसर आने पर लेनिन ने उसे जमीन पर उतार दिया।* यह सुनने में ही भद्दा मालूम पड़ता है। इतना ही कहा जा सकता है कि यह प्रस्तुतिकरण गलत है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

जिस किसी ने भी हमारी पिछली आलोचना पढ़ी होगी वह बता सकता है कि हमारे "प्रस्तुतीकरण" में ऐसा कुछ "प्रतीत" नहीं होता है, जैसा कि *माटसाब* को हो रहा है। वैसे उनको कुछ-कुछ "प्रतीत" होता रहता है! हमने ऐसी कोई बात कहीं नहीं कही कि अप्रैल में ही लेनिन ने नये वर्ग संश्रय की नीति क़ायम कर ली थी! हमने न ऐसी कोई तस्वीर पेश की और न ही ऐसा कुछ कहा है। *माटसाब* को कुछ नहीं सूझा तो लगे "प्रस्तुतिकरण" के अपने प्रतीति-बोध को प्रस्तुत करने! अप्रैल से सितम्बर में जाकर ही लेनिन समाजवादी-क्रान्तिकारियों के कार्यक्रम को अपना लेते हैं। 'अप्रैल थीसिस' में लेनिन यह कहते हैं कि रूस में जो विशिष्ट परिस्थिति पैदा हुई है उसमें अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और पूरा कर सकती थी, जैसा कि बाद में कोर्निलोव मसले में सिद्ध हुआ।

लेकिन *माटसाब* अपनी अपढ़ता और अवसरवाद छिपाने के लिए इस तथ्य को गोल करना चाहते हैं कि लेनिन ने समाजवादी-क्रान्तिकारियों का भूमि कार्यक्रम स्वीकार किया था। और यह भी इसलिए हो पाया क्योंकि उस वक़्त समूची किसान आबादी का दुश्मन, लेनिन के अनुसार ही, सामन्ती भूस्वामी वर्ग था। **इस पूरे ऐतिहासिक सन्दर्भ को गोलकर "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" कुलकपरस्तों की मण्डली रूसी क्रान्ति की इन विशिष्ट परिस्थितियों के चलते समूची किसान आबादी को क्रान्ति में साथ लिए जाने के तात्कालिक क़दम को समाजवादी क्रान्ति की आम रणनीति में तब्दील करना चाहते हैं ताकि भारत के मौजूदा कुलकों-धनी किसानों की दलाली कर सकें और उनकी पालकी ढो सकें।**

अब चलिए हम वह अंश देखते हैं जिसमें हमने 'अप्रैल थीसिस' के बारे में अपने पिछले लेख में लिखा था, इसे हमने ऊपर भी एक लम्बे उद्धरण के साथ दिया है। यह देखें:

"'अप्रैल थीसिस' में लेनिन ने स्पष्ट किया कि रूस फरवरी 1917 की जनवादी क्रान्ति के बाद अब समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में है, हालाँकि इस क्रान्ति को कई जनवादी कार्यभार पूरे करने होंगे और पहला कार्य होगा 'समाजवाद की ओर कुछ क़दम' बढ़ाकर रूस को सिर पर खड़े आर्थिक विनाश और आपदा से बचाना। अब समाजवादी क्रान्ति ही अपूर्ण जनवादी क्रान्ति को भी बचा सकती थी और समाजवाद की ओर कुछ आरम्भिक क़दम के साथ समाजवादी व्यवस्था के निर्माण की शुरुआत भी कर सकती थी, अन्यथा उसका भी गला घोंट दिया जाना तय था, जैसा कि कोर्निलोव मसले से सिद्ध हो गया था।" **(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)**

आप देख सकते हैं कि इस प्रश्न पर लेनिन का रुख वही है जो हमने इंगित किया है। लेनिन कहते हैं:

"I am deeply convinced that the Soviets will make the independent activity of the masses a reality more quickly and effectively than will a parliamentary republic (I shall compare the two types of states in greater detail in another letter).

They will more effectively, more practically and more correctly decide what steps can be taken towards socialism and how these steps should be taken. Control over abank, the merging of all banks into one, is *not yet* socialism, but it is a *step towards* socialism. Today such steps are being taken in Germany by the Junkers and the bourgeoisie against the people. Tomorrow the Soviet will be able to take these steps more effectively for the benefit of the people if the whole state power is in its hands.

"What *compels* such steps?

"Famine. Economic disorganisation. Imminent collapse. The horrors of war. The horrors of the wounds inflicted on mankind by the war." (Lenin, **Letters on Tactics**)

लेकिन *माटसाब* को यहाँ लेनिन के कथन से कोई मतलब नहीं है। उन्हें तो बस अपनी बच्चा पार्टी को दिखाना है कि वह भी मार्क्स और लेनिन को उद्धृत कर सकते हैं!

माटसाब आगे पूछते हैं कि अगर रूस में भूमि सुधार परिपक्व नहीं हुआ था तो लेनिन ने समाजवादी क्रान्ति की घोषणा क्यों कर दी थी? ग़ौरतलब है कि ठीक यही हमला काउत्स्की ने भी बोल्शेविक पार्टी और लेनिन पर किया था जब उसने अक्तूबर क्रान्ति को जनवादी क्रान्ति क़रार दिया था। *माटसाब* काउत्स्की की तरह पूछते हैं:

"अगर भूमि सुधार भी परिपक्व नहीं हुआ था (हालाँकि वह अन्य जगह लिख चुके हैं कि वहाँ तो इतनी विकसित पूँजीवादी खेती थी कि उसमें कॉर्पोरेट पूँजी का प्रवेश हो चुका था), अगर वहाँ के लगभग भूस्वामी 1917 के अक्टूबर में भी सामन्ती ही बने हुए थे (ऐसा लगता है कि वह कृषि में प्रशियन विधि और युंकर शैली के पूँजीवादी विकास को भी अपनी विशिष्ट शैली में ही समझते हैं), कृषि में पूँजीवादी विकास भी परिपक्व नहीं हुआ था और बोल्शेविकों का देहातों में आधार भी नहीं था, और अगर ये ही नया वर्ग-संश्रय कायम करने के मुख्य कारण थे, तो लेनिन को ये बातें तो पता थीं फिर उन्होंने क्यों अप्रैल में समाजवादी क्रान्ति के चरण को पूरा करने के लिए तैयारियों की घोषणा की?" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

कभी-कभी तो अपनी आँखों पर यक़ीन नहीं होता है कि किस तरह के मूर्खतापूर्ण सवाल इस व्यक्ति के दिमाग़ में आते हैं! कोई मार्क्सवाद और सोवियत समाजवाद के इतिहास से पूरी तरह अनभिज्ञ आदमी ही ऐसे बचकाने और हास्यास्पद सवाल पूछ सकता है। ऊपर से दिक्क़त यह है कि पटना के इस "बौद्धिक" धुरन्धर को यह गुमान भी है कि इसने सवाल के रूप में क्या हीरा ढूँढ कर निकाला है! हम पहले भी कई बार दोहरा चुके हैं कि हर प्रकार की विजातीय प्रवृत्तियाँ जो कम्युनिस्ट आन्दोलन में कभी भी विद्यमान रही हैं वे सब पटना के दोन किहोते के चरित्र में आकर समाहित हो गयी हैं; चाहे बुखारिनपन्थ हो, त्रॉत्स्कीपन्थ हो या फिर काउत्स्कीपन्थ हो! बस फ़र्क़ इतना है कि *माटसाब* इन सभी प्रवृत्तियों के नियायती भोंडे देसी संस्करण हैं!

हमने पिछले लेख में तथ्यों के साथ यह दिखाया था कि किस प्रकार रूस की खेती में बड़ी इजारेदार पूँजी का प्रवेश हो रहा था। मास्टरजी का झूठ पकड़ा गया तो वह तंज कसते हुए बोलते हैं कि सामन्ती भूस्वामियों की मौजूदगी में बड़ी इजारेदार पूँजी का प्रवेश कैसे हो सकता है? इसका जवाब लेनिन ने ही अपने समय में दे दिया था:

"America provides the most graphic confirmation of the truth emphasized by Marx in *Capital*, Volume III, that capitalism in agriculture does not depend on the form of land ownership or land tenure. *Capital* **finds the most diverse types of medieval and patriarchal landed property—feudal, "peasant allotments" (i.e., the holdings of bonded peasants); clan, communal, state, and other forms of land ownership. Capital takes hold of all these, employing a variety of ways and methods.**

…

"Remember Marx's *Capital*. In it you will find references to the extreme variety of forms of land ownership, such as feudal, clan, communal (and primitive-squatter), state, etc., which capitalism encounters when it makes its appearance on the historical scene. **Capital subordinates to itself all these varied forms of land ownership and remolds them after its own fashion,** and if one is to understand, evaluate and express this process in statistical terms, one must learn to modify the formulation of the question and the methods of investigation in accordance with the changing *form* of the process. **Capitalism subordinates to itself all these forms of land ownership: communal-allotment holdings in Russia; squatter tracts or holdings regulated by free distribution in a democratic or a feudal state, as in Siberia or the American Far West; the slave-holding estates in the American South, and the semi-feudal**

landholdings of the "purely Russian" gubernias. In all these cases, the development and victory of capitalism is similar, though not identical in form." (Lenin, **New Data on the Laws Governing the Development of Capitalism in Agriculture**)

तो *माटसाब* आपने देख लिया कि ऐसा बिलकुल सम्भव है कि कृषि के क्षेत्र में सामन्ती अवशेष भी बचे हुए हों और इजारेदार पूँजी का प्रवेश भी हो रहा हो! हमने कोई अप्रत्याशित बात नहीं कही थी। लेकिन जब *माटसाब* चकित हिरनी की तरह ऐसे मूर्खतापूर्ण सवाल पूछते हैं तो यह दिखला देता है कि इस बौद्धिक बौने के दिमाग़ में घुसे अंकगणित के खर्रे कितने ज़िद्दी हैं जो निकलने का नाम नहीं ले रहे हैं!

दूसरा, यह अधिभूतवाद से ठस दिमाग़ नहीं समझ सकता है कि प्रशियाई पथ के ज़रिये सामन्ती भूस्वामी ही पूँजीवादी भूस्वामियों में तब्दील हो रहे थे। हमने पिछले जवाब में विस्तारपूर्वक इस प्रक्रिया को लेनिन के लेखों के हवालों और ऐतिहासिक साक्ष्यों से दिखाया है। लेकिन *माटसाब* निरुत्तर होने पर कटाक्ष करके अपने "बौद्धिक" गंजत्व का ही प्रदर्शन करते हैं। लेनिन ने अप्रैल में इन तमाम जटिलताओं के बावजूद समाजवादी क्रान्ति के चरण की घोषणा क्यों की? लेनिन बताते हैं कि यह इसलिए सम्भव हुआ क्योंकि रूस में एक तरफ़ सत्ता बुर्जुआ वर्ग के हाथ में आ गयी और दूसरा तरफ़ मज़दूरों और किसानों की सोवियत के रूप में जनता की जनवादी क्रान्तिकारी तानाशाही अस्तित्व में आ चुकी थी, यानी दोहरी सत्ता का अस्तित्व में आना। लेनिन स्पष्ट करते हैं:

"The passing of state power from one *class* to another is the first, the principal, the basic sign of a *revolution*, both in the strictly scientific and in the practical political meaning of that term.

"To this extent, the bourgeois, or the bourgeois-democratic, revolution in Russia is *completed*.

"But at this point we hear a clamour of protest from people who readily call themselves "old Bolsheviks". Didn't we always maintain, they say, that the bourgeois-democratic revolution is completed only by the "revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry"? Is the agrarian revolution, which is also a bourgeois-democratic revolution, completed? Is it not a fact, on the contrary, that it has *not even* started?

"My answer is: The Bolshevik slogans and ideas on the whole have been confirmed by history; but *concretely* things have worked out *diflerently*; they are more original, more peculiar, more variated than anyone could have expected.

"To ignore or overlook this fact would mean taking after those "old Bolsheviks" who more than once already have played so regrettable a role in the history of our Party by reiterating formulas senselessly *learned by rote* instead of *studying* the specific features of the new and living reality.

"The revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry" has *already* become a reality in the Russian revolution, for this "formula" envisages only a *relation of classes,* and not a *concrete political institution implementing* this relation, this co-operation.

"The Soviet of Workers' and Soldiers' Deputies"—there you have the "revolutionary-democratic dictatorship of the proletariat and the peasantry" already accomplished in reality.'' (Lenin, **Letters on Tactics**, *emphasis ours*)

लेनिन काउत्स्की द्वारा इसी सवाल के पूछे जाने पर, जो कि अब *माटसाब* पूछ रहे हैं, यह जवाब देते हैं:

"Beginning with *April* 1917, however, long before the October Revolution, that is, long before we assumed power, we publicly declared and explained to the people: the revolution cannot now stop at this stage, for the country has marched forward, capitalism has advanced, ruin has reached fantastic dimensions, which (whether one likes it or not) *will demand* steps forward, *to socialism*. For there is *no* other way of advancing, of saving the war-weary country and of *alleviating* the sufferings of the working and exploited people.

"Things have turned out just as we said they would. The course taken by the revolution has confirmed the correctness of our reasoning. ***First*, with the "whole" of the peasants against the monarchy, against the landowners, against medievalism (and to that extent the revolution remains bourgeois, bourgeois-democratic). *Then*, with the poor peasants, with the semi-proletarians, with all the exploited, *against***

***capitalism*, including the rural rich, the kulaks, the profiteers, and to that extent the revolution becomes a *socialist* one. To attempt to raise an artificial Chinese Wall between the first and second, to separate them by *anything* else than the degree of preparedness of the proletariat and the degree of its unity with the poor peasants, means to distort Marxism dreadfully, to vulgarise it, to substitute liberalism in its place.** It means smuggling in a reactionary defence of the bourgeoisie against the socialist proletariat by means of quasi-scientific references to the progressive character of the bourgeoisie in comparison with medievalism." (Lenin, **The Proletarian revolution and The Renegade Kautsky**)

आप देख सकते हैं कि *माटसाब* अब रूस के इतिहास के एक कालखण्ड से दूसरे कालखण्ड में छिपकर कोई ऐसा तथ्य या उद्धरण खोज निकालना चाहते हैं जो उनकी कुलकपरस्ती को सत्यापित कर सके और उसे वैधीकरण प्रदान कर सके। और अगर *माटसाब* को ऐसा तथ्य नहीं मिलेगा, जोकि नहीं ही मिलेगा, तो वह लेनिन की बातों को तोड़-मरोड़ कर काम चला लेंगे! और इसलिए ही अभी वह ऐसा कर भी रहे हैं!

आगे, *माटसाब* अपने वर्ग सहयोगवाद और कुलकपरस्ती को यह कहकर सही ठहराने की कोशिश करते हैं कि वह छोटी पूँजी के भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं! यहाँ वह छोटी पूँजी के प्रति अपने निर्बाध प्रेम को खुलकर ज़ाहिर करते हैं। हमने उन्हें पहले ही कहा था कि उन्हें दुकानदारों, ठेकेदारों, दलालों और दिल्ली के मायापुरी के छोटे फैक्ट्री मालिकों से मोर्चा बना लेना चाहिए। वह अब ख़ुद इस तथ्य को स्वीकार कर रहे हैं! *माटसाब* बताते हैं कि :

''कुल मिलाकर, हम कह सकते हैं कि हम इस तरह से उजड़ने के लिए मजबूर होती छोटी पूँजियों के वर्तमान का नहीं, उसके भविष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं। यानी, कोई छोटी पूँजी उजड़ने की प्रक्रिया झेलते हुए भी जिस रूप में **आज** है उसके अर्थ में नहीं, अपितु वह **कल** क्या होगी, उसके अर्थ में। इस **कल** के अर्थ में ही इसके उजड़ने की बात हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हमें अन्य चीजों के अतिरिक्त इससे भी पूँजीवाद की मानवद्रोहिता का भण्डाफोड़ करने में मूर्त सहायता मिलती है। इस अर्थ में धनी किसानों का ही नहीं, बड़ी पूँजियों के द्वारा निगली जा रही तमाम असंख्य छोटी-मंझोली पूँजियों के **कल** आने वाले भविष्य का हम प्रतिनिधित्व करते हैं और इसे भी हमें बखूबी अपने भण्डाफोड़ अभियान का प्रस्थान बिन्दु बनाना चाहिए।'' ([किसान *आन्दोलन*] बिगुल मंडली के साथ स्पष्ट होते हमारे मतभेदों का सार, 'यथार्थ')

इस बकवास का जवाब लेनिन ने मानो "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली के लिए ही दिया था। लेनिन लिखते हैं:

"But it would be no less a mistake to forget the *reality*, which reveals the fact that an agreement, or—to use a more exact, **less legal, but more class-economic term—*class collaboration* exists between the bourgeoisie and the peasantry.**

"When this fact ceases to be a fact, when the peasantry separates from the bourgeoisie, seizes the land and power despite the bourgeoisie, that will be a new stage in the bourgeois-democratic revolution; and that matter will be dealt with separately.

"A Marxist who, in view of the possibility of such a future stage, were to forget his duties *in the present*, when the peasantry is *in agreement* with the bourgeoisie, would turn petty bourgeois. For he would in practice be preaching to the proletariat confidence in the petty bourgeoisie ("this petty bourgeoisie, this peasantry, must separate from the bourgeoisie while the bourgeois-democratic revolution is still on"). **Because of the "possibility" of so pleasing and sweet a future, in which the peasantry would *not* be the tail of the bourgeoisie, in which the Socialist-Revolutionaries, the Chkheidzes, Tseretelis, and Steklovs would not be an appendage of the bourgeois government—because of the "possibility" of so pleasing a future, he would be forgetting the *unpleasant present*, in which the peasantry still forms the tail of the bourgeoisie,** and in which the Socialist- Revolutionaries and Social-Democrats have not yet given up their role as an appendage of the bourgeois government, as "His Majesty" Lvov's Opposition.

"This hypothetical person would resemble a sweetish Louis Blanc, or a sugary Kautskyite, but certainly not a revolutionary Marxist." (Lenin, **Letters on Tactics**)

क्या हमें और कुछ कहने की ज़रुरत है? यही हमारे पटना के दोन किहोते की हालत है। वह वास्तव में *शुगरी* काउत्स्कीवादी हैं और क्रान्तिकारी मार्क्सवादी तो कत्तई नहीं हैं! ज़ाहिर सी बात है

कि छोटी पूँजी के उजड़ने के भविष्य की नुमाइन्दगी करने की बात करके आज छोटे पूँजीपति वर्ग से एकता बनाने या उसे बचाने का शोरगुल मचाना और कुछ नहीं बल्कि "महासचिव' अजय सिन्हा की घृणित मौक़ापरस्ती और सर्वहारा वर्ग से विश्वासघात को प्रदर्शित करता है।

आप देख सकते हैं कि हमारे पटना के *माटसाब* लेनिन को ही झुठलाने पहुँच गये हैं। *माटसाब* ने पिछले लेख में रूस की अक्तूबर क्रान्ति की विशेष परिस्थितियों में गाँवों में तात्कालिक तौर पर रैडिकल बुर्जुआ कार्यक्रम को लागू किए जाने की सूरत में समूची किसान आबादी के साथ आने के तथ्य का सामान्यीकरण किया ताकि उन्हें मौजूदा धनी किसान आन्दोलन के दौरान कुलकों की पूँछ में कंघी करने का वैधीकरण मिल सके। ऐसा करते हुए पटना के दोन किहोते महोदय क्रान्ति की परिस्थितियों का मूल्यांकन करने में उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष को ही ग़ायब देते हैं। वह मज़दूर वर्ग और समूची किसान आबादी बनाम एक साझा शत्रु की अवधारणा पेश करते हैं। हमारे द्वारा आलोचना करने और यह बताने पर कि रूस के विशिष्ट इतिहास को मास्टरजी गोल कर गये हैं तो अब इन महोदय ने एक बार फिर पैंतरापलट मारा और कहा कि रूस में गाँव में भी असल में समाजवादी क्रान्ति की ही मंज़िल थी और वर्ग संश्रय भी समाजवादी क्रान्ति का ही था। इस बौद्धिक बौने की बौद्धिक चार सौ बीसी की इन्तहाँ देखें!

लेकिन दिक्क़ततलब बात यह है कि *माटसाब* यह नहीं समझा सकते हैं कि फिर लेनिन समूची किसान आबादी की बात क्यों कहते हैं? लेनिन क्यों बताते हैं कि गाँवों में सर्वहारा क्रान्ति 1918 में जाकर ही शुरू हुई। जैसा साथी अभिनव ने कहा था कि **यह *माटसाब* द्वारा गूगल सर्च टूल से उद्धरणों की *हन्टिंग* और *गैदरिंग* करने का परिणाम होता है। *माटसाब* ने उद्धरणबाज़ी तो की है लेकिन किसी उद्धरण का उन्हें न तो सन्दर्भ पता होता है और न ही अर्थ।** *दोन किहोते दि ला पटना* ने रूसी क्रान्ति के बारे लेनिन के कुछ उद्धरण उठाये और उन्हें अपनी अवस्थिति में बैठाने के लिए बस गोल-गोल घुमाया! लेकिन हर बार की तरह वह इस बार भी इसमें बुरे फँसे हैं।

'यथार्थ' के नये लेख में दोन किहोते दि ला पटना द्वारा यह साबित करने की कोशिश की गयी है कि समाजवादी क्रान्ति के चरण के बावजूद और वर्ग संश्रय में धनी किसानों को साथ लिए बिना भी धनी किसानों–कुलकों के साथ मिलकर क्रान्ति की जा सकती है। यह *माटसाब* की नयी "थीसिस" है : समाजवादी क्रान्ति में धनी किसान–कुलक वर्ग साथ आएंगे लेकिन वर्ग संश्रय का हिस्सा नहीं होंगे! कुलकपरस्ती इनसे क्या-क्या करवाएगी? यह और कुछ नहीं नवनरोदवाद और नवसंशोधनवाद है जो क्रान्ति की मूल अवधारणा पर हमला करता है। यानी पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा न तो दुश्मन है और न ही मित्र! मानो इनका कुलक-त्रिशंकु बीच में अटक गया हो और एक तरफ़ तो हमारे विश्वामित्र रूपी पटना के दोन किहोते उसे स्वर्ग पहुँचाना चाहते हैं लेकिन दूसरी तरफ़ उन्हें मार्क्सवादी भी कहलाना है और समाजवादी क्रान्ति भी करनी है और इसका ज़ोर कुलकों को स्वर्ग में पहुँचने से रोक भी रहा है क्योंकि मार्क्सवादी चोगा पहनने पर समाजवाद और सर्वहारा क्रान्ति की लफ्फाज़ी भी करनी पड़ेगी! यही कारण है कि एक तरफ़ *माटसाब* कुलकों को पूँजीपति नहीं रहने देते हैं लेकिन दूसरी तरफ़ उसे पूँजीपति भी बना देते हैं! अधर में लटके इस कुलक-त्रिशंकु के मुंह से टपकी लार से पैदा होने वाली कर्मनाशा नदी में कूद-कूदकर हमारे *माटसाब* और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली छप-छप करती हुई अपने कर्मों का नाश ही कर रही है!

2. "वर्ग एक मात्रात्मक श्रेणी है": और इस तरह *माटसाब* दूसरी बन्दरकुद्दी मार पुनः समाजशास्त्रीय विश्लेषण पर पहुँचे!

माटसाब के झूठों के पुलिन्दों और इतिहास की दरिद्र जानकारी को जब हमने अपनी पिछली आलोचना में उजागर किया तो वह अपने जवाब में इस बार कहते हैं कि अरे, यह सब करने की क्या ज़रूरत थी! उन्हें बस हमारे द्वारा यह बताये जाने की ज़रुरत थी कि वह फँस गये हैं और वह तुरन्त ही अपनी अवस्थिति बदल देते! वह *इलेक्ट्रान* की अनिश्चितता के समान ही अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं। पिछले लेख में उन्होंने कहा था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' दरअसल पूँजीपति वर्ग नहीं है। हमने अपनी आलोचना में लेनिन को उद्धृत कर यह दिखाया था कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीवादी फार्मर है जो कि पूँजीपति वर्ग का ही हिस्सा होता है। अब जब *माटसाब* इस मसले पर झूठ बोलते हुए पकड़े गये हैं और बिल्ले की तरह अपने ही कुतर्कों के ऊन के गोले में फँस गये हैं तो वह कह उठते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' तब तक ही पूँजीपति है जब तक लेनिन उत्पादन सम्बन्ध की बात करते हैं! लेकिन जब वर्ग संघर्ष के शक्ति सन्तुलन की बात होती है तो *माटसाब* चेताते हैं कि तब 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीपति नहीं रहता है। वर्ग सहयोगवाद और संशोधनवाद से पगा हुआ दिमाग़ ही ऐसी बक़वास परोस सकता है। कुलकों की दलाली की चाहत ही पटना के दोन किहोते को साधू गोरेन्फ्लो वाले क़रतब दिखाने में सफल बनाती है।

देखें *माटसाब* की पुरानी अवस्थिति क्या थी:

"Lenin and the Bolshevik didn't waver on this point only because they had well studied and were well in control of the teachings of Marx and Engels on the question of attitude of communists towards different sections of peasants. They knew peasant bourgeoisie and rural capitalists were not the same thing otherwise they wouldn't have gone for a

proletarian revolution with the peasantry as whole on its side as capitalists were all expropriated." (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

और देखें:

"For the bourgeosie in above mentioned quote he explains that this word is however not a synonym of rural bourgeoisie. He means here peasant bourgeoisie. We will see that Lenin used the word 'rich peasant' not for bourgeoisie, though rural bourgeoisie develop from rich peasants. Stalin writes in HCPSU about it. He says – "From among the more well-to-do peasants there was emerging an upper layer of kulaks, the rural bourgeoisie." It means rural bourgeoise was constituted of the upper layer of kulaks. Stalin once again writes – "This peasant bourgeoisie was growing rich …. developing into rural capitalists". Here also, he differentiates between the two. (p.6, HCPSU,)

"Even in respect of the rich peasants we do not say as resolutely as we do of the bourgeoisie (Here it is clear that Lenin didn't consider the rich peasants per se as bourgeoisie.)" (Apologists are just short of saying red salute to Corporates, 'The Truth', Issue no. 12)

पाठक देख सकते हैं कि महासचिव "अजय सिन्हा" यहाँ साफ़ तौर पर बता रहे हैं कि धनी किसान और 'किसान बुर्जुआज़ी' ग्रामीण पूँजीपति वर्ग नहीं होता है।

अब *माटसाब* की नयी अवस्थिति क्या है यह भी देख लेते हैं:

''दरअसल लेनिन जब भी वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ में बात करते हैं, तो वह परिमाणात्मक अन्तर को ध्यान में रखते होते हैं। वहीं अगर वह उत्पादन सम्बन्धों के संदर्भ में विचार करते हैं तो इस परिमाणात्मक अन्तर को अलग कर देते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हम देखते हैं कि लेनिन प्राय: ग़रीब किसानों के दायरे से बाहर के सभी किसानों, सिर्फ धनी किसानों को ही नहीं, सभी किसानों को पूँजीपति ही मानते हैं, क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों या किसी खास आर्थिक केटेगरी के संदर्भ में उन पर विचार करते समय इसके सिवाय और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है।

''हाँ, एक फ़र्क़ है, वह यह है कि हम जिसे किसान बुर्जुआज़ी या खाते-पीते किसान कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण पूँजीपति कह रहे हैं। और हम जिसे ग्रामीण पूँजीपति और पूँजीपति (एक दूसरे के समानार्थक शब्द की तरह) कह रहे हैं लेनिन उसे पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी किसान कह रहे हैं। अगर इस छोटे अन्तर को छोड़ दें, जिसमें शब्दों का मामूली अन्तर है लेकिन सार रूप में कोई अन्तर मौजूद नहीं है, तो हमारी बात में और लेनिन की बात में कोई अन्तर नहीं है।

"इस सम्बन्ध में हमारे और लेनिन के बीच जो फ़र्क़ है वह मात्र इतना है कि हम जिस **खाते-पीते किसानों** को किसान बुर्जुआज़ी कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण बुर्जुआज़ी कहते हैं। जाहिर है यह फ़र्क़ कोई ऐसा फ़र्क़ नहीं है जिसे ख़त्म करने की जरूरत भी है। यह हो ही सकता है कि हम किसी चीज़ को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज़ को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

वाह! क्या ग़ज़ब की बन्दरकुद्दी मारी है *माटसाब* ने! *माटसाब* कुलकपरस्ती में इतने अन्धे हो चुके हैं कि उन्होंने सारा मसला ही इस बात पर अपचयित कर दिया है कि "हम किसी चीज़ को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज़ को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।'' मतलब अपना झूठ पकड़े जाने पर अपनी ग़लती मानने की बजाय यह बौद्धिक बौना अभी भी गलदोदई करने पर आमादा है! *दोन किहोते दि ला पटना* को लगता है बाक़ी दुनिया भी इनके सांचो पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी जैसी है कि "तुम दिन को अगर रात कहो रात कहेंगे" के इनके सुर में सुर मिलाएगी!

हमारे पिछले लेख में इनके 'किसान बुर्जुआज़ी' के इस झूठ पर हुई आलोचना से बच निकलने के चक्कर में ही *माटसाब* ने यह ज़बरदस्त बन्दरकुद्दी मारी है। लेकिन यह तो कोई छोटा बच्चा भी समझ जायेगा कि "महासचिव" अजय सिन्हा इस मसले पर झूठ बोलते हुए रंगे हाथों पकड़े गये हैं! अब बस अपनी रही-सही इज़्ज़त बचाने के लिए वह एक बार फिर तमाम क़िस्म के कठदलीली भरे हुए "बौद्धिक" द्रविड़-प्राणायाम कर रहे हैं। लेकिन ऐसा करते हुए बेचारे *माटसाब* और हास्यास्पद लग रहे हैं। इसलिए अब वह नया कुतर्क पेश करते हुए बताते हैं कि लेनिन उत्पादन सम्बन्ध की रोशनी में 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूँजीपति कहते हैं।

आगे *माटसाब* अपना कुतर्क जारी रखते हुए बताते हैं कि लेनिन "वर्ग संघर्ष के तात्कालिक निशाने और उसके दायरे" में परिमाणात्मक अन्तर को ध्यान में रखते हैं और ऐसे में कुलक और धनी किसान पूँजीपति नहीं रहते हैं। हालाँकि *दोन किहोते दि ला पटना* जब "वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे" का हास्यास्पद तर्क देते हैं तो उन्हें बताना चाहिए कि यह "तात्कालिक निशाना व दायरा" तय करने का पैमाना क्या होता है, क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों को तो वह पहले ही कचरा पेटी के हवाले कर चुके हैं। यह एक़दम बोगस बात है और पटना के दोन किहोते महोदय अपनी तरह ही लेनिन को भी एक कुलकपरस्त में तब्दील करना चाह रहे हैं लेकिन ऐसा करने पर यह महोदय

और बुरे फँस रहे हैं। यह "सैद्धान्तिक" करतब उन्होंने तब किया जब हमने यह दिखाया कि उन्हें लेनिन द्वारा बतायी गयी 'किसान बुर्जुआज़ी' की परिभाषा के बारे में कोई जानकारी नहीं है और वह झूठ बोल रहे हैं। हमने पिछली बार ही *माटसाब* की आलोचना में कहा था:

''उनके अनुसार भारत में धनी किसान और कुलक (एक छोटे से ऊपरी हिस्से का छोड़कर) दरअसल 'किसान बुर्जुआज़ी' है जो आज बड़े इजारेदार पूँजीपतियों के खिलाफ़ एकजुट हैं और सर्वहारा वर्ग के मित्र हैं! वैसे तो सच्चाई यह है कि कुलक-फार्मर वर्ग के सबसे ऊंचे हिस्से भी इस समय लाभकारी मूल्य को बचाने के लिए कारपोरेट पूँजी के ख़िलाफ़ आन्दोलन में शामिल हैं, लेकिन *माटसाब* को सच्चाइयों से क्या मतलब? वह बताते हैं कि भारत में धनी किसान आन्दोलन इतिहास को रूस की तरह की स्थिति में धकेल सकता है। धनी किसानों के खेतों में लगी हौदी में कूदकर उसे समन्दर बताने वाले पटना के हमारे दोन किहोते ही हो सकते हैं! वह लेनिन को उद्धृत कर बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' और अमीर किसान समानार्थी हैं और जिसका अर्थ बुर्जुआ वर्ग नहीं है-

"In October we confined ourselves to sweeping away at one blow the age-old enemy of the peasants, the feudal landowner, the big landed proprietor. This was a struggle in which all the peasants joined. At this stage the peasants were not yet divided into proletarians, semi-proletarians, poor peasants and bourgeoisie." (Lenin, **Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**)

"अब क्या कहा जाय? लेनिन यहाँ ख़ुद ही बता रहे हैं कि समूची किसान आबादी का मोर्चा केवल एक ही शत्रु के विरुद्ध बन सकता है: सामन्ती भूस्वामी वर्ग। क्या आज भारत में किसी सामन्ती भूस्वामी वर्ग के विरुद्ध मोर्चा बनाना है? आगे लेनिन ख़ुद ही ग्रामीण आबादी के प्रमुख हिस्सों, यानी, खेतिहर सर्वहारा, अर्द्धसर्वहारा, ग़रीब किसान और पूँजीपति वर्ग (पूँजीवादी किसान या 'किसान बुर्जुआज़ी') की बात की है। लेकिन समूचे किसानों का मोर्चा ठीक इसलिए बना क्योंकि उस समय शत्रु सामन्ती भूस्वामी वर्ग था। किसी भी बड़े शत्रु के समक्ष समूची किसान आबादी नहीं एकजुट होती है। उस बड़े शत्रु का वर्ग चरित्र क्या है, इससे तय होता है कि समूची किसान आबादी उसके विरुद्ध एकजुट होगी या नहीं। बहरहाल, इतना स्पष्ट है कि समूची किसान आबादी केवल सामन्तवाद के विरुद्ध ही एकजुट हो सकती है। क्या भारत में आज ऐसी स्थिति है? अगर है, तो पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेतृत्व को दुम दबाकर इस बिल से उस बिल में नहीं भागना चाहिए और खुल कर लिखना चाहिए कि वह जहाँ से आए हैं, वहीं वापस जा रहे हैं, यानी नवजनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर, या फिर उन्हें स्पष्ट शब्दों में कहना चाहिए कि अक्तूबर क्रान्ति के ही समान आज के भारत में भी समाजवादी क्रान्ति कृषि के क्षेत्र में रैडिकल बुर्जुआ जनवादी कार्यक्रम को पूरा करने तक सीमित रहेगी, जिसका निशाना सामन्ती भूस्वामी वर्ग था।'' (सनी, **पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट**)

हमने लेनिन व स्तालिन द्वारा दी गयी 'किसान बुर्जुआज़ी' व ग्रामीण बुर्जुआज़ी की परिभाषा स्पष्ट करते हुए लिखा था:

"किसान बुर्ज़ुआज़ी वह वर्ग है जो नियमित तौर पर बाज़ार के लिए उत्पादन करता है, उजरती मज़दूरों के श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है, मुनाफे को अधिकतम बनाने के लिए उत्पादन करता है। यह और कोई नहीं बल्कि पूँजीवादी फार्मर या धनी किसान ही है। यह पूँजी संचय की प्रक्रिया के आगे बढ़ने के साथ ज़मीनें खरीदता है, किराए पर लेता और देता है, औद्योगिक व अन्य वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश करता है, खेती की तकनोलॉजी में निवेश करता है। 'किसान बुर्जुआज़ी' और कुछ नहीं है, बल्कि उद्यमी पूँजीवादी किसान है। लेनिन यह भी बताते हैं कि ग्रामीण बुर्ज़ुआज़ी के अन्य अंगों, यानी पूँजीवादी लगानजीवी भूस्वामी, सूदख़ोर, व्यापारी व औद्योगिक निवेश करने वाले पूँजीपति, के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, बल्कि उनके बीच आंशिक अतिच्छादन (partial overlapping) होता है।

"ग्रामीण बुर्ज़ुआज़ी या ग्रामीण पूँजीपति वर्ग में उद्यमी पूँजीवादी किसान या किसान बुर्जुआज़ी, पूँजीवादी भूस्वामी, पूँजीवादी वाणिज्यिक उपक्रमों में पूँजी निवेश करने वाले और सूदख़ोरी करने वाले ग्रामीण वर्ग शामिल हैं। लेनिन यह भी बताते हैं कि इनके बीच में कोई पत्थर की दीवार नहीं है और अक्सर उद्यमी किसान/किसान बुर्ज़ुआज़ी स्वयं ज़मीन किराए पर देने वाला लगानख़ोर पूँजीवादी भूस्वामी भी होता है, वह सूद पर पैसे भी चलाता है, वाणिज्यिक उपक्रमों में निवेश भी करता है। लेकिन फिर भी इन श्रेणियों को समझना अनिवार्य है क्योंकि आंशिक अतिच्छादन के बावजूद ग्रामीण बुर्ज़ुआज़ी के ये अलग-अलग हिस्से विद्यमान होते हैं।'' (*वही*)

हमने अपनी आलोचना में ससन्दर्भ व सप्रमाण विस्तारपूर्वक दिखलाया था कि धनी किसान और कुलकों का वर्ग गाँवों में पूँजीपति वर्ग का हिस्सा होता है। दूसरा, हमने लेनिन के हवाले से यह भी दिखाया था कि गाँवों में भी पूँजीवाद के अग्रवर्ती विकास के साथ किसान आबादी के विभेदीकरण की प्रक्रिया में एक छोर पर 'किसान बुर्जुआज़ी' यानी ग्रामीण बुर्जुआ वर्ग पैदा होता है और दूसरे छोर पर ग्रामीण सर्वहारा वर्ग पैदा होता है। जैसे ही हमने *माटसाब* की यह आलोचना पेश की वैसे ही उन्होंने अपनी अवस्थिति बदल ली! पाठक स्वयं इनकी इस धूर्तता को देख सकते हैं। अब "महासचिव" अजय सिन्हा यह जता रहे हैं कि

वह कहाँ इन्कार कर रहे थे कि 'किसान बुर्जुआज़ी' पूँजीपति वर्ग नहीं है! **क्या सफ़ेद झूठ बोलता है यह आदमी?** हालाँकि ऐसा करते हुए फिर *माटसाब* यहाँ निम्नांकित धूर्तता भरी मूर्खतापूर्ण चालाकियाँ करते हैं।

माटसाब की पहली मूर्खतापूर्ण "चालाकी": उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष में विच्छेद कर वर्ग को एक परिमाणात्मक श्रेणी बना देना

माटसाब बहस में अपने झूठ पकड़े जाने पर और अपनी दबी हुई कोर बचाने की मंशा से बताते हैं कि "लचीलेपन" का और "मात्राओं" का बड़ा महत्त्व होता है। बिलकुल जनाब! होता है! **मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में कुलकों की पालकी का कहार बनने में आपकी पूरी "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली ने विचारधारात्मक रीढ़ की हड्डी का तो ग़ज़ब का "लचीलापन" दिखलाया है और उसे "मात्राओं" में बढ़ाते हुए मज़दूर वर्ग से विश्वासघात तक भी ले गयी है!** "लचीलेपन" के विषय में "सिद्धान्त प्रतिपादन" करते हुए *माटसाब* लिखते हैं:

''इस तरह इनके द्वारा धनी किसानों के बारे में दी गयी परिभाषा में कोई लचीलापन नहीं है। इनके अनुसार, जो भी किसान अपनी पूँजी बढ़ा पाता है वह पूँजीपति है और इसलिए, ये कहते हैं, कि भले ही गम्भीर संकट के पहले ही दौर के झोंके में वह उजड़ जाए, लेकिन उसके और उसके अपेक्षाकृत स्थायी रूप से पूँजीपति बन चुके तबकों में कोई फ़र्क़ नहीं करना चाहिए। इनकी समझ छोटे और बड़े के बीच फ़र्क़ करने की है ही नहीं। उत्पादन सम्बन्ध के अलावा ये कुछ भी देखना नहीं चाहते। आखिर, ये सुपर क्रान्तिकारी जो ठहरे!

"लेकिन यह गलत है, क्योंकि मात्रा की भूमिका होती है हम जानते हैं।

"दरअसल लेनिन जब भी वर्ग-संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ में बात करते हैं, तो वह परिमाणात्मक अन्तर को ध्यान में रखते होते हैं। वहीं अगर वह उत्पादन सम्बन्धों के संदर्भ में विचार करते हैं तो इस परिमाणात्मक अन्तर को अलग कर देते हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि हम देखते हैं कि लेनिन प्राय: ग़रीब किसानों के दायरे से बाहर के सभी किसानों, सिर्फ धनी किसानों को ही नहीं, सभी किसानों को पूँजीपति ही मानते हैं, क्योंकि उत्पादन सम्बन्धों या किसी खास आर्थिक केटेगरी के संदर्भ में उन पर विचार करते समय इसके सिवाय और कोई दूसरा रास्ता भी नहीं होता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

माटसाब के अनुसार मात्रा का महत्त्व होता है। निश्चित ही होता है, लेकिन हर परिमाण किसी न किसी गुण के साथ ही अभिव्यक्ति पाता है। गुण और परिमाण द्वंद्वात्मक श्रेणियां हैं जिसमें विच्छेद हर अधिभूतवादी को करना ही होता है, जोकि पटना के दोन किहोते हैं। *माटसाब* यहाँ चोरी पकड़ी जाने पर मार्क्सवाद के बुनियादी प्रवर्गों के साथ तोड़-मरोड़ करना शुरू कर देते हैं और संशोधनवाद की राह पर थोड़ा और आगे बढ़ जाते हैं। मास्टरजी बताते हैं कि अगर "वर्ग संघर्ष और उसके तात्कालिक निशाने व दायरे के संदर्भ" से देखें तो धनी किसान और कुलक पूँजीपति वर्ग नहीं हैं। लेकिन चूंकि लेनिन उत्पादन सम्बन्ध के नज़रिये से देखते हैं तो वह पूँजीपति वर्ग कहलाता है और लेनिन के अनुसार तो ग़रीब किसान के अलावा हर किसान ही पूँजीपति बन जाता है! यह लेनिन की समझदारी का विकृतिकरण नहीं है तो और क्या है? देखते हैं कि *माटसाब* किस प्रकार लेनिन को एक साधारण नरोदवादी और सुधारवादी बनाने का प्रयास करते हैं।

लेनिन के लिए बुनियादी पैमाना यही था कि कौन सा किसान उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है और कौन ऐसा नहीं करता है। इस मूल गुणात्मक आधार को छोड़ दें, तो अन्य सभी मात्रात्मक आधार अपने आप में कुछ भी तय नहीं करते; मसलन, किस किसान की आय ज़्यादा है, किस किसान की आय कम है, यह मार्क्सवादी-लेनिनवादी के लिए अपने आप में कोई पैमाना नहीं है। क्यों? क्योंकि यह वितरण सम्बन्धों पर आधारित श्रेणी है। वर्गों की पहचान उत्पादन सम्बन्धों के आधार पर होती है। यदि कोई किसान उजरती श्रम का शोषक है, तो वह समाजवादी क्रान्ति की मंजिल में किसी भी रूप में मित्र वर्ग नहीं हो सकता है, चाहे *माटसाब* उत्पादन सम्बन्ध के आर्थिक आधार और वर्गों के रूप में उसकी सामाजिक व राजनीतिक अभिव्यक्ति के बीच कितना भी विच्छेद करने का प्रयास करें। लेनिन का केवल और केवल यही विश्लेष्णात्मक पैमाना है।

इसके अलावा, *माटसाब* जानबूझकर हमें भी ग़लत उद्धृत करते हैं। उनके अनुसार हमारा मानना है कि जो अपनी पूँजी बढ़ा पाता है, वह पूँजीपति होता है! यह अनोखा विश्लेषण *माटसाब* ने अपने दिमाग़ के कबूतरखाने में करके हम पर आरोपित कर दिया है। हमने बार-बार यह कहा है कि जो भी किसान उजरती श्रम का नियमित तौर पर शोषण करता है और पूँजी संचय करके विस्तारित पुनरुत्पादन करता है, वह पूँजीवादी फार्मर की श्रेणी में आता है और इसलिए ग्रामीण पूँजीपति वर्ग की श्रेणी में आता है और इसलिए भारत के धनी किसान, कुलक और फार्मर इसी श्रेणी में आते हैं। यह बुनियादी पैमाना है। बाक़ी सभी कारक इसके बाद आते हैं।

लेकिन क्या कारण है कि "महासचिव" अजय सिन्हा इस बुनियादी पैमाने का कभी ज़िक्र तक नहीं करते हैं? क्या कारण है कि जब भी उजरती श्रम के शोषकों की बात आती है तो *माटसाब* बौड़मों की तरह मुहं बा कर छत ताकने लगते हैं? क्या वजह है कि "यथार्थवादी" मूर्खों की मण्डली इस बात पर हमेशा साज़िशाना चुप्पी अख्तियार किये रखती

है? वजह साफ़ है: इन "यथार्थवादियों" को गाँव में खेतिहर मज़दूरों और दलित मज़दूरों और साथ ही ग़रीब किसानों के प्रमुख शोषक और उत्पीड़क कुलक-धनी किसान वर्ग की दलाली जो खानी है!

यही कारण है कि *दोन किहोते दि ला पटना* अपनी नंगी कुलकपरस्ती को कुछ "सैद्धान्तिक" मुलम्मा पहनाने की हास्यास्पद कोशिश कर रहे हैं। हालाँकि यह कुलकपरस्ती इतनी ज़्यादा नंगी है कि कोई मुलम्मा न तो अतीत में इनके काम आया है और न अब आ रहा है! दरअसल बहस की शुरुआत से ही इन "यथार्थवादियों" का वन-पॉइण्ट एजेण्डा अपने आकाओं यानी इन्ही धनी किसानों-कुलकों के शोषण का वैधीकरण तैयार करना था और इस परजीवी शोषक-उत्पीड़क वर्ग के समर्थन में पक्ष निर्मित करना था। इसलिए *माटसाब* अब जो तर्क लेकर आए हैं वह वर्ग को एक मात्रात्मक श्रेणी बना देते हैं और पूरी तरह एक सापेक्षिक मनोगत श्रेणी बना देता है जिसका वस्तुगत उत्पादन के सम्बन्धों से कोई लेना-देना ही नहीं है। यह हद दर्जे की घटिया मौक़ापरस्ती है जो सिर्फ बहस में बार-बार अपने झूठ बोले जाने पर पकड़े जाने की वजह से "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादियों" द्वारा की जा रही है। साथ ही आप देख सकते हैं कि *दोन किहोते दि ला पटना* एक बार फिर बुर्जुआ समाजशास्त्र के कचरे में लोट लगा रहे हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत यह "थीसिस" वर्ग का मार्क्सवादी विश्लेषण नहीं बल्कि समाजशास्त्रीय विश्लेषण है।

चूंकि *माटसाब* द्वारा एक बार फिर मार्क्सवाद का विकृतिकरण किया गया है इसलिए पहले यह समझ लेते हैं कि उत्पादन सम्बन्ध क्या होते हैं: सम्पत्ति सम्बन्ध, सामाजिक श्रम विभाजन तथा वितरण सम्बन्ध का कुल योग ही उत्पादन सम्बन्ध कहलाता है। वर्ग अन्तरविरोध उत्पादक शक्तियों और उत्पादन सम्बन्धों के बीच के अन्तरविरोध के एक ख़ास दौर में ही अस्तित्व में आता है और उसकी ही विचारधारात्मक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति होता है। लेनिन के अनुसार वर्ग की परिभाषा क्या है? लेनिन बताते हैं कि:

"Classes are large groups of people differing from each other by the place they occupy in a historically determined system of social production, by their relation (in most cases fixed and formulated in law) to the means of production, by their role in the social organisation of labour, and, consequently, by the dimensions of the share of social wealth of which they dispose and the mode of acquiring it. **Classes are groups of people one of which can appropriate the labour of another owing to the different places they occupy in a definite system of social economy."** (Lenin, **A Great Beginning**)

मास्टरजी को ऊपर दिये उद्धरण को ठीक से पढ़ना चाहिए और समझना चाहिए कि लेनिन के अनुसार मात्रा से वर्ग तय नहीं होता है। लेनिन स्पष्ट करते हैं कि:

"Capitalists may be small or big, foolish or clever, but this is not a criterion of capitalism. Capitalism means producing commodities and hiring wage-labour." (Lenin, **There's a Trudovik for You!)**

यानी *माटसाब* के शब्दों में लेनिन भी "उत्पादन सम्बन्ध के अलावा कुछ भी देखना नहीं चाहते। आखिर, ये सुपर क्रान्तिकारी जो ठहरे!''

आगे पुन: लेनिन छोटे किसानों के सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि:

"As a matter of fact, **the vast majority of the "small and medium" peasants to whom the Left Narodniks are fond of referring without discrimination, either sell or buy labour-power, either hire themselves out or hire labour. That is the *crux* of the matter, which the bourgeois "labour economy" theory obscures.**

"The proletarian says to the small peasant: you are a semi-proletarian, so follow the lead of the workers; it is your only salvation.

"The bourgeois says to the small peasant: you are a small proprietor, a "labouring farmer". Labour economy "grows" under capitalism as well. You should be with the proprietors, not with the proletariat.

"The small proprietor has two souls: one is a proletarian and the other a "proprietory" soul.

"The Left Narodniks are, *in effect*, repeating the theories of the bourgeoisie and corrupting the small peasants with "proprietory" illusions. That is why the Marxists relentlessly combat this bourgeois corruption of the small peasants (and backward workers) by the Left Narodniks." (Lenin, **The Left Narodniks Whitewash the Bourgeoisie**)

लेनिन छोटे किसानों की दोयम स्थिति को स्पष्ट करते हैं कि पूँजीवाद के अन्तर्गत वे भी छोटे पैमाने के माल उत्पादक होते हैं, हालाँकि वे धनी किसानों-कुलकों और पूँजीवादी फार्मरों की तरह उजरती श्रम के शोषक नहीं होते हैं। लेकिन ज़मीन के छोटे से टुकड़े के मालिकाने के कारण उनके अन्दर नैसर्गिक

तौर पर "स्वामित्व की आत्मा" भी होती है। दूसरी ओर चूंकि यह वर्ग स्वयं उजरती श्रम का नियमित शोषण नहीं करता है और मुख्यत: अपने या अपने परिवार के श्रम से ही उत्पादन करता है तो उस दृष्टि से इसका सर्वहारा वर्ग के साथ भी साझा पक्ष बनता है। लेकिन लेनिन यह भी बताते हैं कि भले ही छोटे किसान भी मज़दूरों की तरह उत्पीड़ित होते हैं, फिर भी इसे एक वर्ग के तौर पर हमेशा मज़दूर वर्ग से अलग करके देखने की आवश्यकता है:

"On the other hand, the difference in the *class* status of the small farmers and the hired labourers is here thrown into especially sharp relief. To be sure, both labour; to be sure, both are subject to exploitation by capital, though in entirely different forms. But only vulgar bourgeois democrats will for this reason put the two different classes together and speak of small-scale operations by family farms. To do so is to cover up and disguise the *social system* of the economy—its bourgeois nature—and push into the foreground a feature common to *all* earlier formations, namely, the necessity for the petty farmer to work, to engage in personal, physical labour, if he is to survive.

"Under capitalism, the small farmer—whether he wants to or not, whether he is aware of it or not—becomes a commodity producer. And it is this change that is fundamental, for it alone, even when he does not *as yet* exploit hired labour, makes him a petty bourgeois and converts him into an antagonist of the proletariat. He sells his product, while the proletarian sells his labour-power. The small farmers, as a class, cannot but seek a rise in the prices of agricultural products, and this is tantamount to their joining the big landowners in sharing the ground-rent, and siding with the landowners against the rest of society. As commodity production develops, the small farmer, in accordance with his *class* status, inevitably becomes a *petty landed proprietor.*

"…But it is quite possible, on the contrary, to imagine a state of affairs—indeed, such a situation is even typical of capitalism—where an improvement in the condition of the small farmers, as a class, *results from their alliance with the big landlords, their participation in exacting a higher ground-rent from society as a whole,* the contradictions arising between them and the mass of proletarians and semi-proletarians, who depend, entirely or at least mostly, on the sale of their labour-power." (Lenin, **New Data on the Laws Governing the Development of Capitalism in Agriculture**, *emphasis ours*)

ज़ाहिर है, वह ग़रीब किसान जो मुख्य रूप से अर्द्धसर्वहारा में तब्दील हो चुका है, यानी कि जो अब मुख्य रूप से श्रमशक्ति को बेचने पर निर्भर करता है, वह सर्वहारा वर्ग का मित्र है। लेकिन वह किसान जो कि केवल माल उत्पादक है और केवल अपना माल बेचता है, वह भी मूलत: पेटी बुर्जुआ वर्ग है, श्रमशक्ति का शोषक बनने की आकांक्षा रखता है, मज़दूर बन जाना उसका सबसे बड़ा भय होता है, और इस रूप में मज़दूर वर्ग के विरोधी पक्ष में खड़ा होता है। निश्चित तौर पर, पूँजीवाद के विकास के साथ इसका एक हिस्सा उजड़कर अर्द्धसर्वहारा और सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाता है। लेकिन इसका एक छोटा हिस्सा पूँजीपति वर्ग में भी शामिल होता है। पूँजीवाद के मातहत यह इस वर्ग की स्थिति होती है। सर्वहारा वर्ग अपनी तात्कालिक नीति उसके सम्भावित भविष्य के आधार पर नहीं तय करता है और न ही कर सकता है, जैसा कि लेनिन ने उस उद्धरण में स्पष्ट किया है, जिसे हमने ऊपर पेश किया है।

साफ़ है कि वर्ग की मार्क्सवादी परिभाषा को मास्टरजी भूल चुके हैं या यह भी हो सकता है कि उन्हें कभी पता ही नहीं था। दरअसल यह सारी चालबाज़ी *माटसाब* द्वारा अपने कुलकवादी वर्ग सहयोगवाद पर पर्दा डालने के लिए ही की गयी है। आप इस उद्धरण में एक और बात स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं जो एमएसपी के सवाल पर चल रहे मौजूदा कुलक आन्दोलन पर भी शब्दशः सटीक बैठती है। कृषि उत्पादों, जिसमें की खाद्यान्न भी शामिल हैं, की कीमतें बढ़ाने की कोई भी माँग पूरे समाज के विरुद्ध जाती है और पूँजीवादी भूस्वामी वर्ग की निरपेक्ष लगान या फिर इजारेदार लगान को बढ़ाने की माँग के समान है; ठीक इन्ही अर्थों में, लाभकारी मूल्य, जो कि पूँजीवादी राज्यसत्ता द्वारा धनी किसानों, पूँजीवादी फार्मरों और कुलकों के समर्थन में समाज से वसूला जाना वाला 'ट्रिब्यूट' है, एक इजारेदारी क़ीमत और इजारेदारी लगान है, जो कि खाद्य उत्पादों की क़ीमतों को बढ़ाता है और इसलिए मज़दूर वर्ग समेत आम मेहनतकश आबादी के ख़िलाफ़ जाता है। लेनिन का यह उपरोक्त कथन आज भी सोलह आने सच है। हम पाठकों से कहेंगे कि लेनिन की यह उपरोक्त रचना ज़रूर पढ़ें जिसमें अमेरिकी कृषि में पूँजीवादी विकास की आभिलाक्षणिकताओं को लेनिन द्वारा शानदार तरीक़े से प्रस्तुत किया गया है, जो आज के भारतीय सन्दर्भ में भी शब्दशः लागू होती हैं। हालाँकि "यथार्थवादी" कुलकवादी गिरोह को यह कत्तई

समझ नहीं आएगा क्योंकि कुलकों की पूँछ में कंघी करने में मगन होकर वे सर्वहारा वर्ग और उसके हितों को भूल चुके हैं।

इस प्रश्न पर स्तालिन भी अपनी बात रखते हुए बताते हैं कि लेनिन के अनुसार वैयक्तिक किसानी को 'आखिरी पूँजीपति' वर्ग कहने का मतलब ही है उसे वर्ग विभाजित करके देखना। लेकिन *माटसाब* अपने गोरेंफ्लो-सरीखे कर्मकाण्डों के ज़रिये किसान आबादी के वर्ग विभेदीकरण को मिटाना चाहते हैं! हमने पहले ही यह स्पष्ट किया था कि वह भोंडे बुखारिनपन्थी हैं। स्तालिन कहते हैं:

"Lenin said that the individual peasantry *is the last capitalist class***. Is that thesis correct? Yes, it is absolutely correct. Why is the individual peasantry defined as the last capitalist class? Because, of the two main classes of which our society is composed, the peasantry is the class whose economy is based on private property and small commodity production. Because the peasantry, as long as it remains an individual peasantry carrying on small commodity production, produces capitalists from its midst, and cannot help producing them, constantly and continuously.**

"This fact is of decisive importance for us in the question of our Marxist attitude to the problem of the alliance between the working class and the peasantry. This means that we need, not *just any kind* **of alliance with the peasantry, but only** *such an alliance* **as is based on the struggle against the capitalist elements of the peasantry.**

"As you see, Lenin's thesis about the peasantry being the last capitalist class not only does not contradict the idea of an alliance between the working class and the peasantry, but, on the contrary, supplies the basis for this alliance as an alliance between the working class and the majority of the peasantry directed against the capitalist elements in general and against the capitalist elements of the peasantry in the countryside in particular.

"Lenin advanced this thesis in order to show that the alliance between the working class and the peasantry can be stable only if it is based on the struggle against those capitalist elements which the peasantry produces from its midst." (Stalin, Right wing deviation in CPSU (B))

स्तालिन ने जो बात यहाँ पेश की है क्या बिलकुल उसके विपरीत बात पीआरसी के "महासचिव" नहीं कर रहे हैं? हमने *माटसाब* की वर्ग की इस परिमाणात्मक परिभाषा के पहले भी परखच्चे उड़ाए थे :

"दरअसल, यह बौद्धिक कलाबाज़ी धनी कुलकों-किसानों की गोद में बैठने के लिए की गयी है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। लेकिन क्या आय के अन्तर के आधार पर वर्गों को परिभाषित किया जा सकता है और उसके आधार पर वर्ग संश्रय की कार्यदिशा पेश की जा सकती है? **नहीं!**

"यह मार्क्सवादी पद्धति नहीं बल्कि बुर्जुआ समाजशास्त्रीय और भोण्डी अर्थवादी पद्धति है जोकि उत्पादन सम्बन्धों, उत्पादन के साधनों तक पहुँच और उजरती श्रम के शोषण के पैमानों के अनुसार नहीं बल्कि आय के अनुसार वर्गों को विभाजित और परिभाषित करती है। इस प्रकार तो न सिर्फ खेतिहर पूँजीपति वर्ग को बल्कि पूरे पूँजीपति वर्ग को भी अमीर, बेहद अमीर और बेहद बेहद अमीर हिस्सों में बांटा जा सकता है! क्या उसके आधार पर कम अमीर पूँजीपतियों से वर्ग संश्रय बनाने और उन्हें समाजवाद पर राज़ी करने के एडवेंचर में उतरने के लिए हमारे पीआरसी के मास्टरजी तैयार हैं, क्योंकि सिर्फ धनी किसान–कुलक ही नहीं बल्कि छोटे पूँजीपूति वर्ग के सभी हिस्से नवउदारवाद के दौर में बड़ी इजारेदार पूँजी के समक्ष संकट का सामना कर रहे हैं? मसलन, अपने तर्क से उन्हें छोटे कारखानेदारों, दलालों, व्यापारियों आदि को भी साथ लेना चाहिए क्योंकि उनके अनुसार उपरोक्त संकट के कारण वह भी पूँजीवाद के खिलाफ़ संघर्ष में शामिल हो जाएंगे? जैसा कि आप देख सकते हैं यह पूरा तर्क ही मज़ाकिया और वाहियात है।

"वर्गों को परिभाषित करने का यह पैमाना नहीं होता है कि कौन कितना कमाता है बल्कि यह इससे तय होता है कि उत्पादन सम्बन्धों की व्यवस्था में उसका क्या स्थान है, वह श्रम शक्ति का शोषण करता है या नहीं। यह मार्क्सवाद का 'क ख ग' है। लेकिन मास्टरजी का पुराना रिकॉर्ड देखते हुए हमें कोई आश्चर्य नहीं है कि उन्हें मार्क्सवाद का इमला भी नहीं आता, जैसा कि हम आगे भी आपको दिखलाएंगे। **आय के अनुसार वर्गों की विभाजक रेखा (line of demarcation) खींचना समाजशास्त्रीय और भोंडी अर्थवादी पद्धति है न कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी पद्धति। यह वितरण की संरचना व सम्बन्धों को प्रदर्शित करती है, न कि उत्पादन के सम्बन्धों को, जो कि कुल सामाजिक स्तर पर अन्ततः वितरण के सम्बन्धों को**

निर्धारित करते हैं।'' (सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)

तो इस प्रकार मास्टरजी अपनी पुरानी सस्ती अवधारणाओं पर नयी जिल्द चढ़ाकर सांचों पांज़ाओं की अपनी छोटी-सी बच्चा पार्टी को चमत्कृत करते रहते हैं!

माटसाब की दूसरी मूर्खतापूर्ण "चालाकी": लेनिन और *माटसाब* का 'किसान बुर्जुआज़ी' के प्रति नज़रिया तो एक था बस नाम अलग–अलग इस्तेमाल कर दिए थे!

माटसाब कहते हैं कि:

''हाँ, एक फ़र्क़ है, वह यह है कि हम जिसे किसान बुर्जुआजी या खाते-पीते किसान कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण पूँजीपति कह रहे हैं। और हम जिसे ग्रामीण पूँजीपति और पूँजीपति (एक दूसरे के समानार्थक शब्द की तरह) कह रहे हैं लेनिन उसे पूँजीपति वर्ग और पूँजीवादी किसान कह रहे हैं। अगर इस छोटे अन्तर को छोड़ दें, जिसमें शब्दों का मामूली अन्तर है लेकिन सार रूप में कोई अन्तर मौजूद नहीं है, तो हमारी बात में और लेनिन की बात में कोई अन्तर नहीं है।

"इस सम्बन्ध में हमारे और लेनिन के बीच जो फ़र्क़ है वह मात्र इतना है कि हम जिस **खाते-पीते किसानों** को किसान बुर्जुआजी कहते हैं, लेनिन उसे ग्रामीण बुर्जुआजी कहते हैं। जाहिर है यह फ़र्क़ कोई ऐसा फ़र्क़ नहीं है जिसे ख़त्म करने की जरूरत भी है। यह हो ही सकता है कि हम किसी चीज को जिस नाम से पुकारते हैं ठीक उसी चीज को कोई दूसरा दूसरे नाम से पुकार सकता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], यथार्थ)

अरे *माटसाब* ! कुछ तो शर्म करो! आखिर झूठ बोलने और गलदोदई करने की भी कोई सीमा होती है! इस प्रकार से झूठ बोल कर लीपापोती करने की घटिया वाहियात हरक़तों में आम तौर पर भाजपाई संलिप्त पाए जाते हैं। लेकिन "महासचिव" अजय सिन्हा और उनका "यथार्थवादी" बौड़म गिरोह तो कुलकपरस्ती में ऐसा मगन हो चला है कि यह झूठ बोलने, बात बदलने, कहे हुए से मुकर जाने के सभी रिकॉर्ड हर आलोचना के साथ ध्वस्त करते जा रहे हैं। और इनका यह "मैं कुलकों की दीवानी हूँ" गिरोह फेसबुक पर शराफ़त का चोगा ओढ़कर आये दिन तर्जनी उठाकर सदाचार और शिष्टाचार की कोचिंग क्लास चलाता हैं! मतलब हिपोक्रेसी की भी आखिर कोई सीमा होती है! आप देख सकते हैं कि मास्टरजी यहाँ एक़दम सफेद झूठ बोल रहे हैं। इसके अलावा लेनिन के अनुसार ग्रामीण पूँजीपति और पूँजीवादी किसान में कोई अन्तर नहीं है; उद्यमी पूँजीवादी फार्मर ग्रामीण पूँजीपति वर्ग का हिस्सा ही है। निम्न उद्धरणों में आप यह देखें कि कैसे लेनिन धनी किसानों और कुलकों को ही पूँजीपति वर्ग का हिस्सा बताते हैं और साथ ही मज़दूर वर्ग का दुश्मन भी।

"**Having completed the bourgeois-democratic revolution** in alliance with the peasants as a whole, the Russian proletariat finally passed on to the socialist revolution when it succeeded in **splitting the rural population, in winning over the rural proletarians and semi-proletarians, and in uniting them against the kulaks and the bourgeoisie, including the peasant bourgeoisie.**" (Lenin, **The Proletarian Revolution and Renegade Kautsky**, *emphasis ours*)

और देखें:

"The landowners and capitalists are generally opposed to full and undivided power being vested in the Soviets of Peasants' Deputies in the countryside; but if these Soviets are unavoidable, then we had better confine ourselves to them alone, **for the rich peasants are also capitalists**. (Lenin, *POLITICAL PARTIES IN RUSSIA AND THE TASKS OF THE PROLETARIAT*, **Collected Works, Vol-24**, p. 104, *emphasis ours*)

और भी देखें:

"In order that **the rich peasants—who are themselves capitalists**—may not wrong and deceive the agricultural labourers and the poor peasants, it will be necessary for the latter either to confer, to combine, to unite separately, or to set up Soviets of Agricultural Labourers' Deputies of their own. (Lenin, **Speech delivered at a meeting of Soldiers of the Izmailovsky Regiment, APRIL 10** (23), 1917, *emphasis ours*)

माटसाब फिर "बौद्धिक" चार सौ बीसी का परिचय देते हुए यह जताने की कोशिश कर रहे हैं कि खाता-पीता किसान वास्तव में पूँजीपति वर्ग का हिस्सा नहीं है। हालाँकि *माटसाब* की भाषा ही माशाअल्लाह ऐसी अगड़म-बगड़म है कि कोई भी सामान्य व्यक्ति पढ़कर समझ नहीं सकता है कि यह महाशय बोलना क्या चाहते हैं। मतलब स्कूली शिक्षा से भी इस व्यक्ति ने ज़्यादा कुछ सीखा नहीं। न तो हिन्दी बोधगम्य लिखता है और अंग्रेज़ी लिखता है, तब तो अत्याचार ही कर डालता है! ऊपर से चोरी और झूठ पकड़े जाने पर इनके मुंह से अगड़म-बगड़म ही निकल रहा है! जो भी हो, खाते-पीते किसानों के बारे में लेनिन की अवस्थिति नीचे देखें:

"Consequently, the well-to-do peasants (the

top two groups) engage in what is commercial cultivation, and secure a gross money income ranging from 574 to 1,500 rubles per annum. This commercial cultivation then **becomes capitalist farming, for the areas cultivated by the well-to-do peasants exceed the family labour norm (i.e., the amount of land that a family can cultivate by its own labour), and compel them to resort to the hiring of workers**: in the three northern uyezds of Taurida Gubernia, the author estimates, the well-to-do peasants hire over 14,000 rural workers. The poor peasants, on the contrary, "provide workers" (over 5,000), that is, resort to the sale of their labour-power, since the income from cultivating the land amounts, in the 5 to 10 dess. group, for example, to only about 30 rubles in cash per household. We observe here, consequently, **the very process of the creation of a home market that is dealt with by the theory of capitalist production—the "home market" grows as a result of the conversion into a commodity of the product of commercial, entrepreneur farming, on the one hand, and of the conversion into a commodity of the labour-power sold by the badly-off peasants, on the other.**

…

"We see, accordingly, that **the well-to-do peasants, notwithstanding the fact that <u>they are best provided with allotment land, concentrate in their hands the bulk of the purchased and the rented land and turn into small landowners and capitalist farmers…</u>**

<u>"Thus the well-to-do peasantry are far better supplied with implements than the poor and even the middle peasantry.</u> It is sufficient to glance at this table to see how totally fictitious are the "average" figures which people are so fond of bringing into play when they talk of the "peasantry". The commercial cultivation of the **peasant bourgeoisie** is accompanied here by **commercial livestock farming**, namely, the breeding of coarse-wool sheep. Regarding implements, we shall quote in addition figures for **improved implements**, which we have taken from Zemstvo statistical returns. Out of the total reaping and mowing machines (3,061), 2,841, or 92.8%, belong to the **peasant bourgeoisie** (5 of the total households).

"The further the penetration of commodity production into crop cultivation, and, consequently, the keener the competition among the agriculturists, the struggle for land and for economic independence, the more vigorously must this law be manifested, **a law which leads to the ousting of the middle and poor peasants by the peasant bourgeoisie."** (Lenin, **The Development of Capitalism in Russia, Chapter II. The Differentiation of the Peasantry,** *our emphasis*)

उपरोक्त चर्चा से साफ़ है कि *माटसाब* यह "बौद्धिक" हेराफेरी और जालसाज़ी अपनी चोरी पकड़े जाने पर कर रहे हैं। लेनिन के अनुसार किसान बुजुआज़ी ग्रामीण पूँजीपति वर्ग या ग्रामीण बुर्जुआज़ी का हिस्सा ही है, जैसा कि हमने विस्तारपूर्वक अपनी पिछली आलोचना में भी दिखलाया था, जिसके बाद "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" कुलकवादी मण्डली का नवीनतम "बौद्धिक" और राजनीतिक केंचुल नृत्य शुरू हो गया है। नामों के अन्तर के मूर्खतापूर्ण और बचकाने तर्क के पीछे छिपने की कोशिश करके मास्टरजी अपनी वैचारिक नग्नता छिपा नहीं सके हैं और बहस में अपनी भद्द और पिटवा रहे हैं।

माटसाब द्वारा उत्पादन सम्बन्ध और वर्ग संघर्ष का यह हास्यास्पद अन्तर इसलिए ही खड़ा किया गया है कि वह अपनी ग़लती और झूठ को छिपा सकें और साथ ही कुलकपरस्ती भी निभा सकें। पिछली बार इन्होंने जितनी छाती पीटी थी कि 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूँजीपति वर्ग नहीं कहना चाहिए अब उसे यह फिर से धूर्तता और "बौद्धिक" बेईमानी करके छिपाना चाहते हैं। बस इनके कुतर्कों के पीछे ढेर सारी नैतिक बमबारी होती है। भूतपूर्व एसयूसीआई वालों के साथ रोज़ कुलकों के मेले में घूमेंगे, तो ऐसा तो होगा ही!

इस बार भी कुलकों के राजनीतिक नमक का हक़ अदा करते हुए "महासचिव" अजय सिन्हा धनी किसानों के बारे में फिर मूर्खतापूर्ण प्रलाप जारी रखते हैं और कहते हैं कि लेनिन के अनुसार केवल ऊपरी तबका ही ऐसा था जिसे कि कुलक कहा जा सकता है जबकि धनी किसानों के बड़े हिस्से को पूँजीपति नहीं कहा जा सकता है। उपरोक्त उद्धरणों में और हमारी पिछली आलोचना में भी हमने लेनिन के हवाले से दिखलाया है कि लेनिन का कोई ऐसा मानना नहीं था। हालाँकि अपने पिछले लेखों में यह बौद्धिक बौना साफ़ तौर पर कुलकों और धनी किसानों को भी सर्वहारा क्रान्ति का समर्थक बता रहा था, जिससे इस

बार वह मुकर गया है। यहाँ पटना के दोन किहोते महोदय अपनी कुलकपरस्ती के चलते लेनिन को संशोधित करने में ज़रा भी वक़्त नहीं लगाते हैं। लेनिन के ऊपर लगातार*माटसाब* वैचारिक हमले करते हैं।

दरअसल *दोन किहोते दि ला पटना* और "यथार्थवादी" मण्डली अपनी कुलकपरस्त अवस्थितियों में बुरी तरह से फँस गये हैं और उन्हें कोई आड़ लेकर बहस से भागना है। आप देख सकते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' के सवाल पर "महासचिव" अजय सिन्हा ने अपने पिछले लेख में पहले ख़ुद लेनिन की परिभाषा को ही उद्धृत किया था लेकिन जब हमने दिखाया कि उन्होंने इस विषय में लेनिन की अवस्थिति ग़लत समझी है और साथ ही लेनिन को उद्धृत करके हमने यह भी दिखाया कि लेनिन 'किसान बुर्जुआज़ी' को पूँजीपति वर्ग का हिस्सा ही मानते थे तो अब यह जनाब कहते हैं कि इस विषय में लेनिन और उनकी पेशकश में केवल शब्दों का अन्तर है। यह बौद्धिक बौना बेईमानी करने और झूठ पकड़े जाने के बाद बिलकुल नंगा होने पर भी अपनी ग़लती स्वीकार नहीं करता है! क्या ऐसे व्यक्ति से बहस हो सकती है? हमारा मानना है कि पटना के दोन किहोते महोदय और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली अब पाठकों के सामने ठीक से नंगे हो चुके हैं और अब केवल कुतर्कों का मकड़जाल ही 'यथार्थ'/'दि ट्रूथ' पत्रिका के पन्नों पर पेश किये जा रहे हैं।

- ***माटसाब* की तीसरी "ऐतिहासिक" बन्दरकुद्दी: दोन किहोते दि ला पटना ने 'श्रमशक्ति का मूल्य' से "श्रम का मूल्य" तक का सफ़र कैसे तय किया?**

माटसाब जिस बिन्दु पर सबसे अधिक नंगे हुए हैं (हालाँकि उनकी तमाम मूर्खताओं का ऐसा कोई वरीयता क्रम बनाना बेहद मुश्किल काम है) वह है समाजवाद में श्रमशक्ति के मूल्य की मौजूदगी का उनका ग़लत दावा जिसे वह चाहकर भी अपने झूठों के अम्बार के पीछे छिपा नहीं सके हैं। *माटसाब* अपने पिछले लेख में इस बात से मुकरने के बाद कि समाजवाद के अन्तर्गत श्रमशक्ति माल होती है अब इस बार फिर यह साबित करने की नयी कोशिश करते हैं कि श्रमशक्ति माल होती है। मतलब कि मेंढक भी इनकी "बौद्धिक" उछल-कूद देखकर शरमा जाएँ! हालाँकि यह काम उन्होंने इतने भोंडे तरीक़े से अंजाम दिया है कि सोचकर हँसी भी आती है और हैरानी भी होती है कि ख़ुद को एक "अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी" का "महासचिव" होने का दावा ठोकने वाले इस व्यक्ति का बौद्धिक स्तर क्या है। लेकिन अफ़सोस भी होता है कि भारत के कम्युनिस्ट आन्दोलन में ऐसे बौद्धिक जोकर भी पाए जाते हैं।

हमने मौजूदा बहस की शुरुआत से ही कहा है कि *माटसाब* का मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के मामले में हाथ कुछ ज़्यादा ही तंग है। यह महोदय मूल्य, बेशी मूल्य, श्रम शक्ति, उत्पादन क़ीमतें, बाज़ार क़ीमत आदि जैसी बुनियादी अवधारणाएं भी नहीं समझते हैं लेकिन बावजूद इसके इन्होंने हाल में भूमि लगान पर एक लेख तक लिख डाला है! मूर्खता का 'रेन ऑफ़ टेरर' फैलाने वाले इस लेख की साथी अभिनव द्वारा लिखित विस्तृत आलोचना आप यहाँ पढ़ सकते हैं, जो कि वैसे भी मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र की इन बुनियादी अवधारणाओं को समझने के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण निबन्ध है-

https://redpolemique.wordpress.com/2021/05/18/ajay-sinha-aka-don-quixote-de-la-patnas-disastrous-encounter-with-marxs-theory-of-ground-rent/

फेसबुक पर यह महोदय लगातार इजारेदार क़ीमत और इजारेदारी लगान पर अभी तक बकवास लिखते जा रहे हैं, जिसका मार्क्स के राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई लेना-देना नहीं है। जो व्यक्ति सट्टेबाज़ क़ीमतों को इजारेदार क़ीमतें बताता हो और इनके बीच का फ़र्क भी नहीं जानता हो, जिसका दावा यह है कि इजारेदार पूँजीवाद के इस दौर में इजारेदारियों द्वारा वसूली जाने वाली इजारेदार क़ीमतें मूल्य के नियम से स्वतंत्र हो गयी हैं और इजारेदारियां मार्क्स के शब्दों में 'अतिरिक्त मुनाफ़ा' नहीं बल्कि *माटसाबीय* "अधिकतम मुनाफ़ा" वसूलेंगी और यह किसी नियम से विनियमित या नियन्त्रित नहीं होंगी, ऐसे बौद्धिक जोकर को कोई भी संजीदा व्यक्ति गम्भीरता से ले सकता है? साथ ही, इन्होंने लोगों को धमकी भी दी है कि "बौद्धिक" आतंकवाद के अपने अगले प्रयास के तौर पर यह इजारेदार क़ीमतों पर एक वृहद् लेख लिखेंगे! पाठकों, सावधान हो जाओ, अपनी-अपनी जान बचाओ!

बहरहाल, मौजूदा चर्चा पर वापस आते हैं। इस बार *माटसाब* अपनी पिछली मूर्खतापूर्ण अवस्थिति से चार क़दम आगे निकल गये हैं और अब "श्रम के मूल्य" के सिद्धान्त पर इनके "बौद्धिक" खच्चर आकर रुके हैं! इस हिस्से में उन्होंने *डिटेक्टिव* बनने की भी कोशिश की है लेकिन जैसा उत्पल दत्त ने सत्यजीत रे के जासूसों के बारे में कहा था कि ऐसी ज़मीन पर जहाँ पुर्नजागरण और प्रबोधन के दौर के ज़रिये पूँजीवाद न आया हो बल्कि औपनिवेशिक व्यवस्था में जन्मा हो वहाँ मध्य वर्ग से आने वाले जासूस भी जन्म से ही बौने होंगे। सत्यजीत रे का ब्योमकेश बख्शी शरलॉक होम्स का ही बौना संस्करण था। लेकिन हमारे दोन किहोते दि ल पटना तो सत्यजीत रे के जासूसों से भी ज़्यादा बौने हैं और इसलिए इनकी जासूसी हरक़तें रोमांच कम हास्य ज़्यादा पैदा करती हैं!

वह पुरातात्विक सन्धान करके हमारे 8 साल पुराने एक लेख में से एक उद्धरण छाँट लाते हैं, उसे सन्दर्भ से काट देते हैं और पाठकों के सामने एक गुत्थी छोड़ते हैं कि वे देखें कि उद्धरण में क्या लिखा है। इसके कुछ देर बाद पटना का यह बौद्धिक बौना उछल पड़ता है और बौद्धिक निर्वस्त्रता की स्थिति में यूरेका-यूरेका

चिल्ला पड़ता है! क्या हास्यास्पद हरक़त है यह? जारी बहस में उठाये गये वैध सवालों का जवाब देने की बजाय हमारे *माटसाब* पुरातात्विक उत्खनन के बूते अपनी ग़लत अवस्थितियों का वैधीकरण ढूँढ रहे हैं और इसके लिए वह हमारे पुराने लेखन पर काफी निर्भर करते हैं। क्योंकि बहस में ही नहीं, *दोन किहोते दि ला पटना* आम तौर पर भी हमारे लेखन पर काफी निर्भर करते हैं क्योंकि उनको चौर्य-लेखन के लिए काफ़ी माल-मत्ता जो वहाँ से मिल जाता है! लेकिन जब कोई व्यक्ति जारी बहस में आलोचना के बाद निरुत्तर हो जाने पर अपनी ग़लती की स्वीकारोक्ति करने के बजाय इस तरह की खोजबीन की कार्यवाई में व्यस्त होता है तो वह वास्तव में बहस में उसके लिए दिक्क़ततलब बन चुके प्रश्नों से भाग रहा होता है और बहस में उठे तमाम मुद्दों का जवाब देने की जगह इस प्रकार के हास्यास्पद कारनामे अंजाम देता है। इस मसले पर हम आगे आयेंगे। लेकिन उससे पहले उनकी नयी बन्दरकुद्दी का थोड़ा आनन्द ले लेते हैं!

माटसाब ने एक बार फिर 'श्रमशक्ति के मूल्य' के प्रश्न पर जलेबियाँ पारी हैं और अब "श्रम के मूल्य" की और अधिक मूर्खतापूर्ण बात को भी वह लेकर आ गये हैं। नीचे दिए उद्धरणों में पाठक स्वयं *माटसाब* की उछल-कूद देखें कि वह कैसे एक बार फिर अपनी अवस्थिति बदलते हैं। हालाँकि इस सवाल पर उन्होंने इतनी बार अवस्थिति बदली है कि उनके इस पथ को पकड़ पाना असम्भव-सा हो गया है। इस प्रश्न पर उनकी अनिश्चितता *इलेक्ट्रॉन* की अनिश्चितता को भी पार कर गयी है! खैर, हम आपको उनकी पिछले लेख में पेश की गयी अवस्थिति के ज़रिये दिखाएंगे कि यह बातबदलू बौना कितनी चालाकी करने की कोशिश करता है।

इस प्रश्न पर *माटसाब* की पुरानी अवस्थिति निम्न थी:

''It means that procurement price the collective farms got from the state contained cost plus the *value of collective peasants' own labour power*. Hence what was paid above cost by the Soviet State was equal (in money for or in kind) to the *value of the peasants' own labour power*. And hence we can conclude that a Soviet collective farm peasant was paid above cost but what was above the cost can be considered to be the *value of his own labour power*.'' (What the new apologists of corporates are and how they fight against the revolutionaries, 'The Truth', Issue 11)

और यह भी देखें:

"What I want to prove here is that in socialism, labour power is not sold or bought it is true but its value remains in existence.

"So, it is only necessary labour that belongs to him (a worker) under capitalism. What happens under socialism, as we have mentioned above, too is that Under socialism, the total labour belongs to him, either directly or indirectly. When directly, his **wages i.e. the value of his labour power** increases which will get reflected." (Here Comes Alive Not one but many inverted Don Quixotes! 'The Truth', Issue- 12)

पाठक देख सकते हैं कि उपरोक्त उद्धरणों में पटना के दोन किहोते महोदय साफ़ कहते हैं कि समाजवादी समाज में मज़दूरों को मिलने वाली उजरत श्रम शक्ति के मूल्य के बराबर थी यानी दरअसल उनकी श्रम शक्ति माल थी।

अब *माटसाब* की नयी अवस्थिति यह है:

''सबसे पहले तो यह समझ लें कि श्रम के मूल्य का सार रूप में अर्थ श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है। दूसरी बात, श्रमशक्ति माल नहीं रह जाने से दो चीजें मूल रूप से होती हैं; **एक**, मजदूरी को तय करने में इसकी रेग्युलेटर वाली भूमिका ख़त्म हो जाती है और **दूसरा**, श्रमशक्ति रूपी माल के मूल्य का नियम अर्थात श्रमशक्ति रूपी माल के दायरे से मूल्य के नियम का अस्तित्व गायब हो जाता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

और देखें:

"जैसे ही हम सामाजिक श्रम के लागत या मूल्य की बात करते हैं (समाजवाद यानी साम्यवाद की पहली मंजिल में हमें ऐसा ही करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि मूल्य के रूप के बिना हम काम नहीं चला सकते और भौतिक साधनों की प्रचुरता कायम किये बिना इस बाधा पर हम विजयी नहीं हो सकते हैं, यानी तब तक हमें किसी न किसी रूप में बुर्जुआ मानक के आधार पर ही आपस में विनिमय करना पड़ता है), वैसे ही हमें खर्च हुई कुल मानव श्रमशक्ति के उस हिस्से के मूल्य के आकलन के बारे में विचार करना पड़ता है, चाहे हम बात सामाजिक श्रम की ही क्यों न कर रहे हों, क्योंकि **श्रम के मूल्य का सार श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है।"** ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ') (*ज़ोर हमारा*)

अरे बाप रे! "श्रम का मूल्य"? इस महामूर्खतापूर्ण दलील पर हम बाद में आयेंगे लेकिन पहले पाठक देखें कि किस प्रकार अब यह बौद्धिक बौना उर्फ़ "महासचिव" अजय सिन्हा यहाँ पर अपनी पुरानी अवस्थिति से पलटी मार चुके हैं और बता रहे हैं कि समाजवाद में श्रमशक्ति माल नहीं होती है! जितनी सही बात इनके उपरोक्त उद्धरणों में कही गयी है वह इन्होंने हमारी आलोचना से ही चुराई है और *माटसाब* इसे ऐसे प्रस्तुत कर रहे हैं कि यह इनका मौलिक चिंतन है। वैसे *दोन किहोते दि ला पटना "ओरिजिनल थिन्किंग"* के बड़े शैदायी हैं जो इनके अनुसार बाक़ी लोगों की

समझ में नहीं आती है! जैसे कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन में इनकी कुलकपरस्ती असल में इनकी *"ओरिजिनल थिन्किंग"* है जो इनके अनुसार हम जैसों की समझ से परे है! बिलकुल ठीक कहा आपने *माटसाब*। **यहाँ पर भी बस, *माटसाब* के ही शब्दों को उधार लेते हुए, "नामों का मामूली–सा अन्तर" है। जिसे *माटसाब "ओरिजिनल थिन्किंग"* कहते हैं उसे वास्तविकता में मौक़ापरस्ती, कुलकपरस्ती और वर्ग सहयोगवाद के नाम से जाना जाता है!** बहरहाल, मास्टरजी उपरोक्त उद्धरण में अपनी पुरानी मूर्खतापूर्ण बात बदलने के साथ ही दूसरी हास्यास्पद थीसिस भी उसी झटके में पेश कर डालते हैं- "श्रम का मूल्य" श्रमशक्ति का मूल्य होता है!

माटसाब द्वारा "समाजवाद में श्रम शक्ति माल होती है" की अपनी पुरानी अवस्थिति से इस 180 डिग्री पैंतरापलट का कारण क्या है? कारण हमारी आलोचना है जिससे बचने के लिए ही हमारे मास्टरजी नयी चाल खेलते हैं। वह पहले बता रहे थे कि श्रमशक्ति का मूल्य मज़दूरों को उजरत के रूप में प्राप्त होता है लेकिन अब कह रहे हैं कि यह "श्रम का मूल्य" होता है! इनकी नयी अवस्थिति की महामूर्खताओं को उजागर करने से पहले वह कारण भी देख लिया जाए जिसके चलते *माटसाब* ने अपनी अवस्थिति बदली है।

हमने उनकी पुरानी अवस्थिति की निम्न आलोचना रखी थी:

"अगर श्रमशक्ति का मूल्य होता है तो उसका यही मतलब है कि वह माल है। क्योंकि किसी वस्तु के मूल्य के निर्धारण का प्रश्न ही तब उठता है, जबकि उसका विनिमय लक्षित हो। यदि *माटसाब* के अनुसार सोवियत समाजवादी संक्रमण में श्रमशक्ति का मूल्य महज़ आकलित भी होता था तो निश्चित तौर पर यह माल ही थी। उसका विनिमय होने का यह अर्थ पूँजीवाद में भी नहीं होता है कि मज़दूर एक झोले में रखकर अपनी श्रमशक्ति पूँजीपति को बेच रहा हो; पूँजीवादी उत्पादन पद्धति में भी श्रमशक्ति के मूल्य का आकलन ही होता है और उसके अनुसार भुगतान होता है। यही श्रमशक्ति का विनिमय है और यही श्रमशक्ति का माल होना है। अगर *माटसाब* ने दूसरी कक्षा के किसी बौड़म बच्चे के समान यह कल्पना की थी कि श्रमशक्ति के विनिमय होने का अर्थ यह है कि उसे किसी पोटली में रखकर एक हाथ से दूसरे हाथ में स्थानान्तरित किया जाता है, तो कहना पड़ेगा कि रंगनायकम्मा की पुस्तक "बच्चों के लिए अर्थशास्त्र" भी उनके बहुत काम नहीं आएगी, या उसे समझने में उन्हें मूर्खेश असीम की सहायता लेनी पड़ेगी, हालाँकि उसके बाद किस प्रकार का आतंकवादी नतीजा सामने आ सकता है, इसके बारे में हम अभी कुछ अटकलें ही लगा सकते हैं। ग़ज़ब मूर्ख व्यक्ति है यह!

"मास्टरजी श्रमशक्ति के भौतिक अस्तित्व और माल के रूप में उसके सामाजिक अस्तित्व के बीच भ्रमित हो जाते हैं, वह उसके उपयोग–मूल्य के रूप में अस्तित्व (जो कि हर सामाजिक व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) और मूल्य के रूप में उसके अस्तित्व (जो कि केवल पूँजीवादी व्यवस्था के लिए प्रासंगिक है) के बीच बुरी तरह से कन्फ्यूज़ हो गये हैं। यह दरअसल राजनीतिक अर्थशास्त्र का इमला न समझने के समान है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है, कोई भौतिक वस्तु नहीं। जब तक दो पक्षों में विनिमय की आवश्यकता नहीं होती, तब तक मूल्य के आकलन का प्रश्न ही नहीं उठता है। यह दो पक्षों के बीच का सामाजिक सम्बन्ध है, जो कि इसके आकलन को निर्धारित करता है। मास्टरजी को यही बात समझ में नहीं आती है, इसलिए स्तालिन के उद्धरण को भी वह समझ नहीं पाए हैं। हमने पहले भी कहा था कि इस बौद्धिक बौने को मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के 'क ख ग' को किसी की सहायता से पेंसिल टिका–टिकाकर पढ़ने की आवश्यकता है।"(सनी, पीआरसी सीपीआई (एमएल) के नेता महोदय का नया जवाब या एक बातबदलू बौद्धिक बौने की बदहवास, बददिमाग़, बदज़ुबान बौखलाहट, बेवकूफियां और बड़बड़ाहट)

माटसाब की नयी अवस्थिति दरअसल हमारी इस पुरानी आलोचना से बचने की ज़मीन से ही निकली है। इसे उनका इलेक्ट्रान सरीखा चरित्र कहें या मेंढक की तरह फुदकना कहें, हम सच में समझ नहीं पा रहे हैं कि ऐसी हरक़त को क्या नाम दें! अब दोन किहोते महोदय यह सिद्ध करना चाहते हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य वास्तव में श्रम का मूल्य होता है! वह बताते हैं कि क्योंकि श्रम का मूल्य ही वास्तव में श्रमशक्ति का मूल्य होता है इसलिए समाजवाद में मज़दूरों को श्रमशक्ति का मूल्य मिलता है! मतलब यह कुतर्की व्यक्ति कुतर्क करने से बाज़ नहीं आएगा! और अपने एक कुतर्क को ढांपने के लिए यह उससे भी बड़े और गहरे कुतर्कों की खाई में गिरता चला जाता है! *दोन किहोते दि ला पटना* की यह नयी मूर्खतापूर्ण बात इतने स्तरों पर ग़लत है कि इसकी आलोचना करना भी जोखिम से भरा काम है। आइये मास्टरजी की मूर्खता के पहाड़ की पड़ताल करें।

माटसाब का नया कुतर्क यह हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य वास्तव में श्रम का मूल्य होता है। यह सचमुच दुर्भाग्यपूर्ण है कि हमें मार्क्सवाद की बुनियादी बातें भी इस बहस में *माटसाब* को बतानी पड़ रही हैं। लेकिन इस दुर्भाग्य से *माटसाब* को क्या लेना-देना! मजाल है कि उन्हें इससे कोई फ़र्क़ पड़ता हो! उन्हें लगता है कि श्रम शक्ति के मूल्य को "श्रम का मूल्य" कहना एक ही बात है, यानी यह दोनों एक-दूसरे के समानार्थी हैं और इस मसले पर वह मार्क्स को अपने समर्थन में उद्धृत करने का हास्यास्पद प्रयास भी करते हैं जबकि मार्क्स वहाँ ठीक इसके विपरीत बात कर रहे

हैं और "श्रम के मूल्य" के बुर्जुआ अर्थशास्त्रियों के अहमकाना सिद्धान्त का मखौल उड़ा रहे हैं। यह भी *माटसाब* की पुरानी आदत है। तमाम उद्धरणों का सन्दर्भ और बात समझे बगैर वह बस इन्टरनेट के सर्च टूल का अन्धाधुन्ध इस्तेमाल करते हैं और फिर अपने ही ख़िलाफ़ जाते ऐसे उद्धरणों को ख़ुद ही पेश भी करते हैं! देखें *माटसाब* ने क्या बोला है:

"सबसे पहले तो यह समझ लें कि श्रम के मूल्य का सार रूप में अर्थ श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

इसके बाद मास्टरजी मार्क्स के इस उद्धरण का सहारा लेते हैं:

"What economists therefore call value of labour, is in fact the value of labour-power, as it exists in the personality of the labourer, which is as different from its function, labour, as a machine is from the work it performs…" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

यहाँ असल में मार्क्स "श्रम के मूल्य" की मार्क्स-पूर्व राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा का खण्डन कर रहे हैं! मार्क्स के उपरोक्त कथन में कही गयी बात बुर्जुआ राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की इस अवधारणा का अनुमोदन नहीं है, जैसा कि *माटसाब* को ग़लतफहमी हो गयी है, बल्कि इसकी आलोचना है। एक बार फिर इन्टरनेट पर सर्च टूल का सहारा लेकर *माटसाब* अपने पक्ष में मार्क्स से उद्धरण तलाशने की कोशिश करते हैं, फिर एक उद्धरण ढूँढ भी लाते हैं लेकिन *माटसाब* का दुर्भाग्य यह है कि एक बार फिर वह मार्क्स का एक ऐसा उद्धरण पेश कर रहे हैं जिसमें मार्क्स उनके "श्रम के मूल्य" जैसी मूर्खतापूर्ण बात की आलोचना पेश कर रहे हैं। अब तो हमें यकीन हो चला है कि इस व्यक्ति ने 'पूँजी' तो दूर, मार्क्स की 'उजरती श्रम और पूँजी' भी नहीं पढ़ी है।

और इसके दावे देखिये क्या हैं! पटना के दोन किहोते महोदय अपनी मूर्खता को ढंकने के लिए क्या-क्या अजीबोग़रीब कारनामे अंजाम दे रहे है। ज़रा देखें मार्क्स का "श्रम के मूल्य" को लेकर क्या कहना था, जिस पर मार्क्स ने 'पूँजी', खण्ड 1 के अध्याय 19, "The Transformation of the Value (and Respective Price) of Labour-Power into Wages", में विस्तारपूर्वक चर्चा की है:

"On the surface of bourgeois society the wage of the labourer appears as the price of labour, a certain quantity of money that is paid for a certain quantity of labour. **Thus people speak of the value of labour and call its expression in money its necessary or natural price.** On the other hand they speak of the market-prices of labour, i.e., prices oscillating above or below its natural price. **But what is the value of a commodity? The objective form of the social labour expended in its production. And how do we measure the quantity of this value? By the quantity of the labour contained in it. How then is the value, e.g., of a 12 hour working-day to be determined? By the 12 working-hours contained in a working day of 12 hours, which is an absurd tautology."** (Marx**, Capital, Volume-1)** (*ज़ोर हमारा*)

यानी मार्क्स के अनुसार "श्रम के मूल्य" की बात करना एक *टॉटोलोजी* है, एक निरर्थक दुहराव है और यह कहने के समान है कि "श्रम को श्रम से मापना" या "मूल्य को मूल्य से मापना" क्योंकि किसी भी माल का मूल्य उसमें लगे सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल से निर्धारित होता है, अब चूंकि पूँजीवाद में मज़दूर को मिलने वाली मज़दूरी सतही तौर पर उसकी मेहनत के मोल या दाम के तौर पर दिखलाई पड़ती है तो मार्क्स पूछते हैं कि उसका मूल्य कैसे निर्धारित किया जायेगा? बुर्जुआ अर्थशास्त्री इसका जवाब नहीं दे पाते हैं क्योंकि वह श्रम के मूल्य की बात करते हैं, श्रमशक्ति के मूल्य की नहीं, जिसका मार्क्स के अनुसार अपने आप में कोई मतलब नहीं है। हम यहाँ मार्क्स का इसी अध्याय से एक लम्बा उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें उन्होंने क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की इस भ्रान्तिपूर्ण अवधारणा की विस्तृत आलोचना पेश की है क्योंकि *माटसाब* ने इस बार "श्रम के मूल्य", उजरत, अतिरिक श्रम और बेशी श्रम को लेकर भी काफी ऊल-जुलूल "सिद्धान्त प्रतिपादन" किया है। अगर *दोन किहोते दि ला पटना* ने यह आज तक न पढ़ा हो, जिसकी उम्मीद ही ज़्यादा है, तो इसे पढ़ लें और साथ ही समझ भी लें, जिसकी वैसे तो उम्मीद कम है (लेकिन उम्मीद पर तो दुनिया क़ायम है!), ताकि अपने कुतर्की दिमाग़ को आइन्दा से नियन्त्रण में रखें और मार्क्सवाद के बारे में अनाप-शनाप बकना बन्द करें, हालाँकि इसकी भी उम्मीद कम ही है। देखें मार्क्स आगे क्या कहते हैं:

"That which comes directly face to face with the possessor of money on the market, is in fact not labour, but the labourer. **What the latter sells is his labour-power.** As soon as his labour actually begins, it has already ceased to belong to him; it can therefore no longer be sold by him. **Labour is the substance, and the immanent measure of value, but has itself no value.**

"In the expression "value of labour," the idea of value is not only completely obliterated, but actually reversed. It is an expression as imaginary as the value of the earth. These

imaginary expressions, arise, however, from the relations of production themselves. They are categories for the phenomenal forms of essential relations. That in their appearance things often represent themselves in inverted form is pretty well known in every science except Political Economy.

"Classical Political Economy borrowed from every-day life the category "price of labour" without further criticism, and then simply asked the question, how is this price determined? It soon recognized that the change in the relations of demand and supply explained in regard to the price of labour, as of all other commodities, nothing except its changes i.e., the oscillations of the market-price above or below a certain mean. If demand and supply balance, the oscillation of prices ceases, all other conditions remaining the same. But then demand and supply also cease to explain anything. **The price of labour, at the moment when demand and supply are in equilibrium, is its natural price, determined independently of the relation of demand and supply. And how this price is determined is just the question.** Or a larger period of oscillations in the market-price is taken, e.g., a year, and they are found to cancel one the other, leaving a mean average quantity, a relatively constant magnitude. This had naturally to be determined otherwise than by its own compensating variations. **This price which always finally predominates over the accidental market-prices of labour and regulates them, this "necessary price" (Physiocrats) or "natural price" of labour (Adam Smith) can, as with all other commodities, be nothing else than its value expressed in money. In this way Political Economy expected to penetrate athwart the accidental prices of labour, to the value of labour. As with other commodities, this value was determined by the cost of production. But what is the cost of production – of the labourer, i.e., the cost of producing or reproducing the labourer himself?** This question unconsciously substituted itself in Political Economy for the original one; for the search after the cost of production of labour as such turned in a circle and never left the spot. **What economists therefore call value of labour, is in fact the value of labour-power, as it exists in the personality of the labourer, which is as different from its function, labour, as a machine is from the work it performs. Occupied with the difference between the market-price of labour and its so-called value, with the relation of this value to the rate of profit, and to the values of the commodities produced by means of labour, &c., they never discovered that the course of the analysis had led not only from the market-prices of labour to its presumed value, but had led to the resolution of this value of labour itself into the value of labour-power. Classical economy never arrived at a consciousness of the results of its own analysis; it accepted uncritically the categories "value of labour," "natural price of labour," &c., as final and as adequate expressions for the value-relation under consideration, and was thus led, as will be seen later, into inextricable confusion and contradiction, while it offered to the vulgar economists a secure basis of operations for their shallowness, which on principle worships appearances only.**

"Let us next see how value (and price) of labour-power, present themselves in this transformed condition as wages.

"We know that the daily value of labour-power is calculated upon a certain length of the labourer's life, to which, again, corresponds a certain length of working day. Assume the habitual working day as 12 hours, the daily value of labour-power as 3s., the expression in money of a value that embodies 6 hours of labour. If the labourer receives 3s., then he receives the value of his labourpower functioning through 12 hours. If, now, this value of a day's labour-power is expressed as the value of a day's labour itself, we have the formula: Twelve hours' labour has a value of 3s. **The value of labour-power thus determines the value of labour, or, expressed in money, its necessary price. If, on the other hand, the price of labour-power differs from its value, in like manner the price of labour**

differs from its so-called value.

"As the value of labour is only an irrational expression for the value of labour-power, it follows, of course, that the value of labour must always be less than the value it produces, for the capitalist always makes labour-power work longer than is necessary for the reproduction of its own value. In the above example, the value of the labour-power that functions through 12 hours is 3s., a 381 Chapter 19 value for the reproduction of which 6 hours are required. The value which the labour-power produces is, on the other hand, 6s., because it, in fact, functions during 12 hours, and the value it produces depends, not on its own value, but on the length of time it is in action. Thus, we have a result absurd at first sight that labour which creates a value of 6s. possesses a value of 3s.

"We see, further: The value of 3s. by which a part only of the working day – i.e., 6 hours' labour-is paid for, appears as the value or price of the whole working day of 12 hours, which thus includes 6 hours unpaid for. **The wage form thus extinguishes every trace of the division of the working day into necessary labour and surplus labour, into paid and unpaid labour. All labour appears as paid labour.** In the corvée, the labour of the worker for himself, and his compulsory labour for his lord, differ in space and time in the clearest possible way. In slave labour, even that part of the working day in which the slave is only replacing the value of his own means of existence, in which, therefore, in fact, he works for himself alone, appears as labour for his master. All the slave's labour appears as unpaid labour. **In wage labour, on the contrary, even surplus labour, or unpaid labour, appears as paid. There the property-relation conceals the labour of the slave for himself; here the money-relation conceals the unrequited labour of the wage labourer.**

"Hence, we may understand the decisive importance of the transformation of value and price of labour-power into the form of wages, or into the value and price of labour itself. This phenomenal form, which makes the actual relation invisible, and, indeed, shows the direct opposite of that relation, forms the basis of all the juridical notions of both labourer and capitalist, of all the mystifications of the capitalistic mode of production, of all its illusions as to liberty, of all the apologetic shifts of the vulgar economists.

"If history took a long time to get at the bottom of the mystery of wages, nothing, on the other hand, is more easy to understand than the necessity, the raison d'etre, of this phenomenon.

"The exchange between *Capital* and labour at first presents itself to the mind in the same guise as the buying and selling of all other commodities. The buyer gives a certain sum of money, the seller an article of a nature different from money. The jurist's consciousness recognizes in this, at most, a material difference, expressed in the juridically equivalent formula: "Do ut des, do ut facias, facio ut des, facio ut facias."

"Furthermore, exchange-value and use-value, being intrinsically incommensurable magnitudes, the expressions "value of labour," "price of labour," do not seem more irrational than the expressions "value of cotton," "price of cotton." Moreover, the labourer is paid after he has given his labour. In its function of means of payment, money realizes subsequently the value or price of the article supplied – i.e., in this particular case, the value or price of the labour supplied. **Finally, the usevalue supplied by the labourer to the capitalist is not, in fact, his labour-power, but its function, some definite useful labour, the work of tailoring, shoemaking, spinning, &c. That this same labour is, on the other hand, the universal value-creating element, and thus possesses a property by which it differs from all other commodities, is beyond the cognizance of the ordinary mind.**

"Let us put ourselves in the place of the labourer who receives for 12 hours' labour, say the value produced by 6 hours' labour, say 3s. For him, in fact, his 12 hours' labour is the means of buying the 3s. The value of his labour-power may vary,

with the value of his usual means of subsistence, from 3 to 4 shillings, or from 3 to 2 shillings; or, if the value of his labour-power remains constant, its price may, in consequence of changing relations of demand and supply, rise to 4s. or fall to 2s. He always gives 12 hours of labour. Every change in the amount of the equivalent that he receives appears to him, therefore, necessarily as a change in the value or price of his 12 hours' work. This circumstance misled Adam Smith, who treated the working day as a constant quantity,10 to the assertion that the value of labour is constant, although the value of the means of subsistence may vary, and the same working day, therefore, may represent itself in more or less money for the labourer.

"Let us consider, on the other hand, the capitalist. He wishes to receive as much labour as possible for as little money as possible. Practically, therefore, the only thing that interests him is the difference between the price of labour-power and the value which its function creates. But, then, he tries to buy all commodities as cheaply as possible, and always accounts for his profit by simple cheating, by buying under, and selling over the value. Hence, he never comes to see that, **if such a thing as the value of labour really existed, and he really paid this value, no Capital would exist, his money would not be turned into capital.**

"Moreover, the actual movement of wages presents phenomena which seem to prove that not the value of labour-power is paid, but the value of its function, of labour itself. We may reduce these phenomena to two great classes: 1.) Change of wages with the changing length of the working day. One might as well conclude that not the value of a machine is paid, but that of its working, because it costs more to hire a machine for a week than for a day. 2.) The individual difference in the wages of different labourers who do the same kind of work. We find this individual difference, but are not deceived by it, in the system of slavery, where, frankly and openly, without any circumlocution, labour-power itself is sold. Only, in the slave system, the advantage of a labour-power above the average, and the disadvantage of a labour-power below the average, affects the slave-owner; in the wage-labour system, it affects the labourer himself, because his labour-power is, in the one case, sold by himself, in the other, by a third person.

"For the rest, in respect to the phenomenal form, "value and price of labour," or "wages," as contrasted with the essential relation manifested therein, viz., the value and price of labour power, the same difference holds that holds in respect to all phenomena and their hidden substratum. The former appear directly and spontaneously as current modes of thought; the latter must first be discovered by science. Classical Political Economy nearly touches the true relation of things, without, however, consciously formulating it. This it cannot, so long as it sticks in its bourgeois bourgeois skin. (Marx**, Capital, Voulme 1,** *emphasis ours*)

मार्क्स के उपरोक्त लम्बे उद्धरण की रोशनी में हम देख सकते हैं कि हमारे पटना के दोन किहोते वास्तव में क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की "श्रम के मूल्य" की अतार्किक और परिघटनात्मक समझदारी को ही अपनी मूर्खतापूर्ण अवधारणा सिद्ध करने के लिए इस्तेमाल करते हैं कि समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य "श्रम का मूल्य" होता है। यह मार्क्स के मूल्य के सिद्धान्त का कितना भयानक भोंडाकरण है यह सहज ही समझा जा सकता है। चूंकि *माटसाब* के लिए 'पूँजी' का उपरोक्त अंश "बौद्धिक" बदहज़मी पैदा कर सकता है तो उनकी सहूलियत के लिए हम यहाँ सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक से भी वह अंश दे रहे हैं जहाँ "श्रम के मूल्य" की अर्थहीन बुर्जुआ अवधारणा पर बात की गयी है, ताकि *माटसाब* कम से कम इसे आसानी से पचा सकें:

"The price of labour-power' is unlike the price of other commodities. When a commodity producer sells cloth, say, in the market, the sum of money which he receives is simply the price of the commodity which he has sold. **When a proletarian sells his labour-power to a capitalist and obtains a certain sum of money in the form of wages, that sum of money appears not as the price of the commodity labour-power but as the price of labour.**

"This comes about for the following reasons.

First, the capitalist pays the worker his wages after the worker has expended his labour. Second, wages are fixed either in accordance with the amount of time worked (in hours, days, weeks) or in accordance with the quantity of product produced. Let us take our previous example. Let us suppose that the worker works 12 hours a day. During 6 hours he produces the value of 6 dollars, equal to the value of his labour-power. In the remaining 6 hours he produces the value of 6 dollars, which is appropriated by the capitalist as surplus-value. As the employer has hired the proletarian for a full working day, he pays him 6 dollars for the whole 12 hours of his labour. Thus a false impression is created, as though wages were the price of labour and 6 dollars were full payment for the whole of the I2-hour working day. In fact, the 6 dollars are/only the value of one day's labour-power, whereas the proletarian's labour has created value equal to 12 dollars. If wages at the given enterprise are worked out in relation to the product turned out, it looks as though the worker is paid for the labour expended in every unit of the commodity he has made, i.e., as above, that the whole of the labour expended by the worker has been fully paid for.

"This deceptive appearance is not an accidental delusion. It arises from the very conditions of capitalist production, under which exploitation is concealed, slurred over and the relations between the employer and the wage-worker appear in distorted form as relations between equal commodity producers.

In reality the wages of the wage-worker are not the value or price of his labour. If we suppose that labour is itself a commodity and has value, then the magnitude of this value must be measured by some means. Evidently, the magnitude of "the value of labour", as of any other commodity, must be measured by the amount of labour contained in it. Such a supposition creates a vicious circle: labour is measured by labour.

Further, if a capitalist were to pay a worker "the value of his labour", i.e., were to pay for his labour to the full extent, there would then be no source for the capitalist's wealth, i.e., no surplus-value, or, in other words, the capitalist mode of production could not exist.

Labour is the creator of the value of commodities, but labour is not itself a commodity and has no value. What in everyday life is called "the value of labour" is in reality the value of labour-power.

The capitalist buys on the market not labour but a special commoditylabour-power. The use of labour-power, i.e., the expenditure of the energy of the worker's muscles, nerves and brain, is the process of labour. The value of labour-power is always less than the value newly created by the worker's labour. Wages are the payment for only part of the working day, namely, for necessary labour-time. But in so far as wages take the form of payment for labour the impression is created that the whole of the working day is fully paid for. **For this reason Marx calls wages in bourgeois society the transmuted form of the value or price of labour-power.**

""Wages are not what they appear to be, namely the value, or price, of labour, but only a masked form for the value, or price, of labour-power." (Marx, "Critique of the Gotha Programme," Marx and Engels, Selected Works, 1950, English edition, vol. II, p. 27.)"

"Wages are the monetary expression of the value of labour power, its price, outwardly appearing as the price of labour.

…

"Wages conceal all traces of the division of the working day into necessary and surplus labour-time, into paid and unpaid labour, and so cover up the relation of capitalist exploitation."

एंगेल्स ने भी इस अवधारणा पर अपनी बात रखते हुए कहा था कि:

"All labour-time is entirely equal in value, the porter's and the architect's. So labour-time, and therefore labour itself, has a value. But labour is the creator of all values. It alone gives the products

found in nature value in the economic sense. Value itself is nothing else than the expression of the socially necessary human labour materialised in an object. **Labour *can* therefore have *no* value. One might as well speak of the value of value,** or try to determine the weight, not of a heavy body, but of heaviness itself, as speak of the value of labour, and try to determine it. Herr Dühring dismisses people like Owen, Saint-Simon and Fourier by calling them social alchemists {D. K. G. 237}. His subtilising over the value of labour-time, that is, of labour, shows that he ranks far beneath the real alchemists. **And now let the reader fathom Herr Dühring's brazenness in imputing to Marx the assertion that the labour-time of one person is in itself more valuable than that of another {500}, that labour-time, and therefore labour, has a value—to Marx, who first demonstrated that labour *can* have *no* value, and why it cannot!**

"We have already seen above ("Political Economy", VI) that it is a contradiction in itself to speak of the value of labour. As under certain social relations labour produces not only products but also value, and this value is measured by labour, the latter can as little have a separate value as weight, as such, can have a separate weight, or heat, a separate temperature. But it is the characteristic peculiarity of all social confusion that ruminates on "true value" {D. K. G. 78} to imagine that in existing society the worker does not receive the full "value" of his labour, and that socialism is destined to remedy this. Hence it is necessary in the first place to discover what the value of labour is, and this is done by attempting to measure labour, not by its adequate measure, time, but by its product. The worker should receive the "full proceeds of labour" {D. C. 324}. Not only the labour product, but labour itself should be directly exchangeable for products one hour's labour for the product of another hour's labour. This however, gives rise at once to a very "serious" hitch. The *whole product* is distributed. The most important progressive function of society, accumulation, is taken from society and put into the hands, placed at the arbitrary discretion, of individuals. The individuals can do what they like with their "proceeds", but society at best remains as rich or poor as it was. The means of production accumulated in the past have therefore been centralised in the hands of society only in order that all means of production accumulated in the future may once again be dispersed in the hands of individuals. One knocks to pieces one's own premises; one has arrived at a pure absurdity." (Engels, Anti Duhring, *emphasis ours*)

आप ख़ुद देख सकते हैं कि "महासचिव" अजय सिन्हा ने एक बिलकुल ग़लत और ग़ैर-मार्क्सवादी अवधारणा के दम पर इस बात को सत्यापित करने की कोशिश की है कि समाजवाद में भी मज़दूरों को श्रमशक्ति के मूल्य का भुगतान होता था क्योंकि उनके अनुसार श्रमशक्ति का मूल्य और "श्रम का मूल्य" एक ही चीज़ हैं!

माटसाब के समझ में नहीं आया है कि समाजवाद में मालों का मूल्य सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होता है तो इसका अर्थ यह नहीं है कि सामाजिक श्रम का कोई मूल्य होता है! सामाजिक श्रम स्वयं और कुछ नहीं बल्कि अपने 'जमे हुए रूप में' (in congealed form) या वस्तुकृत रूप में (objectified) मूल्य ही है। दूसरे शब्दों में, किसी भी माल उत्पादन की व्यवस्था में मालों का मूल्य उसमें निहित सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होता है। सामाजिक श्रम का स्वयं कोई मूल्य नहीं होता है, बल्कि वह स्वयं मूल्य होता है।

माटसाब की यह नयी चरम मूर्खता यह भी दिखला देती है कि "महासचिव" महोदय ने 'एंटी-ड्यूरिंग' जैसी बुनियादी मगर बेहद ज़रूरी रचना तक नहीं पढ़ी है। यह बेहद सड़कछाप ट्रिक उन्होंने इसलिए अपनाई थी कि समाजवाद में सामाजिक श्रम के अनुसार वितरण को "श्रम के मूल्य" में तब्दील करें और इसे पुन: श्रमशक्ति के मूल्य में तब्दील कर सकें, लेकिन हम देख सकते है इसकी वजह से उनको लेने के देने पड़ गये हैं, और साँचो पान्ज़ाओं की बच्चा पार्टी के आगे जो फ़ज़ीहत हुई सो अलग! हम ऊपर दिखा चुके हैं कि "श्रम का मूल्य" एक ग़लत अवधारणा है जिसे क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र में इस्तेमाल किया जाता था और इसका मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। आइए अब *माटसाब* के दूसरे दावे को देखते हैं।

समाजवाद में मज़दूरों को उजरत मिलने के सवाल पर *माटसाब* के दिमाग़ की बत्ती अभी भी गुल है!

इस बार *माटसाब* इस सम्बन्ध में जो मूल्यांकन पेश कर रहे

हैं वह यह है कि सोवियत रूस में मज़दूरों को उतना मिलता था जितना कि वह श्रमशक्ति के मूल्य के रूप में समाज को देते थे। *माटसाब* कहते हैं:

"*सामाजिक भण्डार से जो उसे मिलता है वह उसके द्वारा खर्च किये गये श्रम की लागत यानी लागत मूल्य ही है।* इस तरह यहाँ श्रम के मूल्य रूप के बिना समाजवाद में वितरण का सवाल उठ खड़ा होता है। क्योंकि उपभोग की वस्तुओं के क्षेत्र में अभी भी बुर्जुआ अधिकार का साम्राज्य कायम रहता है, यानी मालों के तुल्य मूल्यों के विनिमय का सिद्धांत ही चलता है। समाजवाद में और पूँजीवाद में फ़र्क़ सिर्फ इतना होता है कि जहाँ समाजवाद में "मालों के विनिमय में तुल्य मूल्यों के विनिमय का अस्तित्व केवल **औसत** पर" टिका होता है, वहीं दूसरे में यह "हर अलग-अलग मामले में" होता है। ये सारी बातें मार्क्स की हैं।

"इसका अर्थ है कि समाजवाद में हालाँकि श्रम का मूल्य रूप बना रहता है, क्योंकि साम्यवाद की पहली मंजिल में 'समान अधिकार' वास्तव में 'बुर्जुआ अधिकार' ही होता है, लेकिन श्रम शक्ति माल के रूप में अपना अस्तित्व खो देती है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

हम ऊपर पहले ही बता चुके हैं कि "श्रम का मूल्य" की बात करना अपने आप में मूर्खता है और मार्क्स के शब्दों में कहें तो "निरर्थक दुहराव" है। दूसरा, "महासचिव" अजय सिन्हा 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से ही एक अंश पेश कर रहे हैं ,जिसे वास्तव में हमारे *माटसाब* समझ नहीं पाए हैं; बस वह मार्क्स द्वारा इस्तेमाल किये गये वाक्यांशों को अपनी अधकचरी समझदारी के बीच में रख कर चस्पां कर देते हैं। पहली बात तो मास्टर साहब फिर यहाँ वही मूर्खता दोहराते हैं कि समाजवाद में "श्रम का मूल्य''' बना रहता है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है जो अमूर्त श्रम का किसी माल में वस्तुकरण होता है और चूंकि मूल्य का नियम समाजवाद में अभी मालों के विनिमय में मौजूद होता है तो इसकी गणना की जाती है। लेकिन सबसे मज़ेदार बात यह है कि यहाँ *माटसाब* मार्क्स के कथन का वह अर्थ निकाल बैठे हैं जो कि ड्यूहरिंग ने निकाला था! इसपर हम बाद में आएंगे लेकिन पहले मार्क्स के उस कथन को देख लेते हैं जिसके वाक्यांशों को उद्धृत कर *माटसाब* इठला रहे हैं:

"What we have to deal with here is a communist society, not as it has developed on its own foundations, but, on the contrary, just as it emerges from capitalist society; which is thus in every respect, economically, morally, and intellectually, still stamped with the birthmarks of the old society from whose womb it emerges. Accordingly, the individual producer receives back from society – after the deductions have been made – exactly what he gives to it. What he has given to it is his individual quantum of labor. For example, the social working day consists of the sum of the individual hours of work; the individual labor time of the individual producer is the part of the social working day contributed by him, his share in it. He receives a certificate from society that he has furnished such-and-such an amount of labor (after deducting his labor for the common funds); and with this certificate, he draws from the social stock of means of consumption as much as the same amount of labor cost. The same amount of labor which he has given to society in one form, he receives back in another.

"Here, obviously, the same principle prevails as that which regulates the exchange of commodities, as far as this is exchange of equal values. Content and form are changed, because under the altered circumstances no one can give anything except his labor, and because, on the other hand, nothing can pass to the ownership of individuals, except individual means of consumption. But as far as the distribution of the latter among the individual producers is concerned, the same principle prevails as in the exchange of commodity equivalents: a given amount of labor in one form is exchanged for an equal amount of labor in another form.

"Hence, *equal right* here is still in principle – *bourgeois right*, although principle and practice are no longer at loggerheads, while the exchange of equivalents in commodity exchange exists only on the average and not in the individual case." (Marx, Critique of Gotha Programme)

मार्क्स इस कथन में स्पष्ट करते हैं कि समाजवादी समाज में मज़दूर अपनी श्रमशक्ति का विनिमय नहीं करता है बल्कि वह जितना सामाजिक श्रम करता है उसी अनुसार उपभोग हेतु समाज से श्रम का 'सर्टिफिकेट' पाता है। अब वितरण का रूप और सार बदल चुका होता है। अब मज़दूर सामाजिक श्रम की एक निश्चित मात्रा के अलावा कुछ भी नहीं दे सकते हैं। उपभोग के साधन के वितरण में यह नियम काम करता है कि मज़दूर जितना सामाजिक श्रम देता है उसे बदले में उतना ही उसे प्राप्त होता है।

मार्क्स बताते हैं कि समाजवादी समाज में सम्तुल्यों का विनिमय अभी भी सारतः बुर्जुआ अधिकार ही हैं जो वास्तव में बराबरी नहीं देते हैं क्योंकि जब तक कि हम प्रचुरता की मंज़िल

में नहीं पहुँचते हैं तब तक यह होना लाज़मी भी है। तब तक समाज में लोगों को उनकी ज़रूरत के अनुसार नहीं बल्कि उनके श्रम के अनुसार भुगतान ही किया जाएगा जो ग़ैरबराबरी की एक वस्तुगत ज़मीन मुहैय्या कराता है। लेकिन यह वितरण हर-हमेशा ही उत्पादन के मातहत होता है जिसके साधनों का मालिकाना समाजीकृत हो चुका है और राज्यसत्ता में सर्वहारा वर्ग है। यही वितरण को निर्धारित करता है। मार्क्स 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' में ही स्पष्ट करते हैं कि:

"Distribution in the first place should be distribution of the means of production: in whose hands are the means of production? This is the determinative question. Distribution of the means of production is what determines distribution of consumer goods." (Marx, *ibid*)

लेकिन *माटसाब* के उपरोक्त उद्धरण में हमने देखा कि वह सामाजिक वितरण को पूर्णत: मूल्य के नियम के मातहत मानते हैं। "महासचिव" अजय सिन्हा को अभी भी लगता है कि मज़दूरों को भुगतान "श्रम के मूल्य" के अनुसार होगा! क्योंकि उनके अनुसार "श्रम का मूल्य" श्रमशक्ति का मूल्य है और हर मज़दूर को अभी भी उसी के अनुसार भुगतान होता है, जबकि उपरोक्त उद्धरण में ठीक यह बताया जा रहा है कि अब मज़दूर श्रमशक्ति नहीं बेचता है, बल्कि वह जितना सामाजिक श्रम करता है, उसे बदले में उतना ही सामाजिक श्रम वस्तुओं के रूप में प्राप्त होता है। मालों का मूल्य सामाजिक श्रम से निर्धारित हो रहा है, न कि "श्रम का मूल्य" (जो वैसे भी निरर्थक अवधारणा है) या श्रमशक्ति का मूल्य, क्योंकि श्रमशक्ति अब माल रह ही नहीं गयी है। लेकिन अजय सिन्हार को यह बात समझ में ही नहीं आई है! देखें *दोन किहोते दि ला पटना* क्या कहते हैं:

"सामाजिक श्रम भण्डार के एक अनुदत्त हिस्से अथवा अंश के रूप में किसी वैयक्तिक श्रम का इसकी बराबर मात्रा वाले दूसरे श्रम से विनिमय का अधिकार) के बिना लेन-लेन करने योग्य आर्थिक प्रगति और भौतिक साधनों की प्रचुरता जब तक कायम नहीं होता है, तब तक इसका अर्थ यही है कि हमें श्रम के मूल्य रूप में एक तरह के श्रम का दूसरे तरह के श्रम से विनिमय करना होगा और तब जिसका अर्थ यह है कि माल का नियम यहाँ काम करेगा, यानी उपभोग के क्षेत्र में विनिमय को सही तरीके से लागू होने के लिए श्रमशक्ति माल नहीं होते हुए भी सामाजिक तौर पर उपलब्ध कुल मानव श्रम शक्ति की इसके मूल्य के रूप में गणना करनी होगी, क्योंकि श्रम की लागत या उसका मूल्य अन्ततोगत्वा श्रमशक्ति का ही मूल्य होता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि *माटसाब* अगड़म-बगड़म बकते हुए कई स्तरों पर मूर्खता जारी रखते हैं। दरअसल समाजवाद में श्रमशक्ति माल नहीं होती है इसको लेकर हमारे मास्टरजी अभी तक भयानक रूप से भ्रमित हैं, और इसलिए हर दो वाक्य के बाद घूम-फिरकर वह इस मूर्खतापूर्ण दलील पर आ ही जाते है। लेकिन अब इससे ज़्यादा उनको समझाया भी नहीं जा सकता है। साक्षात मार्क्स और लेनिन भी आकर *माटसाब* को यह समझाएं तो भी वह अपनी कूढ़मगज़ी नहीं छोड़ेंगे! साथ ही, "महासचिव" अजय सिन्हा द्वारा यहाँ मार्क्स को 'गोथा कार्यक्रम की आलोचना' से केवल अपने कुतर्क पर पर्दा डालने के लिए ही उद्धृत किया गया है।

मार्क्स और एंगेल्स ने यह भी स्पष्ट किया हैं कि जब उत्पादन के साधन सामाजिक हो जाते हैं तब मूल्य का नियम पूर्णत: सामाजिक श्रम के वितरण को निर्धारित नहीं कर सकता है। इस बिन्दु को ही एंगेल्स आगे और विस्तारपूर्वक समझाते हैं और कहते हैं कि समाजवाद में सर्वहारा राज्य द्वारा मूल्य के नियम को सचेतन तौर पर इस्तेमाल किया जाता है और इसे पूरी तरह मालों के वितरण के क्षेत्र तक ही सीमित रखा जाता है:

"The "exchange of labour for labour on the principle of equal valuation", in so far as it has any meaning, that is to say, the mutual exchangeability of products of equal social labour, hence the law of value, is the fundamental law of precisely commodity production, hence also of its highest form, capitalist production. It asserts itself in present-day society in the only way in which economic laws can assert themselves in a society of private producers: as a blindly operating law of nature inherent in things and relations, and independent of the will or actions of the producers. By elevating this law to the basic law of his economic commune and demanding that the commune should execute it in all consciousness, **Herr Dühring converts the basic law of existing society into the basic law of his imaginary society.** He wants existing society, but without its abuses. In this he occupies the same position as Proudhon. Like him, he wants to abolish the abuses which have arisen out of the development of commodity production into capitalist production, by giving effect against them to the basic law of commodity production, precisely the law to whose operation these abuses are due. Like him, he wants to abolish the real consequences of the law of value by means of fantastic ones.

"Our modern Don Quixote, seated on his noble

Rosinante, the "universal principle of justice" {D. C. 282}, and followed by his valiant Sancho Panza, Abraham Enss, sets out proudly on his knight errantry to win Mambrin's helmet, the "value of labour"; but we fear, fear greatly, he will bring home nothing but the old familiar barber's basin." (Engels, Anti Duhring, *emphasis ours*)

लगता है इतिहास में सभी मूर्खों को दोन किहोते की उपाधि से कभी न कभी ज़रूर नवाज़ा गया है! एंगेल्स स्पष्ट करते हैं कि समाजवाद में समान मूल्य के नियम के अनुसार श्रम का श्रम से विनिमय की कल्पना करना ऐसे "समाजवाद' की कल्पना करना है जो असल में पूँजीवाद ही है लेकिन जिसमें बुराइयाँ मौजूद नहीं है! जैसा कि हमने पहले भी बताया था कि समाजवादी संक्रमण के दौरान श्रमशक्ति के मूल्य या *माटसाब* के नए शब्दों में "श्रम के मूल्य" का प्रश्न ही नहीं उठता और न ही उसके आकलन का प्रश्न उठता है क्योंकि मूल्य के आकलन की आवश्यकता ही केवल और केवल विनिमय के लिए होती है। लेकिन समाजवादी समाज में श्रमशक्ति का विनिमय होता ही नहीं है। समाजवादी संक्रमण में किसी भी माल के मूल्य का आकलन सामाजिक श्रम के परिमाण के आकलन से होता है, उसमें श्रमशक्ति के मूल्य के आकलन का कोई सवाल ही पैदा नहीं होता।

लेकिन अन्य मालों के मूल्य पर मूल्य का नियम लागू होता है और उसके अनुसार ही उनका मूल्य निर्धारित होता है: यानी उसमें लगने वाले सामाजिक श्रम के अनुसार। यानी मूल्य का नियम मालों पर लगता है लेकिन उत्पादन और वितरण को यह पूर्णत: निर्धारित नहीं करता है क्योंकि उत्पादन और वितरण दोनों के ही क्षेत्र केन्द्रीय तौर पर सर्वहारा राज्य द्वारा नियोजित होते हैं। मज़ेदार बात यह है कि एंगेल्स भी अपने समय में डयुहरिंग को वही उपाधि देते हैं जो कि हमने *दोन किहोते दि ला पटना* को दी है! एंगेल्स बताते हैं के ''श्रम के मूल्य'' रूपी मैम्ब्रिन के ताज को जीतने की चाहत में दोन किहोते यानी डयुहरिंग को नाई का कटोरा (barber's basin) ही मिलता है। आज भी हमारे पटना के दोन किहोते को नाई का कटोरा या फिर काँटों का ताज ही मिला है! अगर *माटसाब* को हमारे द्वारा उन्हें भारत के वामपन्थी आन्दोलन के दोन किहोते कहे जाने पर आपत्ति है तो उन्हें यह नाराज़गी एंगेल्स पर निकालनी चाहिए, हम पर नहीं!

आगे देखें स्तालिन इस विषय में क्या लिखते हैं:

"For us, distribution is carried out according to labor. We have qualified and unqualified labor. What is the labor of an engineer? It is augmented simple labor. Here, income is distributed according to labor. It is impossible to distribute without the law of value. We think that all of the economy is conducted by plan, but it doesn't always work that way. We also have a lot of spontaneous action. We are conscious and don't calculate the spontaneity by the law of value as a matter of procedure. There, the law of value exists spontaneously, it brings destruction, and requires an enormous number of victims. **For us the character of the law of value changes, takes on new content, and new form. We determine prices consciously, not spontaneously."** (Stalin, **Economic Problems of USSR**)(*ज़ोर हमारा*)

आगे *माटसाब* फिर अपने दिमाग़ में फँसे खर्रों की वजह से दुहाई देते हैं:

"लेकिन सामाजिक श्रम अन्ततोगत्वा खर्च हुई मानव श्रमशक्ति ही है या मानव श्रमशक्ति के ही खर्च होने का परिणाम है। इसलिए ही तो समाजवाद के अन्तर्गत मुख्य आर्थिक नियम उत्पादकों की अधिकतम जरूरतों की पूर्ति होता है और इसका अर्थ यही है कि मानव श्रमशक्ति की लागत यानी उसका मूल्य लगातार बढ़ता जाता है। अर्थात, पूरे समाज की श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन पर ज्यादा से ज्यादा खर्च किया जाता है जबकि पूँजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य भौतिक रूप से न्यूनतम की तरफ या उससे भी नीचे की ओर शिफ्ट करता रहता है।'' ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

अब मास्टरजी की महामूर्खता पर भी गौर कीजिए: वह क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्रियों की ग़लत अवधारणा के ज़रिये अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य ही श्रमिकों के बीच विनिमय होता है! पूँजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य परिभाषा से ही उसके पुनरुत्पादन में लगने वाले मालों के मूल्य से तय होता है। लेकिन मार्क्स ही नहीं बल्कि एडम स्मिथ भी जानते थे कि एक मज़दूर अपनी श्रमशक्ति के मूल्य से ज़्यादा मूल्य पैदा करता है। समाजवाद में श्रमशक्ति भौतिक तौर पर, यानी कि एक उपयोग-मूल्य के तौर पर ख़र्च होती है और उसकी भरपाई की आवश्यकता हर खर्च होने वाली चीज़ की भरपाई के समान होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं होता है कि उसका मूल्य और विनिमय मूल्य होता है। यहाँ फिर से *माटसाब* श्रमशक्ति के विषय में उपयोग मूल्य और मूल्य के बीच में भ्रमित हो गये हैं। कोई उपयोगी वस्तु माल न भी हो तो भी उसके भौतिक रूप से व्यय होने पर उसकी भरपाई करनी होती है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उसका कोई मूल्य होता है। मूल्य एक सामाजिक सम्बन्ध है, और उसकी वस्तुवादी अवधारणा (physicalist concept) का मार्क्स ने लगातार खण्डन किया था। समाजवादी समाज में मज़दूर जितना सामाजिक श्रम देता है, मालों के रूप में उतना ही सामाजिक श्रम प्राप्त करता है। ठीक इसी वजह से उसका

जीवन-स्तर ऊंचा होता जाता है, न कि इस वजह से समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य बढ़ता जाता है और पूँजीवाद में श्रमशक्ति का मूल्य घटता जाता है, जैसा कि पटना के दोन किहोते अजय सिन्हा को लगता है!

दूसरा, *माटसाब* के अनुसार समाजवाद में श्रमशक्ति का मूल्य इसलिए बढ़ता जाता है क्योंकि "समाज की श्रमशक्ति के पुनरुत्पादन" पर ज़्यादा खर्च किया जाता है! कैसी मूर्खतापूर्ण बात है यह? *माटसाब* के लिए मूल्य तय करने का पैमाना अब 'सामाजिक रूप से आवश्यक श्रमकाल' न रहकर "श्रम शक्ति के पुनरुत्पादन पर खर्च" बन जाता है। पर पुनरुत्पादन पर खर्च का मूल्य कौन तय कर रहा है? यह तो पुनरुत्पादन के लिए आवश्यक मालों में लगने वाले मूल्य से तय होना था लेकिन अब *माटसाब* के हिसाब से मूल्य ख़ुद इस पैमाने से तय हो रहा है! आप देख सकते हैं कि *माटसाब* एक शून्य की परिधि के चारों ओर घूम रहे हैं और 'झींगा ला ला -झींगा ला ला' गा रहे हैं! एक कुतर्क और ग़लती को ढांपने के चक्कर में यह व्यक्ति बौद्धिक तौर पर बिलकुल निपट नंगा सड़क पर भाग चला है!

माटसाब ने सामाजिक श्रम के अनुसार मज़दूरों के बीच वितरण के प्रश्न को भी तोड़-मरोड़ कर इसलिए पेश किया है ताकि अपनी समाजवाद में "श्रम का मूल्य" और "श्रम का मूल्य = श्रम शक्ति का मूल्य" की मौजूदगी की मूर्खतापूर्ण अवधारणा को सिद्ध कर सकें। लेकिन उपरोक्त चर्चा से साफ़ है कि उन्हें पहले एक विनम्र बालक की तरह मार्क्सवाद का 'क ख ग' पढ़ना चाहिए, *माटसाब* वाली "सैद्धान्तिक" हवाबाज़ी छोड़ देनी चाहिए और समाजवादी संक्रमण में सामाजिक श्रम के अनुसार वितरण सरीखे जटिल सवालों को हाथ नहीं लगाना चाहिए।

आलोचना में हुई फ़ज़ीहत ने *माटसाब* को एक पुरातात्विक क्लर्क में बदल दिया!

आगे *दोन किहोते दि ला पटना* हमारे 8 साल पुराने एक उद्धरण को पेश कर ख़ुद को थोड़ी गुदगुदी महसूस होने देते हैं जिसमें हमने लिखा है कि समाजवाद में उजरती श्रम मौजूद होता है। वे तर्जनी उठाकर बताते हैं कि स्तालिन के अनुसार समाजवाद में उजरती श्रम मौजूद नहीं था। वह हमारे निम्न उद्धरण को पेश करते हैं:

"जैसा कि माओ ने बताया था, समाजवादी समाज में अभी तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गाँव और शहर में अन्तर मौजूद होता है। जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक पूँजीवादी श्रम विभाजन भी मौजूद होता है; कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है; बुर्जुआ अधिकार भी तब तक मौजूद रहते हैं। जाहिर है कि जब तक श्रम विभाजन मौजूद रहेगा तब तक विनिमय सम्बन्ध और विनिमय मूल्य बने रहेंगे। माल का अस्तित्व बना रहेगा क्योंकि अभी भी वस्तुओं का उपयोग मूल्य और विनिमय मूल्य दोनों बने रहेंगे। लिहाज़ा, अभी भी माल उत्पादन बना रहेगा और उजरती श्रम का अस्तित्व भी बरक़रार रहेगा क्योंकि लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे। जब तक विनिमय सम्बन्ध बने रहेंगे तब तक श्रम के उत्पाद के हस्तगतीकरण का तत्व मौजूद रहेगा। और हम मार्क्स से इस बात को जानते हैं कि अलगाव की आर्थिक परिघटना का मूल और कुछ नहीं बल्कि श्रम के उत्पाद का हस्तगतीकरण है। यह पूरी स्थिति, जैसा कि हमने पहले बताया है, समूचे समाजवादी संक्रमण काल में मौजूद रहती है।" (दिशा संधान, अंक-1, अप्रैल-जून 2013)

माटसाब को इस उद्धरण को पढ़कर लगा कि हमने कोई ग़ज़ब की ग़लत बात बोल दी है और वह वेद प्रकाश शर्मा सरीखे सड़क-छाप सस्पेंस नॉवल के अंदाज़ में सुराग़ के तौर पर पहले हमारे उद्धरण को बिना संदर्भ के पाठकों के समक्ष रखते हैं और कहते हैं कि पाठक इसे पढ़ें। उद्धरण में स्पष्ट है कि पूँजीवादी उजरती श्रम की चर्चा ही नहीं हो रही है, क्योंकि उसका अर्थ ही होता है पूँजी द्वारा उजरती श्रम का शोषण। यहाँ समाजवाद के अन्तर्गत उजरत (मज़दूरी) की व्यवस्था की बात हो रही है, क्योंकि समाजवाद के अन्तर्गत भी उजरत की व्यवस्था होती है, लेकिन उसका आधार अब श्रमशक्ति का मूल्य नहीं होता है, बल्कि मज़दूर द्वारा दी जा रही सामाजिक श्रम की मात्रा होती है। इस रूप में उजरत की व्यवस्था एक बदले स्वरुप में मौजूद होती है, उसका सारतत्व बदल चुका होता है। लेकिन *माटसाब* को यह बात ही समझ में नहीं आई है! *माटसाब* कहते हैं कि वह उद्धरण के लेखक का नाम और अपने द्वारा उद्धरण रखने की मंशा बाद में स्पष्ट करेंगे। रहस्य से पर्दा उठाने के बाद वह अपनी छाती पीटते हुए गरजते हैं कि:

"इसमें यह व्यक्ति इस बात को बड़े गर्व से मानता है और इसकी घोषणा करता है कि समाजवाद के पूरे दौर में श्रम, उजरत श्रम बना रहेगा यानी दूसरे शब्दों में श्रमशक्ति माल बनी रहेगी। सवाल यह है कि यह आदमी फिर किस मुंह से यहाँ चिल्ला रहा है कि समाजवाद में उजरत श्रम का अन्त हो जाता है, माल के रूप में श्रमशक्ति का अन्त हो जाता है आदि आदि।" ("मार्क्सवादी चिंतक" की अभिनव पैंतरेबाजियां और हमारा जवाब [3], 'यथार्थ')

लेकिन यहाँ भी यह बौद्धिक बौना बेईमानी और चोरी करने से बाज़ नहीं आता है। स्तालिन का पूरा उद्धरण पढ़कर कोई भी सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति समझ सकता है कि स्तालिन का अर्थ यहाँ पूँजीवादी उजरती व्यवस्था से है। लेकिन अहं पर ठेस खाए हुए "महासचिव" अजय सिन्हा को पुरातात्विक संधान करने में वक़्त ख़र्च करने में जितना मज़ा आता है, काश कि उसका एक-तिहाई वह मार्क्सवाद का अन्तर्विवेकशील अध्ययन करने और जारी बहस में पूछे गये सवालों का तर्कपूर्ण और तथ्य आधारित जवाब देने में ख़र्च कर देते तो उनकी बहस में इतनी भद्द नहीं

पिटती! बहरहाल स्तालिन का पूरा उद्धरण देखें:

"Capitalist production is the highest form of commodity production. Commodity production leads to capitalism only *if* there is private ownership of the means of production, *if* labour power appears in the market as a commodity which can be bought by the capitalist and exploited in the process of production, and *if*, consequently, the system of exploitation of wageworkers by capitalists exists in the country. Capitalist production begins when the means of production are concentrated in private hands, and when the workers are bereft of means of production and are compelled to sell their labour power as a commodity. Without this there is no such thing as capitalist production.

"Well, and what is to be done if the conditions for the conversion of commodity production into capitalist production do not exist, if the means of production are no longer private but socialist property, if the system of wage labour no longer exists and labour power is no longer a commodity, and if the system of exploitation has long been abolished – can it be considered then that commodity production will lead to capitalism all the same? No, it cannot. Yet ours is precisely such a society, a society where private ownership of the means of production, the system of wage labour, and the system of exploitation have long ceased to exist." (Stalin, Economic Problems of USSR)

समाजवाद में पूँजीवादी उजरती श्रम या उजरती गुलामी समाप्त हो जाती है, इसके बारे में किसी को क्या सन्देह हो सकता है? क्या समाजवाद में उजरती व्यवस्था मौजूद नहीं होती है? बिलकुल मौजूद रहती है, लेकिन समाजवादी संक्रमण में उजरत का पूँजीवादी रूप और अन्तर्वस्तु बदल चुका रहता है क्योंकि अब श्रमशक्ति माल के रूप में अस्तित्वमान नहीं रहती है। इसलिए समाजवाद में मज़दूरी या उजरत का श्रम शक्ति के मूल्य से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं होता है लेकिन मज़दूरी फिर भी विद्यमान होती है। इसे समझना इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अभी लोग अपनी क्षमता अनुसार काम और अपनी आवश्यकता अनुसार प्राप्त नहीं करते हैं। सामाजिक श्रम की मात्रा के अनुसार उजरत का तय होना भी एक असमानता को जन्म देता है, क्योंकि समाज में मानसिक व शारीरिक श्रम का अन्तर व अन्य अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ मौजूद होती हैं। मार्क्स का यह निम्न उद्धरण देखें जो यह स्पष्ट करता है कि समाजवाद में भी उजरत मौजूद होती है लेकिन उसका पूँजीवादी रूप नहीं केवल एक खोल बचता है। मार्क्स कहते हैं:

"Of course, if wages are reduced to their general basis, namely, to that portion of the product of the producer's own labour which passes over into the individual consumption of the labourer; if we relieve this portion of its capitalist limitations and extend it to that volume of consumption which is permitted, on the one hand, by the existing productivity of society (that is, the social productivity of his own individual labour as actually social), and which, on the other hand, the full development of the individuality requires; if, furthermore, we reduce the surplus-labour and surplus-product to that measure which is required under prevailing conditions of production of society, on the one side to create an insurance and reserve fund, and on the other to constantly expand reproduction to the extent dictated by social needs; finally, if we include in No. 1 the necessary labour, and in No. 2 the surplus-labour, the quantity of labour which must always be performed by the able-bodied in behalf of the immature or incapacitated members of society, i.e., **if we strip both wages and surplus-value, both necessary and surplus labour, of their specifically capitalist character, then certainly there remain not these forms, but merely their rudiments, which are common to all social modes of production."** (Marx, *Capital* Volume 3)

ताज्जुब की बात यह है कि इस उद्धरण के एक हिस्से को *माटसाब* ने भी उद्धृत किया था। लेकिन इसके बावजूद वह यह समझ नहीं पाते हैं कि समाजवाद में उजरती व्यवस्था पूँजीवादी उजरती श्रम की व्यवस्था के रूप से अलग होती है।

हमारे उपरोक्त उद्धरण में हम उजरती श्रम की मौजूदगी की बात ठीक इन्ही सन्दर्भों में कर रहे हैं और आगे यह स्पष्ट भी कर रहे हैं कि समाजवाद में अभी "सभी से उनकी क्षमता के अनुसार और सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार" का सिद्धान्त नहीं लागू होता है। बेहतर होता की उजरती श्रम की जगह उजरती व्यवस्था का इस्तेमाल किया जाता क्योंकि इससे बात अधिक सन्तुलित होती और कोई भ्रम पैदा होना की गुंजाइश नहीं रह जाती। हालाँकि अगर कोई पूर्वाग्रह-रहित मस्तिष्क का व्यक्ति हमारा वह पूरा वाक्य पढ़ेगा तो समझ जायेगा की वहाँ अर्थ उजरती व्यवस्था से है क्योंकि ठीक उसके बाद यह लिखा गया है

कि "लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार प्राप्त नहीं करेंगे बल्कि अपने श्रम के उत्पाद का मोल हासिल करेंगे" जिसकी वजह से समाजवादी संक्रमण के दौर में भी असमानता की ज़मीन मौजूद रहेगी। यह बात ही समाजवादी संक्रमण की समस्याओं के सन्दर्भ में कही गयी है जो ज़ाहिरा तौर पर दोन किहोते दी ला पटना के चुनौटी भर दिमाग़ की बौद्धिक क्षमता से परे है। इस उद्धरण में हम समाजवादी अर्थव्यवस्था और उसकी गतिकी या नियमों पर चर्चा नहीं कर रहे हैं।

लेकिन *माटसाब* को तो लगा कि उनके हाथ कुबेर का खज़ाना लग गया है और वह लगे 'यूरेका-यूरेका' चिल्लाने! असल में *माटसाब* ने एक जासूस का चोगा इसलिए धारण कर लिया है क्योंकि जारी बहस में अपने विरोधी पक्ष द्वारा पेश किये गये तर्कों का वर्तमान में जवाब देने की उनमें हिम्मत नहीं है, इसलिए कभी 10 तो कभी 7 साल पुराना हमारा कोई लेख ढूंढकर ले आते है कि उसके बूते ही अपनी ग़लत और मूर्खतापूर्ण अवस्थितियों को साबित करने का प्रयास करते हैं! **चूंकि मास्टरजी के अनुसार समाजवादी व्यवस्था में श्रमशक्ति एक माल थी, तो अब उन्हें इसे साबित करने के लिए तमाम किस्म के तीन-तिकड़म भिडाने पड़े हैं जिनमें से यह पुरातात्विक संधान भी उनका एक तिकड़म ही है। हम यहाँ पहले ही बता देना ज़रूरी समझते हैं कि 'दिशा सन्धान' के कुछ अंकों में कॉपी सम्पादन की कमी की वजह से कुछ ग़लतियाँ भी चली गयी थीं, जिन्हें तत्काल ही वेबसाइट में एडिट कर दिया गया था और बची हुई हार्ड प्रतियों में भी, मसलन तीसरे अंक में एक जगह ग़लती से समाजवाद में श्रमशक्ति माल होती है छप गया था जिसे तत्काल ही *इराटा*** (भूल-सुधार) **के साथ वेबसाइट पर ठीक कर दिया गया था और प्रिण्ट संस्करण की बची हुई प्रतियों में भी *इराटा* लगा कर दुरुस्त कर दिया गया था।** और भी आँकड़ों सम्बन्धी कुछ प्रूफ की ग़लतियाँ प्रिण्ट संस्करण में गयी थीं जिन्हें वेबसाइट पर तत्काल ही ठीक कर दिया गया था। ये भूल सुधार वेबसाइट पर तिथि के साथ मौजूद हैं।

यह बताने की वैसे कोई आवश्यकता नहीं थी लेकिन पटना के दोन किहोते और "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली के साथ अब तक चली बहस में हमें पता चल चुका है कि जारी बहस में पिटाई के बाद निरुत्तर होने पर यह मूर्ख मण्डली पुरातात्विक खोजों में जुट जाती है। ताज्जुब की बात नहीं कि दो महीने बाद यह एक बार फिर "बौद्धिक" निर्वस्त्रता की अवस्था में अपनी गुफाओं से बाहर निकल कर यूरेका-यूरेका चिल्लाते हुए आयें! इसलिए इतनी ज़हमत मत उठाइएगा महोदय। हम आपको ख़ुद ही बता रहे हैं कि कॉपी संपादन की कुछ ग़लतियों के कारण प्रूफ की त्रुटियां इन अंकों के प्रिण्ट संसकरण में गयी हैं। कुछ ग़लतियों को हमने प्रिण्ट संस्करण में इराटा (भूल-सुधार) लगाकर ठीक करने का प्रयास किया, लेकिन जल्द ही हमारे समझ में आ गया कि यह बेहद लम्बा और श्रमसाध्य काम है, जिसे हम दी गयी कार्यशक्ति में कर नहीं सकेंगे। इसलिए हमने वेबसाइट संस्करण में ये प्रूफ व संपादन की ग़लतियां अंक के मुद्रण के तत्काल बाद ही ठीक कर दी थीं और आज भी जब कोई उन अंकों की प्रिण्ट प्रति ले जाता है, तो हम उसे ताईद कर देते हैं कि भूल सुधार हेतु 'दिशा सन्धान' की वेबसाइट अवश्य देखें।

बताते चलें कि जिस वक़्त *माटसाब* अजय सिन्हा ने सोवियत समाजवादी प्रयोग पर हमारी अवस्थिति की "आलोचना" लिखने की "धमकी" दी थी हमने तभी इनके संगठन को सूचित कर दिया था कि वे वेब संस्करण का ही उपयोग करें, क्योंकि प्रिण्ट संसकरण में प्रूफ की गम्भीर ग़लतियां गयीं थीं।

लेकिन मूल बात तो यह है कि एक जारी बहस में 8 या 10 साल पहले के लेखन पर चर्चा ही व्यर्थ है। जारी बहस हर पक्ष की उसमें पेश दलीलों और तर्कों के आधार पर होती है। चूंकि "महासचिव" अजय सिन्हा जारी बहस में चूहे की तरह इस बिल से उस बिल में भागते नज़र आ रहे हैं, इसलिए इस बेचारे को पुरातात्विक उत्खनन पर उतरना पड़ गया है! वास्तव में इस तरह के पुरातात्विक अनुसन्धान बहस से पलायन का ही एक तरीक़ा है जिसमें मौजूदा सवालों पर या तो आपकी बोलती बन्द जो जाती है या फिर बहस के दौरान अपनी ही कही गयी बातों से पलटी मार ली जाती है।

इस तरह का पुरातात्विक अनुसन्धान तो हम भी "महासचिव" अजय सिन्हा और "यथार्थवादी" मण्डली के सरगना और सोशल मीडिया के "वामपन्थी" पत्रकार महोदय के लेखन का कर सकते थे लेकिन यह आचरण बहस में किसी भी संजीदा व्यक्ति को शोभा नहीं देता है क्योंकि किसी भी मौजूदा बहस में दोनों पक्षों द्वारा बहस के दौरान पेश किये गये तर्कों और तथ्यों पर बात होती है और उन्ही पर बात होनी भी चाहिए। किसी भी जारी बहस में उसमें पेश तर्कों व तथ्यों पर बात होती है, न कि कोई पक्ष दूसरे पक्ष के 8 या 10 साल पुराने लेखन पर बहस करता है! यह काम कोई पक्ष तभी करता है, जब वह जारी बहस में पिट जाता है! लेकिन इतनी सी बात भी *माटसाब* को समझाना दीवार पर सिर देने के समान है।

समाजवादी संक्रमण के दौर में उजरती व्यव्यस्था व तद्जनित समस्याएं

बहरहाल मूल चर्चा पर वापस आते हैं। अगर पटना के दोन किहोते महाशय को लगता है कि समाजवादी समाज में उजरती व्यवस्था का मतलब श्रम शक्ति का माल होना होता है, तो एक बार फिर हमारी सलाह है कि उन्हें किसी की मदद से पेंसिल टिका-टिकाकर मार्क्सवादी राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्तों का अध्ययन करना चाहिए। देखें, सोवियत संघ से प्रकाशित राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक क्या कहती है:

"Wages in socialist economy are by their very nature quite different from wages under

capitalism. Since labour-power has ceased to be a commodity in socialist society, wages are no longer the price of labour-power. They express, not the relation between the exploiter and the exploited, but the relation between society as a whole, in the shape of the Socialist State, and the individual worker who is working for himself and for his society."

चूंकि समाजवाद के अन्तर्गत श्रमशक्ति माल के रूप में मौजूद नहीं रहती है, इसलिए मज़दूरी अब श्रमशक्ति का दाम या कीमत भी नहीं रह जाती है। मज़दूरी के आकलन के लिए केवल मज़दूर द्वारा दिये जाने वाले सामाजिक श्रम की मात्रा की भूमिका रह जाती है। श्रमशक्ति के मूल्य की श्रेणी श्रमशक्ति के एक माल के रूप में समाप्त होने के साथ ही समाप्त हो जाती है, हालाँकि श्रमशक्ति भौतिक तौर पर समाप्त नहीं हो जाती है और न ही भौतिक तौर पर खर्च होने वाली श्रमशक्ति को 'कम्पन्सेट' करने की आवश्यकता समाप्त होती है। यानी एक उपयोग-मूल्य के तौर पर श्रमशक्ति मौजूद होती है, लेकिन एक माल के रूप में नहीं, और न ही उसके मूल्य की कोई बात की जा सकती है, जैसे कि कम्युनिस्ट समाज की मंज़िल में कोई भी वस्तु माल के रूप में मौजूद नहीं होगी और इसलिए उसके मूल्य की बात भी बेतुकी होगी, लेकिन वह उपयोग-मूल्य के तौर पर मौजूद होगी और उसके उत्पादन व पुनरुत्पादन, यानी स्तालिन के शब्दों में उसे 'कम्पन्सेट' करने की आवश्यकता भी ज़ाहिरा तौर पर होगी। समाजवादी समाज में श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है, न ही उसके मूल्य की बात की जा सकती है और *माटसाब* के समान "श्रम के मूल्य" की बात करना तो मूर्खता की हद ही हो जाएगी। इसलिए समाजवादी समाज में भी उजरत मौजूद रहती है। इसी पाठ्यपुस्तक से यह निम्न उद्धरण भी देखें:

"Since under capitalism wages are the price of labour-power, they usually fluctuate, unlike the price of other commodities, below value. They do not always enable the workers to satisfy even the minimum of their requirements. **With the abolition of the system of hired labour, the law of value of labour-power has completely lost its validity as the regulator of wages.** The basic economic law of socialism necessitates the maximum satisfaction of the constantly growing material and cultural requirements of the whole of society. **The emancipation of wages from the limitations of capitalism enables them to be extended "to that volume of consumption, which is permitted on the one hand, by the existing productivity of society . . . and on the other hand, required by the full development of his (the worker's) individuality".** (Marx, Capital, Vol. III, Kerr edition, p. 1,021) (*emphasis ours*)

यह पाठ्यपुस्तक यह भी बताती है कि समाजवाद के अन्तर्गत मज़दूरी या उजरत किस प्रकार निर्धारित होती है :

"Wages are one of the most important economic instruments through which each worker in socialist society is given a personal material interest in the results of his work: he who works more and better also receives more. Consequently, wages are a powerful factor in the growth of labour productivity, enabling the personal material interests of the worker to be correctly combined with State (national) interests.

"The money form of wages is necessitated by the existence in socialist economy of commodity production and the law of value. As has already been stated, the consumer goods, which are necessary to compensate for the expenditure of labour-power are produced and disposed of in socialist economy as commodities, subject to the operation of the law of value. The money form of wages allows of flexible and differential assessment of the worker's share in the social product, depending on the results of his labour.

"Thus, wages in socialist economy are the monetary expression of the worker's share in that portion of the social product which is paid out by the State to workers by hand or brain in accordance with the quantity and quality of each worker's labour.

"The money wages of each worker by hand or brain are his individual wages. The source of the individual wages of the workers engaged in socialist production is the product created for themselves, and distributed according to work. However, the standard of life of the workers by hand or brain in socialist society is not determined by individual money wages alone. In addition to individual wages, large funds are allotted by the State and social organisations for the social and cultural needs of the working people, out of the product created by labour for society.

"In conformity with the requirements of the basic economic law of socialism and the law of distribution according to work, the Socialist State plans the wage fund and the wage level for different categories of workers for each period of development."

लेकिन चूंकि समाजवाद में लोग अभी भी अपने श्रम के अनुसार मज़दूरी पाएंगे, इसलिए अभी "क्षमता के अनुसार श्रम व आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करना" का सिद्धान्त लागू नहीं होता। इसलिए उजरतों में फ़र्क़ रहता हैं और यह वस्तुगत तौर पर असमानताओं को जन्म भी देता है। जब तक अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ, जैसे कि शारीरिक व मानसिक श्रम में विभेद मौजूद रहेगा, तब तक ऐसा ही हो सकता है। माओ के तमाम योगदानों में एक अहम योगदान यह स्पष्ट करना था कि ये अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ महज़ उत्पादक शक्तियों के विकास के ज़रिये नहीं समाप्त हो सकती हैं, बल्कि समाजवादी संक्रमण के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्त्व में मज़दूर वर्ग को उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का कार्य सचेतन तौर पर जारी रखना होगा, बुर्जुआ अधिकारों के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाना होगा, साथ ही उत्पादन का विकास भी जारी रखना होगा। लेकिन उत्पादन सम्बन्धों के क्रान्तिकारी रूपान्तरण का प्रश्न क्रान्ति के बाद के समाजवादी संक्रमण के दौरान कई कालखण्डों में प्रधानता प्राप्त कर लेता है।

महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का एक नारा इसी द्वन्द्व को अभिव्यक्त करता है: "क्रान्ति पर पकड़ बनाए रखो और उत्पादन का विकास करो" (grasp revolution, promote production)। यह वह बिन्दु था, जिस पर लेनिन के बाद के दौर में, सोवियत पार्टी की समझ सन्तुलित नहीं थी और एक प्रकार के उत्पादकतावाद (productivism) का उस पर स्पष्ट प्रभाव था। सोवियत राजनीतिक अर्थशास्त्र की पाठ्यपुस्तक से लिए गये उपरोक्त उद्धरण में भी उसकी एक झलक दिखलाई पड़ती है। लेकिन यहाँ हम इस चर्चा के विस्तार में नहीं जा सकते हैं। मूल बात यह है कि समाजवादी संक्रमण में उजरत की व्यवस्था पूँजीवादी उजरत की व्यवस्था से अलग होती है क्योंकि श्रमशक्ति माल नहीं रह जाती है, लेकिन उजरत की व्यवस्था अभी मौजूद होती है। अब उजरत सामाजिक श्रम की मात्रा से तय होती है, जो कि हर मज़दूर समाज को देता है। निश्चित तौर पर, अभी यह एक बुर्जुआ अधिकार ही होता है और कम्युनिस्ट सिद्धान्त (सभी से उनकी क्षमता के अनुसार, सभी को उनकी आवश्यकता के अनुसार) अभी ऊपर से थोपकर लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि समाज में अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ मौजूद होती हैं, विशेषकर शारीरिक व मानसिक श्रम का अन्तर। समाजवादी संक्रमण के दौर में तीन महान अन्तरवैयक्तिक असमानताएँ यानी मानसिक और शारीरिक श्रम, उद्योग और कृषि और गाँव और शहर में अन्तर मौजूद होता है और जब तक यह अन्तर मौजूद होता है तब तक श्रम विभाजन भी मौजूद होता है, कुशल और अकुशल के बीच का अन्तर मौजूद होता है जो कि उजरतों में अन्तर पैदा करता है।

"महासचिव" अजय सिन्हा की हमारे जिस उद्धरण को देखकर विक्षिप्त क़िस्म की चीत्कार निकली थी वह समजवादी संक्रमण की इसी समस्या को रेखांकित कर रहा था। माओ ने भी "सोवियत अर्थशास्त्र की आलोचना" में इस बात को रेखांकित किया है क्योंकि सोवियत समाजवादी आर्थिक नियोजन में उत्पादककता को बढ़ाने और इसलिए भौतिक प्रोत्साहन देने पर अधिक ज़ोर होने की वजह से उजरतों में असमानता बढ़ रही थी। माओ ने इसी को राजनीति की जगह उत्पादकता को कमान में रखना कहा। देखें माओ क्या लिखते हैं:

"Chapter 26 says, "Workers in socialist enterprises who, out of material interest, are concerned with the results of their own work are the motive forces developing socialist production." (p. 482)

"Chapter 27 says, "Compensation for skilled labor is comparatively high….And this stimulates workers to raise their cultural and technical level, causing the essential difference between manual and mental labor to diminish." (pp. 501-03)

"The point here is that higher compensation for skilled labor has spurred unskilled workers to upgrade themselves continuously so they can enter the ranks of skilled workers. This means that they studied culture and technology in order to earn more money. In a socialist society every person entering school to study culture and technology should recognize before anything else that they are studying for socialist construction, for industrialization, to serve the people, for the collective interest, and not above all for a higher wage.

"Chapter 28 says, "Distribution according to labor is the greatest force propelling the development of production." (p. 526) And at the end of this page, after explaining that wages rise steadily under socialism, the unrevised third edition of this textbook even goes so far as to say, "Socialism is fundamentally superior to capitalism precisely in this." Now to say that socialism is fundamentally superior to capitalism because

wages steadily rise is very wrong." (Mao Tsetung, **A Critique of Soviet Economics**)

सोवियत रूस में लागू *पीस* रेट पर उजरतों की व्यवस्था के बारे में आशंका व्यक्त करते हुए माओ बताते हैं कि इस व्यवस्था पर एकतरफा ज़ोर होने के कारण कालान्तर में सोवियत यूनियन में जवान और बूढ़े मज़दूरों, ताक़तवर और कमज़ोर मज़दूरों और अधिक कुशल और कम कुशल मज़दूरों के बीच अन्तरविरोध और असमानता बढ़ेगी। इसके साथ ही मज़दूरों में "बड़ा बनने" की मानसिकता भी पनपेगी जो सामूहिक हितों की जगह वैयक्तिक हितों को तरजीह देगी:

"Page 530, in its discussion of wage forms, advocates taking piecework wages as primary and the time-rate as supplementary. We do the reverse. *One-sided* emphasis on piece rates is bound to create contradictions between older and younger, stronger and weaker laborers, and will foster among the workers a psychology of "going for the big ones." This makes the primary concern not the collective cause but the individual income. There is even evidence that the piece-rate wage system impedes technological innovation and mechanization.

"The book concedes that with automation, piece-rate wages are unsuitable. On the one hand they say they want automation widely developed; on the other they say they want piece-rate wages used widely. This involves a contradiction."(*ibid*)

सोवियत यूनियन में समाजवादी निर्माण के दौर में भौतिक प्रोत्साहान को उत्पादकता बढ़ाने का प्रमुख ज़रिया बताने की सोच पर भी माओ अपनी आलोचना रखते हैं:

"The book says that material incentive to labor "spurs increases in production" and "is one of the decisive factors in stimulating the development of production." But material incentive does not necessarily change every year. People may not require such incentive daily, monthly, or yearly. In times of difficulty when incentives are reduced people must still carry on, and that satisfactorily. By making material incentive a one-sided absolute the text fails to give due importance to raising consciousness, and cannot explain why there are differences among the labor of people in the same pay scale. For example, in scale no. 5, one group may carry on very well, another rather poorly, and a third tolerably well on the whole. Why, with similar material incentive, such differences occur is inexplicable according to their way of reasoning.

"Even if the importance of material incentive is recognized, it is never the sole principle. There is always another principle, namely, spiritual inspiration from political ideology.

"And, while we are on the subject, material incentive can not simply be discussed as individual interest. There is also the collective interest to which individual interest should be subordinated, long-term interests to which temporary interests should be subordinated, and the interests of the whole to which partial interests should be subordinated." (*ibid*)

कहने की ज़रूरत नहीं है कि पाठक spiritual शब्द का अर्थ आध्यात्मिक रूप में न समझें। यहाँ माओ राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रेरण (political and ideological inspiration) और चेतना के स्तरोन्नयन की भूमिका की बात कर रहे हैं।

इस पूरी चर्चा के बाद हम देख सकते हैं कि *दोन किहोते दि ला पटना* समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत उजरती व्यवस्था की मौजूदगी का मूर्खतापूर्ण तरीक़े से यह मतलब निकालते हैं कि श्रमशक्ति माल के रूप में अभी भी विद्यमान हैं! *माटसाब* के हर नये लेख के साथ हमारी यह धारणा और पुख्ता होती जा रही है कि मार्क्सवाद और राजनीतिक अर्थशास्त्र के बुनियादी सिद्धान्त इन्हें वाक़ई नहीं पता हैं और ऊपर से दोन किहोते महोदय एक "अखिल भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी" के "महासचिव" भी हैं। क्या मज़ाक़ है यह! हमने पिछले लेखों में *माटसाब* की समाजवाद में श्रमशक्ति के माल होने की बात की विस्तृत आलोचना पेश की थी। पाठक इन मुद्दों पर हमारी अवस्थिति विस्तार से जानने के लिए निम्न दो लेख पढ़ सकते हैं:

http://ahwanmag.com/archives/7719

http://ahwanmag.com/archives/7726

लेकिन *माटसाब* के लिए ये सब बातें फ़ारसी या हिब्रू में लिखी लगती हैं! उन्हें समझ आने से रहा। वह तो बस हमारी आलोचना का इन्तज़ार कर रहे होते हैं और जैसे ही उन्हें प्राप्त होती है वैसे ही वह मेंढक की तरह फुदक कर अपनी अवस्थिति फिर बदल लेते हैं और यहाँ तक कि कई बातें चोरी कर उसे अपनी मौलिक बातों के तौर पर पेश करने लगते हैं! ग़ज़ब नमूना है यह व्यक्ति!

निष्कर्ष

पटना के दोन किहोते महोदय और "यथार्थवादियों" ने जो इस बार भी अपनी अवस्थितियाँ और बातें बदली हैं वह उनकी हमेशा की आदत की तरह है। 'यथार्थ' में आए दो लेखों में आलोचना में हुई भयंकर रगड़ाई के बाद वे अपनी पुरानी

अवस्थितियों को त्याग कर नयी अवस्थितियाँ अपनाने के ज़रिये अपनी खाल बचाने की कोशिश करते हैं। इसके अलावा *माटसाब* और "यथार्थवादी" कुलकपरस्त गिरोह ने इन दो लेखों में फिर से अपनी कई हास्यास्पद बातें दुहराई भी हैं, जिनका हम पहले ही जवाब दे चुके हैं, मसलन, स्थायी संकट का सिद्धान्त, अतिउत्पादन व अल्पउपभोगवाद को संकट का मूलभूत कारण बताना इत्यादि। हालाँकि सतही तौर पर गरमागरम तेवर दिखाने के बावजूद "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली बहस में अपने झूठ पकड़े जाने, बातें बदलते जाने, *गोलपोस्ट शिफ्ट* करते जाने और कुलकपरस्ती में आकण्ठ नहाने की वजह से हुई फज़ीहत के बाद इन लेखों में काफी रक्षात्मक मुद्रा में भी नज़र आती है। इन्हें बार-बार यह सफाई देनी पड़ी है कि ये कुलकपरस्त नहीं हैं और यह इनके ख़िलाफ़ कुत्साप्रचार की साज़िश की जा रही है! राजनीतिक आलोचना को "यथार्थवादियों" की यह जमात कुत्साप्रचार कह रही है जो ख़ुद आये-दिन क्रान्ति के भगोड़ों और कुत्साप्रचारकों के साथ रंगरलियाँ मनाते हुए रंगे हाथों बरामद होती है!

हाल ही में *माटसाब* फेसबुक पर धनी किसान-कुलक आन्दोलन के नेतृत्त्व को चुनौती देकर हटाने का नारा देते हुए भी पकड़े गये थे जबाकि उनके शुरुआती लेखों में वह कुलक नेतृत्त्व की आन्दोलन में प्रशंसनीय भूमिका बता रहे थे और उसकी नाम की माला जप रहे थे। पाठकों को याद होगा कि अपने पिछले लेख तक अभी *माटसाब* धनी किसानों-कुलकों का पूँजीवाद से भरोसा उठने की बात कर रहे थे और उन्हें समाजवादी क्रान्ति का मित्र वर्ग बता रहे थे। मौजूदा लेख में उन्होंने तीन मुद्दों पर पलटी मारी है। **पहला**, वह बताते हैं कि अक्तूबर क्रान्ति में गाँवों में भी तात्कालिक तौर पर समाजवादी क्रान्ति का ही दौर था और वहाँ वर्ग संश्रय भी तीन वर्गों का था। इसके ज़रिये वह भारत की समाजवादी क्रान्ति में कुलकों और धनी किसानों को वर्ग संश्रय का हिस्सा बनाए बिना सहयोगी बनाने की वक़ालत करते हैं और इसे "लचीलापन" की संज्ञा देते हैं! तमाम क़िस्म के संशोधनवादों की शुरुआत ऐसे ही "लचीलेपन" से होती है! **दूसरा**, वह बताते हैं कि 'किसान बुर्जुआज़ी' उत्पादन सम्बन्धों की नज़र से तो पूँजीपति वर्ग है लेकिन अगर वर्ग संघर्ष की तात्कालिक निशानदेही करें तो यह पूँजीपति वर्ग नहीं रहता है! इस कोरी बक़वास की सच्चाई भी हमने ऊपर उजागर की है कि किस प्रकार यह कुलकपरस्त "यथार्थवादी" गिरोह बुनियादी मार्क्सवादी सिद्धान्तों का विकृतिकरण करके कुलकों-धनी किसानों की दलाली करने का वैधीकरण तलाश रहा है। **तीसरा**, वह अपनी समाजवाद में श्रमशक्ति के माल होने और उसके मूल्य की गणना होने की मूर्खतापूर्ण अवधारणा को सही सिद्ध करने के लिए मार्क्स-पूर्व क्लासिकीय राजनीतिक अर्थशास्त्र की ग़लत अवधारणा का इस्तेमाल कर बताते हैं कि "श्रम का मूल्य" श्रमशक्ति का मूल्य ही होता है! इसके बाद *माटसाब* बताते हैं कि समाजवाद में सबको सबके श्रम के अनुसार भुगतान का मतलब होता है सभी को अपने "श्रम के मूल्य" के अनुसार भुगतान! इसके ज़रिये वह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि इस तरह समाजवाद में मज़दूरों को उनकी श्रमशक्ति के मूल्य के अनुसार भुगतान किया जाता था! इस हास्यास्पद ग़ैर-मार्क्सवादी "सिद्धान्त" की असलियत भी हम ऊपर देख आये हैं।

इन तीनों अवस्थितियों में हमने उन्हें ही उद्धृत कर यह भी दिखलाया कि हमारे द्वारा की गयी आलोचना से पहले उनकी अवस्थिति बिलकुल अलग थी। *माटसाब* बिलकुल *इलेक्ट्रान* की तरह चंचल व्यवहार करते हैं! जैसे ही उनपर आलोचना की रोशनी पड़ती है वैसे ही वह अवसरवादी चंचलता दिखाते हुए अपनी अवस्थिति बदल लेते हैं! यह "यथार्थवादी" बौड़म मण्डली का चिर-परिचित गुण है। मज़दूर वर्ग का पक्ष त्याग कर यह बौद्धिक बौने पूरी तरह अवसरवाद के नाले में लोट लगा रहे हैं लेकिन साथ में "क्रान्तिकारी" लफ्फाज़ी करना भी जारी रखे हुए हैं। लगता है कि यह कुलकपरस्त अवसरवाद इन्हें जल्द ही संशोधनवाद के "स्वर्ग" सिधार ही देगा।

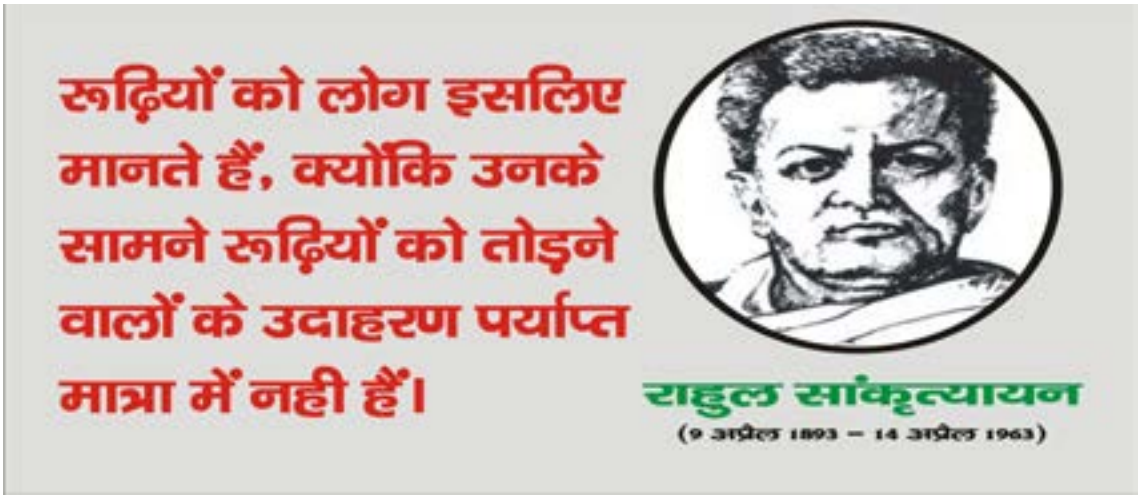

विशेष लेख

‘प्रतिबद्ध’ पत्रिका के सम्पादक द्वारा मार्क्सवादी सिद्धान्त और सोवियत इतिहास का संघवादी-संशोधनवादी विकृतिकरण

सोवियत यूनियन के संविधान से झूठे उद्धरणों व ग़लत बयानी द्वारा राष्ट्रीय प्रश्न पर ‘प्रतिबद्ध-ललकार’ ग्रुप की क़ौमवादी व ट्रॉट-बुण्डवादी लाइन पहुँची तार्किक परिणति पर

सुसंगत जनवाद पर आधारित केन्द्रीयतावाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त को ख़ारिज करने की कुत्सित कवायद के साथ ‘प्रतिबद्ध’ के सम्पादक सीधे जा बैठे बुर्जुआ संघवाद की गोद में

शिवानी

जब कोई व्यक्ति या समूह अपनी विजातीय कार्यदिशा को सही साबित करने के लिए इरादतन झूठ बोले, इतिहास के दस्तावेज़ों को ग़लत और मनमाने तरीक़े से उद्धृत करे, सिद्धान्तगत प्रश्नों और ऐतिहासिक तथ्यों को मिस्कोट और मिसरिप्रेज़ेन्ट करे तो निश्चित ही विचारधारात्मक-राजनीतिक पतन की फिसलन भरी डगर पर ऐसा व्यक्ति या समूह द्रुत गति से राजनीतिक निर्वाण प्राप्ति की ओर अग्रसर हो रहा होता है।

यही हालत ‘प्रतिबद्ध’ के सम्पादक सुखविन्दर और ‘प्रतिबद्ध-ललकार’ ग्रुप की हो गयी है। क़ौमी और भाषाई सवाल पर बहस में पिट जाने पर (जिस बहस के अस्तित्व को यह महोदय शुरू से ही नकारते रहे हैं, लेकिन इस पर बाद में आयेंगे) सम्पादक महोदय घटिया क़िस्म के कपट और बेईमानी पर उतर आये हैं।

अपनी क़ौमवादी, ट्रॉट-बुण्डवादी, ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी और संघवादी लाइन को सही साबित करने के लिए इन्होंने ‘प्रतिबद्ध’ के अंक-34 के सम्पादकीय में न सिर्फ़ झूठ बोले हैं, **बल्कि सोवियत यूनियन के संविधान जैसे बेहद ज़रूरी ऐतिहासिक दस्तावेज़ को जानबूझकर ग़लत उद्धृत किया है,** ऐतिहासिक तथ्यों की मनमुआफ़िक बेतुकी व्याख्या की है और ऐतिहासिक सन्दर्भों में अपना बुर्जुआ “संघवादी” कचरा भरा है।

हम इस लेख में तफ़सील से सन्दर्भों के साथ दिखलायेंगे कि कैसे यह व्यक्ति जो एक “मार्क्सवादी” पत्रिका का सम्पादक होने का दम भरता है, वाक़ई में मार्क्सवाद को विकृत करने के कुत्सित काम में लगा हुआ है। इसके अलावा इनके नए अंक यानी ‘प्रतिबद्ध’ अंक संख्या-35 में भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें एक बार फिर अन्तर्विरोधपूर्ण कुतर्कों, मूर्खताओं और “बौद्धिक” बेईमानी की कई मिसालें पेश की गयी हैं, जिसकी आलोचना हम जल्द ही पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करेंगे।

बहरहाल, फ़िलहाल अपने मौजूदा लेख में हम सप्रमाण और सोदाहरण दिखलायेंगे कि बोल्शेविक पार्टी, लेनिन व स्तालिन द्वारा सुसंगत जनवाद पर आधारित केन्द्रीयता वाले एकीकृत यूनियन के ढाँचे की राज्य-व्यवस्था के सिद्धान्त की

ही हमेशा वक़ालत की गयी है और 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक द्वारा बेईमानी के साथ ज़बरदस्ती सोवियत इतिहास व राज्य-व्यवस्था का एक संशोधनवादी-संघवादी पाठ प्रस्तुत किया गया है। सोवियत यूनियन में 1918 से 1922 तक तात्कालिक वस्तुगत परिस्थितियों के मद्देनज़र एक संक्रमणकालीन नीति के तौर पर अपनाये गयी संघीय ढाँचे की व्यवस्था को यह महोदय संघवाद पर मार्क्सवादी सिद्धान्त में तब्दीली के तौर पर पेश करते हैं और इसलिए इनका आचरण संशोधनवादी व सामाजिक-जनवादियों से किसी भी रूप में भिन्न नहीं है। क़ायदे से ख़ुद को क्रान्तिकारी कहने वाले तमाम संगठनों और व्यक्तियों को मार्क्सवादी सिद्धान्त व विचारधारा व सोवियत इतिहास के इस संशोधनवादी पाठ और विकृतिकरण के विरुद्ध बोलना चाहिए क्योंकि ऐसे प्रश्न किसी एक संगठन के मसले नहीं होते है बल्कि पूरे आन्दोलन के लिए ही विचारधारात्मक-राजनीतिक महत्व के सवाल होते हैं। लेकिन हम आज बिलकुल इसके विपरीत घटित होता हुआ देख रहे हैं। आज तमाम ऐसे "यथार्थवादी" लोग या "संगठन" (जो संगठन कम बच्चा पार्टी ज़्यादा हैं!) जो किसी न किसी वक़्त बहस में पिट चुके हैं या फिर बहस से पलायन कर चुके हैं, तमाम विजातीय प्रवृत्तियों और ग़ैर-मार्क्सवादी रुझानों के साथ, जिसमें कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की ग़ैर-सर्वहारा वर्गीय क़ौमवाद व संघवाद की कार्यदिशा भी शामिल है, अवसरवादी तरीक़े से "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व" बनाये हुए हैं! वैसे इसमें कोई ताज्जुब की बात है भी नहीं। यह तो देर-सवेर होना ही था! क़ौमवादी नाले और कुलकवादी नाले का संगम तो होना ही था!

जैसा कि पाठकों को ज्ञात होगा कि पिछले लम्बे समय से 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व के साथ क़ौम और भाषा के सवाल पर हमारी बहस जारी है। हालाँकि इस ग्रुप का नेतृत्व क्रान्तिकारी साहस के सर्वथा अभाव के चलते खुलकर यह बात कभी नहीं मानता है जिसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ही सवालों पर अपनी ग़ैर-मार्क्सवादी-लेनिनवादी लाइन को वह किसी भी बहस के मंच पर सही नहीं ठहरा सकता है। हालाँकि इस ग्रुप का सरगना परोक्ष तरीक़े से अपनी दिवालिया समझदारी की ब्रॉडकास्टिंग जारी रखे हुए है। लेकिन जैसा कि हमने पहले इंगित भी किया है कि अपनी पिट चुकी ख़स्ताहाल लाइन को चूँकि इस ग्रुप का नेतृत्व कहीं सही साबित नहीं कर सकता है, इसलिए इसने बहस से भाग खड़े होने का यह नायाब तरीक़ा ढूँढ निकाला है कि बहस के अस्तित्व से ही इनकार कर दिया जाय!

इसके अलावा पिछले डेढ़ साल से ज़्यादा समय से चल रही यह बहस अब क़ौम और भाषा के सवाल तक सीमित रह नहीं गयी है। मौजूदा धनी किसान-कुलक आन्दोलन के समर्थन से लेकर धनी किसान-कुलकों की एमएसपी की जनविरोधी मांग पर बार-बार ज़बरदस्त यू-टर्न मारने तक और फिर कोरोना महामारी पर निहायती अवैज्ञानिक जनद्रोही अवस्थिति अपनाने तक इस ग्रुप के नेतृत्व ने अपनी दिवालिया समझदारी की जो नुमाइश इतने छोटे से अंतराल में कर डाली है, वह वाक़ई अचम्भित करने वाली है!

और इसमें भी कोई ताज्जुब की बात नहीं होगी कि क़ौमी मसले पर इस ग्रुप की संघवादी लाइन इन्हें जल्द ही सांगठनिक मसलों पर भी जनवादी केन्द्रीयता के उसूल को ख़ारिज करने या उसका भी संशोधनवादी पाठ करने तक ले जायेगी। जिस संगठन का नेतृत्व क़ौमी मसले पर संघवाद की गोद में बैठ चुका है वह, आज नहीं तो कल, सांगठनिक प्रश्न पर भी बुण्डवादी संघवाद की ग़ैर-लेनिनवादी कार्यनीति की ओर ही जायेगा, जिसकी तरफ़ इस पत्रिका के सम्पादक ने क़ौमी सवाल पर अपने पिछले लेख में इशारा भी किया था और पार्टी के संघवादी ढांचे की बात कहते-कहते रह गया था। ऐसा प्रतीत होता है स्तालिन ने निम्न शब्द 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक को ही ध्यान में रखते हुए कहे थे:

"Whether the Caucasian Liquidators will take "a step forward" and follow in the footsteps of the Bund on the question of organisation also, the future will show. **So far, in the history of Social-Democracy federalism in organisation always preceded national autonomy in programme.** The Austrian Social-Democrats introduced organisational federalism as far back as 1897, and it was only two years later (1899) that they adopted national autonomy. The Bundists spoke distinctly of national autonomy for the first time in 1901, whereas organisational federalism had been practised by them since 1897.

"The Caucasian Liquidators have begun from the end, from national autonomy. If they continue to follow in the footsteps of the Bund they will first have to demolish the whole existing organisational edifice, which was erected at the end of the 'nineties on the basis of internationalism." (Stalin, **Marxism and National Question**)

स्तालिन की यह बात हमारे ट्रॉट-बुण्डवादियों यानी 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप पर शब्दश: लागू होती है।

'प्रतिबद्ध' के सम्पादक द्वारा सोवियत यूनियन के इतिहास का भोंडा और बेईमानी भरा विकृतिकरण

किसी भी राजनीतिक-विचारधारात्मक बहस में आप विरोधी पक्ष से अपेक्षा करते हैं कि वह बहस में ईमानदारी के साथ आचरण करे। आप यह भी उम्मीद करते हैं कि अपने ग़लत (कु)तर्कों को सही साबित करने के लिए वह तथ्यों और इतिहास को तोड़ेगा-

मरोड़ेगा नहीं, ग़लतबयानी नहीं करेगा व झूठ नहीं बोलेगा। और ज़ाहिरा तौर पर अगर बहस कम्युनिस्ट संगठनों के बीच हो तो यह क्रान्तिकारी नैतिकता का भी प्रश्न बनता है कि आप तथ्यों के साथ कोई फ़ेर-बदल न करें और झूठ तो कतई न बोलें।

लेकिन क़ौमवाद और अन्य प्रश्नों पर चली बहसों में, जिसमें कि मौजूदा धनी किसान आन्दोलन और लाभकारी मूल्य का सवाल प्रमुख है, पिट जाने के बाद 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व ने यह साबित कर दिया है कि जहाँ तक कम्युनिस्ट ईमानदारी का प्रश्न है, तो अब इसका भी क्षरण हो चुका है। इसका एक प्रातिनिधिक उदहारण इनकी पत्रिका 'प्रतिबद्ध' के अंक-34 के सम्पादकीय में देखने को मिलता है।

अपनी क़ौमवादी, ट्रॉट-बुण्डवादी और संघवादी कार्यदिशा को सही सिद्ध करने के लिए इस पत्रिका के सम्पादक महोदय अब झूठ और ग़लतबानियों का सहारा ले रहे हैं। **इस अंक के सम्पादकीय में इन जनाब ने सोवियत यूनियन को संघवादी बनाने के लिए सफ़ेद झूठ बोलने के सभी रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिए हैं! चूँकि यह सोवियत यूनियन के इतिहास से अपनी संघवादी लाइन के समर्थन में कुछ ढूँढ कर नहीं ला पाए थे तो इस बार इन्होंने सोवियत यूनियन के इतिहास और संविधान को ही बदल डाला है!** सम्पादक महोदय को पूरा भरोसा है कि इनका काडर मौलिक अध्ययन तो करेगा नहीं, तो अपनी मरी-गिरी क़ौमवादी-संघवादी लाइन को साबित करने के लिए कुछ भी ग़लत-सलत लिख दो, ताकि तोतारटन्त "ज्ञान" की तरह इनके द्वारा गढ़े गये क़ौमवादी-संघवादी तर्कों को बस इनकी भक्त-मण्डली दुहरा दे और एक भयंकर सर्वहारा-विरोधी कार्यदिशा पर टांग दौड़ाते रहे। लेकिन, अफ़सोस अभी अन्य लोगों ने मार्क्सवाद का अध्ययन करना छोड़ा नहीं है!

इसमें भी कोई ताज्जुब नहीं कि आजकल इस ग्रुप की संघवाद पर जो कार्यदिशा आ रही है वह तमाम बुर्जुआ पार्टियों, संशोधनवादियों, सामाजिक-जनवादियों, तमाम क़िस्म के लिबरलों, बुर्जुआ कलमनवीसों, पत्रकारों का प्रिय शगल है क्योंकि संघवाद का ऐसा कोई भी अनालोचनात्मक जश्न न केवल वर्ग विश्लेषण से रिक्त है बल्कि कम्युनिस्ट दृष्टिकोण के भी सर्वथा विपरीत है। इनमें से बहुतेरे भारत में फ़ासीवाद को इसी संघवाद (federalism) की ज़मीन से शिक़स्त देना चाहते हैं! इसी वजह से आजकल ममता बैनर्जी संघवाद की "पोस्टर गर्ल" बनी हुई है! कुछ समय पहले तक उद्धव ठाकरे भी इनके "पोस्टर बॉय" थे! इस संघवादी समझदारी का वर्ग चरित्र इनके तथाकथित 'चैम्पियनों' की राजनीति और विचारधारा देखकर ही समझ आ जाता है। **'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महाशय संघवाद के इन्हीं दीवानों की लाइन में सबसे आख़िरी में खड़े हैं और उन्हें कोई पूछ भी नहीं रहा है!**

सम्पादकीय में वैसे तो कई अन्य मसले भी हैं जिनपर तफ़सील से चर्चा की ज़रुरत है, क्योंकि इन तमाम मसलों पर इन्होंने अपनी पुरानी अवस्थितियों से या तो पलटी मारी है या फिर अपने कुतर्कों को दुहराया ही है, लेकिन हम शुरुआत इनके द्वारा इस बार बोले गये नये झूठों, फ़रेबों और ग़लतबयानियों को उजागर करने से करेंगे।

'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय ने मार्क्सवाद से क़ौमवाद की ओर ऐसी छलांग मारी है कि इनके रहे-सहे समर्थक भी हैरान-परेशान घूम रहे हैं! **संघवाद का नारा बुलन्द करते हुए यह जनाब इस मुक़ाम पर पहुँच गए हैं कि इन्होंने समाजवादी सोवियत यूनियन के इतिहास का भी विकृतिकरण कर डाला है और उसके विषय में झूठों की झड़ी-सी लगा दी है।** बताते चलें कि इन्होंने केन्द्रीयतावाद पर मार्क्सवादी सैद्धान्तिकी को पहले ही कचरा पेटी के हवाले कर दिया था, वैसे ही जैसे क़ौमी सवाल पर मार्क्सवादी-लेनिनवादी नज़रिये को छोड़कर बुण्डवादी-क़ौमवादी नज़रिया अपना लिया था, जिसकी आलोचना हम पहले ही पेश कर चुके हैं और जिसे आप यहाँ पढ़ सकते हैं-

http://ahwanmag.com/archives/7655

http://ahwanmag.com/archives/7594

हमने अपनी उपरोक्त आलोचना में जिस प्रवृत्ति को इनके "संघवाद पर बहके-बहके विचार" की संज्ञा दी थी, उन बहके विचारों ने प्रस्तुत सम्पादकीय में तार्किक पूर्णता हासिल कर ली है और मार्क्सवादी विचारधारा से इनके पथभ्रष्ट हो जाने और विपथगमन की प्रक्रिया को और मज़बूती प्रदान कर दी है। जिस तरह से तमाम संशोधनवादी और सामाजिक-जनवादी पार्टियों ने राज्य और क्रान्ति की थीसिस में संशोधन करके उसे दन्त-नखविहीन बना दिया है, 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक वही काम मार्क्सवादी-लेनिनवादी जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त के साथ कर रहे हैं और मार्क्स से लेकर लेनिन और स्तालिन को बतौर 'एक आम पेटी-बुर्जुआ संघवादी' पेश कर रहे हैं।

जैसा कि हमने ऊपर भी रेखांकित किया है आज इनकी जो कार्यदिशा विभिन्न क़ौमों द्वारा संघवाद के उसूल पर एक राज्य के मातहत संघटित होने के सिद्धान्त के रूप में सामने आ रही है, जो कि कत्तई मार्क्सवाद-विरोधी अवस्थिति है, वह आगे चलकर सांगठनिक प्रश्नों के मामले में भी सामने आएगी और एक मायने में आ भी चुकी है। अपने पूर्ण रूप में सांगठनिक मामलों में यह खुलकर कब सामने आएगी यह तो वक़्त बतायेगा लेकिन जिस गति से यह ग्रुप यहाँ तक आ पहुँचा है कोई ताजुब्ब नहीं कि आगे की विचारधारात्मक विपथगमन की यात्रा भी यह जल्दी ही तय करे।

इस बार इस ग्रुप का नेतृत्व अपनी पिछली अवस्थिति से और दो क़दम आगे चला गया है और इस करतूत को अंजाम देते हुए इन्होंने अपनी पत्रिका के सम्पादकीय में सोवियत यूनियन को 'फ़ेडरेशन' घोषित कर डाला है! और यह साबित करने के लिए

इन्होंने ऐतिहासिक तथ्यों और दस्तावेज़ों तक को नहीं बख्शा है। **सोवियत यूनियन के संविधान से मिस्कोट करके, झूठे सन्दर्भ पेश करके, बौद्धिक बईमानी का परिचय देते हुए सम्पादक महोदय ने अपनी क़ौमवादी-संघवादी कार्यदिशा के हिसाब से नतीजे निकाले हैं।** लेकिन इन्हें ससंदर्भ उद्धृत करने के बावजूद हम जानते हैं कि इनकी बची-खुची भक्त मण्डली क्या कहेगी- यही, कि *हमने* सन्दर्भ से काटकर इनके उद्धरण पेश किये हैं और मनमाने ढंग से इनकी व्याख्या की है! इसलिए हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे स्वयं भी इनका यह अंक ज़रूर पढ़ें, जिसमें मौलिक लेखन के नाम पर इक्का-दुक्का लेखों के अलावा कुछ नहीं है और साथ ही हम सारे मूल उद्धरण पेश कर रहे हैं, जिसे सारे पाठक स्वयं परख सकते हैं और देख सकते हैं कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर ने किस प्रकार सोवियत संविधान से उद्धरणों को बदलकर पेश किया है। इसलिए सबसे पहले हम यह देखेंगे कि 'यूनियन' और 'फ़ेडरेशन' के सवाल पर इस ग्रुप के नेतृत्व ने क्या-क्या झूठ बोले हैं और इतिहास को किस तरह से विकृत करके पेश किया है।

संघवाद बनाम सुसंगत जनवाद पर आधारित केन्द्रीयता व एकीकरण: मार्क्सवादी दृष्टिकोण

हमने पहले भी बताया था कि संघवाद (federalism) के विषय में मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति एकदम स्पष्ट है। **मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन व स्तालिन राज्य-व्यवस्था के संघटन के मामले में भी सुसंगत जनवाद पर आधारित जनवादी केन्द्रीयता (democratic centralism) के हिमायती थे। वे संघवाद के विरोधी थे।** लेनिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि विशेष तौर पर पूँजीवाद के अन्तर्गत संघीय ढाँचे की माँग अनैतिहासिक और प्रतिक्रियावादी है क्योंकि यह पूँजीवाद के विकास को अवरुद्ध करती है और सर्वहारा वर्ग का वर्ग संघर्ष भी पूँजीवादी विकास के साथ तीव्रतम और उन्नततर रूप ग्रहण करता है। साथ ही, लेनिन यह भी बताते हैं कि यह केन्द्रीयता सुसंगत जनवाद के साथ एक जनवादी केन्द्रीयता के उसूलों पर बनी होनी चाहिए।

दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि 1918 से 1922 की जिस कालावधि में औपचारिक तौर पर संघीय ढांचे की व्यवस्था रूस व अन्य भूतपूर्व दमित राष्ट्रों के बीच लागू हुई, वह पूर्ण एकीकरण की प्रक्रिया का एक चरण मात्र था, जो प्रक्रिया पहले तमाम गणराज्यों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध (treaty alliance) से होते हुए संघीय ढाँचे की संक्रमणकालीन व्यव्यस्था का रूप अख्तियार करते हुए अन्ततोगत्वा एकीकृत यूनियन पर आकर समाप्त होती है, जिसमें नाम के लिए संघीय ढाँचा मौजूद था, लेकिन वास्तव में उसमें कुछ भी संघीय नहीं था, बल्कि वह सुसंगत जनवाद पर आधारित एक बेहद केन्द्रीकृत व्यवस्था थी। यह भी स्पष्ट करते चलें कि जिस संक्रमण के दौर में सोवियत रूस ने संघीय ढाँचे की व्यवस्था का इस्तेमाल भी किया, वह महज़ औपचारिक था और उसका उस बुर्जुआ संघीयता से कोई रिश्ता नहीं था, जिसकी पिपहरी बजाते हुए सुखविन्दर घूम रहे हैं, जैसा कि हम आगे देखेंगे। *उस दौर में भी सभी महत्वपूर्ण मसलों पर, जैसे कि बजट व आर्थिक मसले, सामरिक व सैन्य मसले, विदेश मसले, न्यायिक मसलों आदि पर अखिल-रूसी केन्द्रीय कांग्रेस, जो की केन्द्रीय सत्ता का प्रतिनिधित्व करती थी, ही सभी फ़ैसले लेती थी।*

दिसम्बर 1922 के बाद तो यह औपचारिकता भी ख़त्म हो चुकी थी जब सोवियत यूनियन के गठन के साथ एक एकीकृत राज्य व्यवस्था अस्तित्व में आती है और अखिल-यूनियन संविधान के मातहत आर्थिक, प्रशासनिक, मौद्रिक, सैन्य, न्यायिक आदि सभी महत्वपूर्ण प्रकार्य आते थे और जिसको लेकर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने काफ़ी झूठ बोले हैं।

यहाँ तक कि 1923 में ही पूरे यूनियन की *एक साझा नागरिकता* भी अस्तित्व में आ गयी थी! यदि सोवियत यूनियन या स्तालिन के 1923 के बाद के लेखन पर ग़ौर किया जाए तो हम पाते हैं कि "संघवाद" शब्द का इस्तेमाल पूरी तरह से ख़त्म हो गया था और केवल यूनियन का इस्तेमाल किया जाने लगा था। 1924 के स्तालिन के एक फुटनोट को सन्दर्भों से काटकर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने अपने पिछले लेख "राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद" पर काफ़ी चिल्ल-पों मचाते हुए ढिंढोरा पीटा था कि स्तालिन ने संघवाद के सवाल पर बोल्शेविक पार्टी की नीति बदल डाली थी, लेकिन सच यह है कि उस फुटनोट में भी स्तालिन अतीत की संक्रमणकालीन नीति (1918-1922) की बात कर रहे हैं क्योंकि 1924 में सोवियत यूनियन को अस्तित्व में आये हुए एक साल से भी अधिक समय हो गया था! लेकिन इस पर बाद में आयेंगे। सोवियत इतिहास में "संघवाद" या "संघीय ढाँचे" का वह अर्थ था ही नहीं जैसा कि बुर्जुआ अर्थों में इससे जुड़ा होता है और 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप का नेतृत्व सोवियत इतिहास पर आरोपित करने की कोशिश कर रहा है। किसी भी अर्थ में सोवियत यूनियन में संघीय ढांचे का *वास्तव* में कुछ भी नहीं बचा था जैसा कि हम आगे देखेंगे और यह महज़ एक औपचारिक वस्तु बनकर रह गया था।

रूस में क्रान्ति के बाद कुछ समय के लिए, जिसे कि संक्रमणकालीन अवधि कहा गया था, रूस के तमाम भूतपूर्व दमित राष्ट्रों के सम्बन्ध में संघीय ढाँचे की नीति को औपचारिक तौर पर अपनाया गया था। क्रान्ति के बाद 1918 से 1922 तक समाजवादी रूस को रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (Russian Soviet Federative Socialist Republic; RSFSR) कहा गया जिसे दिसम्बर 1922 में बदलकर सोवियत समाजवादी गणराज्यों की यूनियन (Union of

Soviet Socialist Republics; USSR) कर दिया गया, जब इसमें अन्य गणराज्य भी शामिल हुए। **ज़ाहिर है कि संघात्मक ढाँचे की यह नीति एक छोटे कालखण्ड के लिए अपनायी गयी थी, और यह तात्कालिक वस्तुगत परिस्थितियों के मद्देनज़र अपनायी गयी एक नीति मात्र थी, कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं था जैसा कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय का अहमकाना दावा है। यह नीति भी तात्कालिक तौर पर इसीलिए अपनायी गयी थी ताकि यूनियन के गठन को सुदृढ़ किया जा सके और दमित राष्ट्रों के जनसमुदायों का भरोसा अर्जित किया जा सके। यह बोल्शेविक पार्टी का सकारात्मक प्रस्ताव नहीं था, बल्कि एक मध्यवर्ती क़दम था जिसके ज़रिये जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित पूर्ण यूनियन की ओर बढ़ा जा सके। अन्त में यही हुआ भी, जैसा कि हम आगे देखेंगे।**

समाजवाद के अन्तर्गत तमाम ऐसी अवधारणाओं के मायने ही बदल जाते हैं जो कि पूँजीवादी व्यवस्था में भी प्रचलन में होते हैं। समाजवाद के अंतर्गत जनवाद का वह अर्थ नहीं रह जाता है जो कि पूँजीवाद के अंतर्गत होता है। समाजवाद के तहत अधिनायकत्व का भी वह अर्थ नहीं होता है जो कि पूँजीवाद के तहत तानाशाही का होता है। इसके अलावा उजरती व्यवस्था समाजवाद में एक अलग रूप अख्तियार कर लेती है क्योंकि उसका रूप और अन्तर्वस्तु दोनों ही बदल जाते हैं, भले ही अभी भी उजरत की व्यवस्था बनी रहती है। कोई हद दर्जे के बुर्जुआ लिबरल ज्वर से ग्रस्त दिमाग़ ही ऐसी बात सोच सकता है कि समाजवाद के तहत उजरत की व्यवस्था अपने पूंजीवादी स्वरूप में विद्यमान रहती है।

ठीक इन्ही अर्थों में अगर समाजवादी सोवियत यूनियन बनने तक की पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया को उसके राजनीतिक-ऐतिहासिक सन्दर्भ में अवस्थित करके देखा जाये तो सोवियत यूनियन बनने से पहले के दौर में भी हम पाते हैं कि 'फ़ेडरेशन' जैसे शब्द के पीछे के मायने या स्वरूप ही बदल चुके थे और आर.एस.एफ.एस.आर. में भी फ़ेडरेशन जैसा ज़्यादा कुछ था भी नहीं। वास्तव में स्तालिन द्वारा संघवाद पर लिखे गये लेख के अन्त में 1924 में जोड़े गए फुटनोट में स्तालिन ठीक यही कह रहे हैं कि संघीय ढांचे का अर्थ ही हमारे लिए समाजवादी संक्रमण में बदल चुका है। यह बुर्जुआ संघीय ढांचे से बिल्कुल भिन्न है। इसमें कुछ भी संघीय नहीं रह गया है और यह हमारे लिए पूर्ण यूनियन की ओर एक मध्यवर्ती क़दम से ज़्यादा कुछ नहीं है। जब हम 1924 और 1936 के सोवियत संविधानों में केन्द्रीय राज्यसत्ता और यूनियन में शामिल गणराज्यों के सम्बन्धों पर निगाह डालते हैं, तो यह बात साफ़ हो जाती है कि सोवियत संघ की राज्य संरचना सुसंगत जनवाद पर आधारित एक केन्द्रीकृत यूनियन की थी। सुखविन्दर ने 1936 के सोवियत संविधान के एक उद्धरण को बेईमानीपूर्ण तरीक़े से बदलकर पेश किया है, जिससे कि वह इसके विपरीत सिद्ध कर सकें। उस पर हम आगे आएंगे और मूल उद्धरण पेश करके क़ौमवादियों के इस सरगना की इस बेईमानी को उजागर करेंगे।

हालाँकि पूंजीवादी राज्यों में भी शुद्ध 'फ़ेडरेशन' जैसी कोई चीज़ मिलती नहीं है, जैसा कि हम स्तालिन के हवाले से आगे दिखायेंगे भी। *एक संक्रमणकालीन व्यवस्था के तौर पर भी सोवियत यूनियन में जिस छोटे कालावधि में 'फ़ेडरेशन' की व्यवस्था की बात की गयी थी, उस कालावधि में भी इसका स्वरूप बुर्जुआ अर्थों से पूरी तरह भिन्न था।* संघीय ढाँचे का सोवियत इतिहास में मुख्यतः और मूलतः अर्थ सत्ता के विकेन्द्रीकरण से था, जोकि सोवियतों के ढाँचे में स्पष्ट तौर पर दिखलाई भी पड़ता है। लेकिन 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक को इस इतिहास से कोई लेना-देना नहीं है! बल्कि सम्पादक महोदय इतिहास का उपयोग, या यह कहना ज़्यादा सटीक होगा कि उसका दुरुपयोग सिर्फ उसे तोड़ने-मरोड़ने के लिए और ऐतिहासिक तथ्यों को झुठलाने के लिए करते हैं।

1922 में सोवियत यूनियन के बनने के तत्काल बाद भी संघीयता के तत्व नाम-मात्र के लिए और औपचारिक तौर पर (nominally and formally) सोवियत यूनियन के ढाँचे में बचे हुए थे और उसमें अब **एकीकृत यूनियन व केन्द्रीयता** का तत्व प्रधान बन गया था, जो कि समय के साथ बढ़ता गया। जो भी हो, संघ का निर्माण मार्क्सवादियों-लेनिनवादियों का सकारात्मक प्रस्ताव (positive proposal) कभी नहीं होता है, चाहें उन्हें स्वयं भी ठोस परिस्थितियों द्वारा उपस्थित ऐतिहासिक सीमाओं के चलते कुछ समय के लिए संघीय ढाँचे को अपनाना पड़ा हो। क्योंकि मार्क्सवादियों का सकारात्मक प्रस्ताव चाहे कुछ भी हो, लेकिन जब कई गणराज्य साथ आते हैं, तो उनके राज्य का संगठनात्मक सिद्धान्त क्या होगा यह जनवादी रूप से तय होता है न कि कम्युनिस्टों की इच्छाओं से।

पाठकों को एक बार फिर से याद दिला दें कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने 'प्रतिबद्ध' संख्या-33 में प्रकाशित अपने लेख 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' में संघवाद के प्रति अपनी दीवानगी को ज़ाहिर करते हुए बताया था कि स्तालिन ने 1924 में संघवाद को लेकर बोल्शेविक पार्टी की नीति बदल दी थी। हमने उस वक़्त भी इस मूर्खतापूर्ण दावे का खण्डन करते हुए लिखा था:

"सुखविन्दर बिना कहे ऐसी तस्वीर पेश करना चाहते हैं कि स्तालिन ने 1924 में संघवाद के बारे में अपने विचार बदल लिये थे। आइये देखते हैं कि सुखविन्दर के इस दावे में कुछ दम है, या उनकी समझ में ही नहीं आया है कि स्तालिन क्या कह रहे हैं।

"हम जानते हैं कि सुखविन्दर न सिर्फ़ ग़लत कार्यदिशा पेश करने में बौद्धिक बेईमानी का परिचय देते हैं, बल्कि कई जगह वह सच में नहीं समझ पाते हैं कि जो उद्धरण उन्होंने पेश किया है, उसमें कहा क्या गया है। जल्द ही हम सुखविन्दर के एक अन्य

व्याख्यान की लिखित आलोचना पेश करेंगे जो उन्होंने पंजाब के एक बुद्धिजीवी जगरूप की कुछ प्रस्थापनाओं पर दिया था। यह व्याख्यान सुनकर आप समझ जायेंगे कि जिस रुझान का नेतृत्व सुखविन्दर कर रहे हैं, उन्हें हमने अपढ़ "मार्क्सवादी" क्यों कहा था।

"खैर, अभी देखते हैं कि सुखविन्दर ने स्तालिन को किस प्रकार संघवादी बनाया। सुखविन्दर जानबूझकर स्तालिन के 1917 के लेख **'संघवाद के विरुद्ध'** में 1924 में उनके द्वारा लगाये गये एक फुटनोट के आधार पर ऐसा दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं कि मानो मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त में संघवाद और केन्द्रीयतावाद को लेकर अवस्थिति बदल गयी हो। **जबकि उस फुटनोट में भी स्तालिन यही कह रहे हैं कि यह एक संक्रमणकालीन नीति है और इसके लिए वही कारण गिना रहे हैं जो ऊपर लेनिन ने बताये थे।** सुखविन्दर एक संक्रमणकालीन दौर में अपनायी गयी नीति को मार्क्सवाद-लेनिनवाद में सैद्धान्तिक बदलाव के रूप में प्रस्तुत करना चाह रहे हैं जबकि ऐसा कोई बदलाव सिद्धान्त में किया ही नहीं गया था और न ही आज किया जा सकता है। आइये देखते हैं कि स्तालिन ने 1924 के फुटनोट में वास्तव में क्या कहा है:

""इस प्रकार पार्टी ने **फ़ेडरेशन के नकार से "विभिन्न राष्ट्रों की मेहनतकश अवाम की पूर्ण एकता के लिए एक संक्रमणशील रूप" के रूप में फ़ेडरेशन की मान्यता की यात्रा** तय की, जिसे कि कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस ने मान्यता भी दी।

"हमारी पार्टी के विचारों में इस उद्भव के तीन कारण बताये जा सकते हैं।

"पहला, यह तथ्य कि अक्टूबर क्रान्ति के समय रूस की कई राष्ट्रीयताएँ वास्तव में एक-दूसरे से पूर्ण विलगाव व पूर्ण अलगाव की स्थिति में थीं, और *इस दृष्टि से, फ़ेडरेशन इन राष्ट्रीयताओं में मेहनतकश अवाम के विभाजन से उनके क़रीबी यूनियन, उनके मिश्रण की ओर एक अगला क़दम था।*

"दूसरा, यह तथ्य कि फ़ेडरेशन के *जिन रूपों* को सोवियत विकास ने निर्दिष्ट किया, वे किसी भी रूप में रूस की राष्ट्रीयताओं के बीच क़रीबी आर्थिक एकता के साथ कोई अन्तरविरोध नहीं रखते थे, जैसा कि पहले लगता था, और इस लक्ष्य को काटते नहीं थे, जैसा कि व्यवहार में आगे प्रदर्शित हुआ।

"तीसरा, यह तथ्य की राष्ट्रों के मिश्रण में राष्ट्रीय आन्दोलन पहले यानी युद्ध के पहले या अक्तूबर क्रान्ति से पहले के दौर में, *जितना हमें लगता था, उससे कहीं ज़्यादा वज़नदार कारक सिद्ध हुए और राष्ट्रों के मिश्रण की यह प्रक्रिया कहीं ज़्यादा जटिल रूप में सामने आयी।"* (स्तालिन, **संघवाद के विरुद्ध**, *फुटनोट, ज़ोर हमारा*)

"जैसा कि आप देख सकते हैं स्तालिन स्पष्ट तौर पर कह रहे हैं कि **कम्युनिस्टों के लिए हर सूरत में सकारात्मक प्रस्ताव यूनियन होता है, फ़ेडरेशन नहीं, जिसे कि स्थितियों द्वारा उपस्थित सीमाओं के कारण एक संक्रमणशील क़दम के तौर पर अपनाया जा सकता है,** यानी राष्ट्रों के पूर्ण विलगाव की तुलना में उपलब्ध एक बेहतर विकल्प, लेकिन यह मार्क्सवादियों का सिद्धान्त नहीं होता।

"दूसरी बात, जो कि स्तालिन इस फुटनोट में कह रहे हैं वह यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघ की माँग करना और समाजवाद आने के बाद एक संक्रमणशील अवस्था के रूप में तमाम क़ौमों की आपसी सहमति से संघीय ढाँचे का बनना, अलग चीज़ें हैं और सोवियत समाजवादी अनुभव ने दिखलाया है कि ऐसी सूरत में संघ के कुछ विशिष्ट रूप पैदा हो सकते हैं जो निश्चित स्थितियों में समाजवाद के उसूलों के ख़िलाफ़ नहीं भी जा सकता है। आज भी सोवियत संघ के अध्येताओं में लगभग-लगभग इस बात को लेकर आम सहमति है कि 1930 के दशक से ही संघीयता का तत्व सोवियत संघ में लुप्तप्राय हो चुका था, हालाँकि क्षेत्रीय स्वायत्तता तमाम क्षेत्रों को मिली हुई थी। लेकिन हम सभी जानते हैं कि संघीयता और क्षेत्रीय स्वायत्तता एक चीज़ नहीं है, बल्कि क्षेत्रीय स्वायत्तता यूनियन के लेनिनवादी जनवादी केन्द्रीयता के सिद्धान्त का अविभाज्य अंग है। जो भी हो, इसका पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघ की माँग उठाने से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नहीं है, जैसा कि सुखविन्दर कर रहे हैं। लेनिन ने पूँजीवाद के मातहत संघ की माँग को प्रतिक्रियावादी बताया था क्योंकि संघीय ढाँचा पूँजीवादी विकास को अवरुद्ध करता है और विभिन्न क़ौमों के सर्वहारा वर्ग के बीच भी पार्थक्य पैदा करता है। यही कारण है कि संघीय ढाँचा आम तौर पर सर्वहारा वर्ग के वर्ग संघर्ष को उन्नततर धरातलों पर विकसित करने के रास्ते में एक बड़ी बाधा है और इसी वजह से पूँजीवादी व्यवस्था के मातहत संघ की माँग सीधे-सीधे प्रतिक्रियावादी माँग है।

"और तीसरा कारण स्पष्ट तौर पर स्तालिन की इस मान्यता को दिखला रहा है कि राष्ट्रीय आन्दोलनों और राष्ट्रवाद की जनता में पकड़ को पहले कम करके आँका गया था। यह राष्ट्रवादी भावना सोवियत संघ बनने के बाद भी लगातार समाजवादी नीतियों के साथ एक घर्षण पैदा करती रहती थी। इस रूप में कम्युनिस्टों के आकलन और इच्छाा के विपरीत राष्ट्रवादी भावना वस्तुगत तौर पर अपेक्षा से अधिक उत्तरजीवी सिद्ध हुई। लेकिन स्तालिन के लिए यह इतिहास में अनिवार्यता के तत्व को निर्दिष्ट कर रहा था, न कि स्वतन्त्रता या चयन के तत्व को। इसे मार्क्सवादी सिद्धान्त बना देना किसी बौद्धिक जोकर की ही क़रामात हो सकती है।

"समाजवादी व्यवस्था के मातहत भी संघीय ढाँचा कोई कम्युनिस्ट प्रस्ताव नहीं है। यदि किसी बहुराष्ट्रीय देश में समाजवादी क्रान्ति हो, तो वहाँ के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी अपनी तरफ़ से संघ बनाने का प्रस्ताव नहीं रखेंगे, बल्कि अपनी तरफ़

से **वे समेकित केन्द्रीकृत ढाँचे वाली ऐसी राज्यसत्ता के निर्माण की वक़ालत करेंगे, जो कि जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित हो; एक ऐसी व्यवस्था जिसमें कि शुद्धत: स्थानीय मसलों पर क्षेत्रीय स्वायत्तता, सभी क़ौमों व भाषाओं की बराबरी, और सुसंगत जनवाद के साथ एक केन्द्रीकृत राज्यसत्ता हो।** इसके बाद, ऐसा समाजवादी देश सभी क़ौमों की आपसी रज़ामन्दी से कौन-सा ढाँचा अपनाता है, यह पूर्ण जनवादी तरीक़े से ही तय होगा। **ऐसे में, कम्युनिस्ट एक संक्रमणशील अवस्था के तौर पर संघीय ढाँचे को स्वीकार कर सकते हैं, हालाँकि वे अपना लक्ष्य लेनिन द्वारा बताये गये जनवादी केन्द्रीयता के ढाँचे को ही रखते हैं और उसी के लिए काम करते हैं।** और साथ ही समाजवादी व्यवस्था के अन्तर्गत संघीयता का स्वरूप भी वह नहीं होता, जो कि एक पूँजीवादी व्यवस्था के तहत होता है।

"इसलिए 1924 में लिखे गये फुटनोट के अनुसार, स्तालिन संघवादी नहीं हो गये थे। अगर सुखविन्दर को ऐसा लगता है, तो उन्हें फुटनोट को और उस लेख को दोबारा पढ़ लेना चाहिए। **एक संक्रमणशील अवस्था को मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त घोषित करके सुखविन्दर एक बार फिर से अपने ही द्वारा पेश सन्दर्भों व उद्धरणों को समझ पाने में अपनी अक्षमता का परिचय दे रहे हैं। यह वैसा ही कहना हुआ कि नेप (New Economic Policy) की नीति जो सोवियत संघ ने 1921 में एक छोटे दौर के लिए अपनायी थी, जिसमें कुछ समय के लिए निजी पूँजी और छोटे मालिकाने को कुछ छूटें दी गयी थीं, मार्क्स वादियों-लेनिनवादियों का और समाजवाद का कोई आम सिद्धान्त है।"** (शिवानी, राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक का लेख: मार्क्सवाद औरराष्ट्रीय प्रश्न पर चिन्तन के नाम पर बुण्डवादी राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और त्रॉत्स्कीपन्थ में पतन की त्रासद कहानी)

पाठक देख सकते हैं कि तब हमने 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक को सन्देह का लाभ देते हुए कहा था कि इस बात की भी सम्भावना है कि सम्पादक महोदय स्तालिन के उद्धरण का सन्दर्भ और मतलब नहीं समझ पाये हैं। लेकिन इस बार इन महाशय ने इस बात की पुष्टि स्वयं कर दी है कि बात महज़ समझदारी के अभाव की नहीं है (जो कि किसी 'कम्युनिस्ट' में निश्चित ही हो सकती है) बल्कि बात यहाँ सही इरादे और क्रान्तिकारी नैतिकता के अभाव की है (जो कि किसी भी 'कम्युनिस्ट में अक्षम्य है)।

आइये अब सबसे पहले देख लेते हैं कि इस बार 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेता महोदय ने संघवाद से बढ़ती अपनी नज़दीकियों को किस प्रकार से "सैद्धान्तिक" जामा पहनाया है। हालाँकि दिक्क़ततलब बात यह है कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने यह काम राष्ट्रीय प्रश्न और संघवाद के प्रश्न पर मार्क्सवादी राजनीतिक साहित्य का अध्ययन और सोवियत यूनियन के इतिहास का अध्ययन किये बिना ही अंजाम दिया है। लेकिन सम्पादक महोदय के समर्थन में एक बात हमेशा काम कर जाती है और वह यह है कि इनके पीछे-पीछे चलने वाली इनकी छोटी-सी भक्त मण्डली मार्क्सवाद के अध्ययन जैसी मामूली चीज़ पर वक़्त ज़ाया करने में यक़ीन नहीं रखती है! और सम्पादक महोदय अपनी भक्त मण्डली को "ललकारते" हुए इस प्रकार के आचरण की ताईद लगातार अपनी फेसबुक पोस्टों के ज़रिये भी करते रहते हैं कि- "पढ़ोगे-लिखोगे तो बनोगे ख़राब और दिमाग़ दौड़ाने की जगह सिर्फ टांग दौड़ाते रहोगे तो बनोगे असली वाले "इन्क़लाबी" जनाब!"

खैर, जब इस मण्डली का सरगना ही अध्ययन के मामले में निल बटे सन्नाटे का परिचय आये दिन देता रहा हो, अपनी क़ौमवादी और संघवादी लाइन के समर्थन में बुर्जुआ अखबारों और क़लमघसीटों की शरण में जाता रहा हो, तो उसके शागिर्दों से अध्ययन की उम्मीद करना भी कुछ ज़्यादा हो जायेगा! बहरहाल, अब देखते हैं कि संघवाद पर अपनी ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थिति को सही ठहराने के लिए सम्पादक जी ने इस बार क्या "बौद्धिक" पराक्रम दिखायें हैं।

संघवाद और एकीकृत यूनियन के प्रश्न पर सोवियत यूनियन के इतिहास के सम्बन्ध में 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व की चौंकाने वाली ग़लतबयानी और झूठ

सबसे पहले सम्पादक महोदय के मुँह से ही सुन लेते हैं कि इस विषय पर उनका क्या कहना है-

"समाजवादी सोवियत यूनियन ने भी बहु-क़ौमी रूस में क़ौमों के मुद्दों को इसी तरह से हल किया था। **रूसी क्रान्ति के समय तक बोल्शेविक पार्टी पहले एकात्मक ढांचे की ही समर्थक थी, परन्तु क्रान्ति के बाद की घटनाओं में ज़मीनी हक़ीक़तों को समझते हुए बोल्शेविक पार्टी ने अपनी नीति बदल ली थी।** पहली बार यह अवस्थिति जनवरी 1918 में मेहनतकश और शोषित लोगों के अधिकारों की घोषणा में, जिसे लेनिन ने लिखा था और पार्टी की केन्द्रीय कमेटी ने पारित किया था, प्रकट हुआ। इस घोषणा के अनुसार, "रूस का सोवियत गणराज्य आज़ाद क़ौमों की आज़ाद यूनियन के सिद्धान्त पर स्थापित किया गया है, जो कि सोवियत क़ौमी गणराज्यों का संघ है।

"बोल्शेविक पार्टी ने अपनी आठवीं कांग्रेस (1919) में इसकी पुष्टि की। इस कांग्रेस में रूस की कम्युनिस्ट पार्टी का कार्यक्रम पारित हुआ। कार्यक्रम के अनुसार, "पूर्ण एकता की तरफ एक संक्रमणकालीन रूप के तौर पर, पार्टी सोवियत के तर्ज़ पर संगठित राज्यों के संघीय एकीकरण की सिफ़ारिश करती है।"

"इस तरह समाजवादी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आया सोवियत यूनियन वास्तव में अलग-अगल क़ौमी गणराज्यों का संघ था, न कि एकात्मक ढाँचा था। सोवियत यूनियन का 1936 का संविधान इसी बात की पुष्टि करता है कि समाजवादी सोवियत संघ एक संघीय ढांचे वाला मुल्क था।

संविधान के पाठ 2 (राज्य की बनावट) में दर्ज है, "सोवियत समाजवादी गणराज्यों की एकता एक संघीय राज्य है जो कि समाजवादी सोवियत गणराज्यों की इच्छा के साथ जुड़ा हुआ है और जिनको बराबर हक़ हैं।"

"संविधान का यह पूरा पाठ सोवियत गणराज्यों की स्वायत्तता, उनको अलग संविधान रखने और अलग होने की गवाही देता है। **धारा 20 में दर्ज है कि अगर किसी मुद्दे पर केन्द्र और गणराज्यों की राय टकराती है तो गणराज्यों की मानी जायेगी।** इस तरह संघीय ढांचे में भी समाजवादी सोवियत यूनियन ने क़ौमी मुद्दे का हल देखा। इन अर्थों में बहुक़ौमी मुल्क के लिए एकात्मक राज्य की बात करना मज़दूर वर्ग का नज़रिया नहीं हो सकता बल्कि यह शोषक क़ौम या बड़ी बुर्जुआज़ी द्वारा उत्पीड़न के पक्ष में खड़े होना होगा और क़ौमी उत्पीड़न को मान्यता देना होगा।" (ज़ोर हमारा)

यह लम्बा उद्धरण हमने जानबूझकर दिया है ताकि इनके झूठों के पुलिंदे की असलियत उजागर हो सके। इस उद्धरण को पढ़कर क्या किसी भी संजीदा व्यक्ति को यह लग सकता है कि ये किसी मार्क्सवादी-लेनिनवादी के विचार हो सकते हैं? कत्तई नहीं! इतना ही नहीं, जब आप सोवियत संविधान का अध्ययन करते हैं, तो आपको पता चलता है कि यह व्यक्ति झूठ और बेईमानी पर भी आमादा है और सोवियत संविधान जैसे दस्तावेज़ के उद्धरणों को तोड़-मरोड़कर पेश कर रहा है। आगे हम आपको सन्दर्भों समेत दिखलाएंगे कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय किस प्रकार झूठ-फ़रेब पर आमादा हैं।

हम पहले भी कई बार यह बात स्पष्ट कर चुके हैं कि संघवाद (federation) के विषय में मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति एकदम स्पष्ट है **और सैद्धान्तिक तौर पर रूसी क्रान्ति के पहले, बाद या कभी भी इसमें कोई बदलाव नहीं आया था।** मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन व स्तालिन सुसंगत जनवाद पर आधारित जनवादी केन्द्रीयता (democratic centralism) के हिमायती थे तथा अधिकतम सम्भव बड़े व व्यापक एकीकृत यूनियन के समर्थक थे। जैसा कि हमने ऊपर भी बताया था वे संघवाद के विरोधी थे क्योंकि यह वस्तुगत तौर पर सर्वहाराओं की एकता में एक बाधक के तौर पर काम करता है। लेकिन सम्पादक महोदय जानबूझकर सोवियत यूनियन के इतिहास के संशोधनवादी पाठ और व्याख्या के ज़रिये इस अवस्थिति को गड्ड-मड्ड करने का प्रयास कर रहे हैं और इस प्रश्न पर मार्क्सवाद-लेनिनवाद क्रान्तिकारी शिक्षा को दूषित करने की निहायती घटिया कोशिश कर रहे हैं। उसपर तुर्रा यह कि इस प्रश्न पर मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन और स्तालिन की शिक्षा को यह व्यक्ति मजदूर वर्ग-विरोधी बता रहा है! मतलब एक तो चोरी ऊपर से सीना जोरी! अब आइये विस्तार से इनके झूठ-फ़रेब, बेईमानी, *मिस्कोटिंग* और *मिसरिप्रेज़ेण्टेशन* की पड़ताल करते हैं।

'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व का झूठ नंबर –1

"रूसी क्रान्ति के समय तक बोल्शेविक पार्टी पहले एकात्मक ढांचे की ही समर्थक थी, परन्तु क्रान्ति के बाद की घटनाओं में ज़मीनी हकीकतों को समझते बोल्शेविक पार्टी ने अपनी नीति बदल ली थी!"

सरासर झूठ! बोल्शेविक पार्टी पहले भी एकीकृत यूनियन और केन्द्रीयतावाद की समर्थक थी और अक्तूबर क्रान्ति के बाद भी उसकी अवस्थिति यही थी। जैसा कि हमने ऊपर बताया क्रान्ति के तुरन्त बाद ऐतिहासिक वस्तुगत परिस्थितियों के मद्देनज़र एक संक्रमणकालीन नीति के तौर पर बोल्शेविक पार्टी ने संघीय ढाँचे की नीति अपनायी थी ताकि दमित राष्ट्रों के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी का भरोसा जीता जा सके और यूनियन गठन की प्रक्रिया सभी राष्ट्रों की सहमति से हो जोकि निकट भविष्य में हुआ भी, जब 1922 में सोवियत यूनियन ने यूएसएसआर नाम अपना लिया।

लेकिन सम्पादक महोदय यह बताने की ज़हमत नहीं उठाते है कि सोवियत यूनियन ने अपने नाम में दिसम्बर 1922 में यूनियन शब्द क्यों जोड़ दिया? अगर वह 'फ़ेडरेशन' ही था, जैसा कि सम्पादक महोदय का दावा है तो उसने नाम में 'फ़ेडरेशन' क्यों नहीं रखा? सच्चाई यह है कि 1922 तक भी सोवियत यूनियन का चरित्र औपचारिक तौर पर संघीय ढाँचे वाले एक केन्द्रीकृत राज्य का ही था, जिसमें समय के साथ केन्द्रीयता का पहलू और बढ़ता गया, जोकि सर्वहारा-वर्गीय राजनीति के सर्वथा अनुकूल था। लेकिन 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व को इस बात से क्या लेना-देना है? ऐतिहासिक तथ्य और अनुभव जाएं भाड़ में!

जैसा कि हमने ऊपर भी इंगित किया था कि वास्तव में सोवियत यूनियन में एकीकरण की प्रक्रिया ही कई चरणों में घटित हुई।

सबसे पहले क्रान्ति के बाद सोवियत रूस व अन्य राष्ट्रीय गणराज्यों के बीच सन्धियों के ज़रिये मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों (treaty alliance) की स्थापना हुई। इसके बाद तमाम भूतपूर्व दमित राष्ट्रों में सोवियत समाजवादी गणराज्यों की स्थापना के साथ एक संघीय ढाँचे की व्यवस्था अमल में लायी गयी जोकि 1922 में एक एकीकृत यूनियन के निर्माण में परिणत हुई क्योंकि तब तक इसके लिए सभी क़ौमें रज़ामन्द हो चुकी थीं।

बोल्शेविक पार्टी जानती थी कि राष्ट्रीय दमन के लम्बे इतिहास के चलते क्रान्ति के बाद एक ही झटके में एकीकृत यूनियन का निर्माण सम्भव नहीं है और एक यथार्थवादी परिपक्व पार्टी के अनुरूप व्यवहार करते हुए उसने इतिहास द्वारा प्रदत्त जिन परिस्थितियों में ख़ुद को पाया उसमें अपने यूनियन के सकारात्मक प्रस्ताव को अमली जामा पहनाने की ओर बढ़ने की प्रक्रिया को तात्कालिक तौर पर स्थगित करते हुए पहले संघीय ढाँचे की

व्यवस्था में तमाम क़ौमों को शामिल करने की नीति अपनायी क्योंकि उस वक़्त ये तमाम क़ौमें इसी के लिए सहमत थी और इसी के लिए सहमत हो भी सकती थीं। लेकिन इस ऐतिहासिक अनिवार्यता को सैद्धान्तिक परिवर्तन के तौर पर पेश कोई पेटी-बुर्जुआ क़ौमवादी अवसरवादी ही कर सकता है। यह संघवाद के प्रश्न पर कोई सैद्धान्तिक परिवर्तन नहीं था, बल्कि दी गयी ऐतिहासिक परिस्थिति में संघीय ढांचे को पूर्ण यूनियन की ओर एक मध्यवर्ती क़दम के तौर पर अपनाना ही था। **अगर कोई यह नहीं समझता तो वह इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता है कि 1922 में सोवियत यूनियन की स्थापना के साथ बदला क्या?**

वैसे तो सामान्य-बोध वाले किसी भी व्यक्ति को यह इतनी सरल-सी बात इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाती कि 1922 आते-आते सोवियत यूनियन के नाम में ही 'यूनियन' शब्द आ गया था, और 'फेडरेटिव' या 'फ़ेडरेशन' शब्द हट चुका था! और इतना तो 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय भी मानेंगे कि बुर्जुआ राज्यसत्ता के बिल्कुल विपरीत सर्वहारा राज्यसत्ता को बात को घुमा-फिराकर नहीं बल्कि ज्यों का त्यों कहने की आदत होती है क्योंकि वह मेहनतकशों की लूट पर आधारित और बहुसंख्यक आबादी पर अल्पसंख्यकों का राज नहीं होता है। इसलिए उसे अपना राज क़ायम रखने के लिए किसी चाशनीयुक्त मुलम्मे की ज़रुरत नहीं होती है, जैसा कि प्रायः पूंजीवादी सरकारों को ज़रूरत पड़ती है क्योंकि उनके खाने के दाँत अलग और दिखाने के अलग होते हैं।

लेकिन संघवाद की बीन बजाने वाले मस्तिष्क को तो अपनी भक्त मण्डली के सामने क़ौमी सवाल पर अपनी इस "महान पश्चगामी छलांग" का वैधीकरण भी प्रस्तुत करना है! तो इससे अच्छा क्या हो कि सोवियत यूनियन को ही 'फ़ेडरेशन' बना दो! अगर सोवियत यूनियन 'फ़ेडरेशन' ही था तो नाम में भी 'फ़ेडरेशन' शब्द ही इस्तेमाल करता ना! नाम यूनियन रखा और नीति बदलकर 'फ़ेडरेशन' वाली हो गयी, यह गड़बड़झाला समझ में नहीं आता है! क्योंकि ऐसा कोई गड़बड़झाला इतिहास में नहीं सम्पादक महोदय के दिमाग़ में है!

1918 में 'मेहनतकश और शोषित जनता के अधिकारों की घोषणा' में कहा गया:

"1. Russia is hereby proclaimed a Republic of Soviets of Workers', Soldiers' and Peasants' Deputies. All power, centrally and locally, is vested in these Soviets.

"2. The Russian Soviet Republic is established on the principle of a free union of free nations, **as a federation of Soviet national republics.**"

1919 में बोल्शेविक पार्टी की आठवीं कांग्रेस में राष्ट्रीय प्रश्न के सम्बन्ध में निम्नलिखित कार्यक्रम अपनाया गया, जिसमें स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि सोवियत यूनियन के अन्तर्गत तमाम राष्ट्रों की मुक़म्मल एकता के लिए **एक संक्रमणकालीन अवधि के लिए संघीय ढाँचे की नीति को अपनाया जा रहा है ताकि दमित राष्ट्रों की सर्वहारा और अर्द्ध-सर्वहारा आबादी के साथ मिलकर भूस्वामी और बुर्जुआ वर्ग को उखाड़ फेंकने के लिए संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष संगठित किया जा सके** और दमित राष्ट्रों की सर्वहारा आबादी का विश्वास जीता जा सके जो कि सभी राष्ट्रों की बराबरी सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है।

"राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी निम्न प्रस्थापनाओं से निर्देशित होगी:

"1. हमारी नीति की धुरी है विभिन्न राष्ट्रीयताओं के सर्वहाराओं और अर्द्धसर्वहाराओं को लाना ताकि भूस्वामियों और बुर्जुआ वर्ग को एक संयुक्त क्रान्तिकारी संघर्ष के ज़रिये उखाड़ कर फेंका जा सके।

"2. दमित राष्ट्रों के मेहनतकश जनसमुदायों द्वारा उन राज्यों के सर्वहारा वर्गों के प्रति महसूस किये जाने वाले अविश्वास पर विजय पाने के लिए जो कि इन राष्ट्रों को दबाते थे, यह ज़रूरी है कि किसी भी राष्ट्रीय समूह को मिलने वाले विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया जाये, सभी राष्ट्रीयताओं के लिए अधिकारों की पूर्ण समानता स्थापित की जाये, और उपनिवेशों व निर्भर राष्ट्रों के लिए अलग होने के अधिकार को मान्यता दी जाये।

"3. **इसी लक्ष्य को निग़ाह में रखते हुए पार्टी पूर्ण एकता की ओर एक संक्रमणात्मक क़दम के तौर पर, सोवियत रूप के अनुसार राज्यों के संघ का प्रस्ताव रखती है।"** (राष्ट्रीय, प्रश्न सम्बन्धी कार्यक्रम, **बोल्शेविक पार्टी की आठवीं कांग्रेस,** 1919)

लेनिन इसी बात को जून 1920 में कोमिण्टर्न की दूसरी कांग्रेस में प्रस्तुत 'राष्ट्रीय और औपनिवेशिक प्रश्नों पर मसौदा थीसिस' में भी रेखांकित करते हैं-

"परिणामत: इस वक़्त कोई भी अपने को भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की श्रमिक जनता के बीच एकता की कोरी मान्यता या घोषणा तक ही सीमित नहीं रख सकता। एक ऐसी नीति का अनुसरण करना ज़रूरी है, जिससे सोवियत रूस के साथ राष्ट्रों और उपनिवेशों के सभी स्वतन्त्रता आन्दोलनों का घनिष्ठतम सहबन्ध सुलभ हो सके। प्रत्येक देश के सर्वहाराओं में कम्युनिस्ट आन्दोलन, पिछड़े हुए राष्ट्रों में अथवा पिछड़े हुए देशों में मज़दूरों और किसानों के बुर्जुआ जनवादी स्वतन्त्रता-आन्दोलन के विकास-स्तरों के अनुसार ही इस सहबन्ध के रूप निर्धारित किये जायेंगे।

"विभिन्न राष्ट्रों की श्रमिक जनता में पूर्ण एकता लाने के लिए फ़ेडरेशन एक संक्रमणकालीन व्यवस्था है। फ़ेडरेशन का औचित्य व्यावहारिक रूप में एक तो रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतन्त्र और अन्य सोवियत जनतन्त्रों के आपसी सम्बन्धों से प्रदर्शित हो चुका है (अतीत में हंगरी,

फ़िनलैण्ड और लात्विया के साथ और आजकल अज़रबैजान और यूक्रेन के साथ), और दूसरे, रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतन्त्र के अन्देर उन राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों में भी, जिनके पास पहले न तो राज्य की व्यवस्था थी और न स्वायत्त शासन ही (उदारहरणार्थ, बश्कीर और तातार स्वायत्त जनतन्त्र, जिनकी स्थापना रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी जनतन्त्र के अन्दर 1919 और 1920 में हुई)।

"इस सम्बन्ध में कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल का कार्य यह है कि वह इन नये फ़ेडरेशनों को, जो सोवियत पद्धति और सोवियत आन्दोलन के आधार पर पनप रहे हैं, विकसित करे, उनका अध्ययन करे और अनुभवों द्वारा उन्हें परखे। **यह मानने के साथ-साथ कि फ़ेडरेशन पूर्ण एकता का एक संक्रमणकालीन रूप है, यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक घनिष्ठ संघीय एकता के लिए प्रयत्न किया जाये** और इस बात को ध्यान में रखा जाये कि (1) सोवियत जनतन्त्र जो दुनिया भर की साम्राज्यवादी शक्तियों से–ये शक्तियाँ सैनिक दृष्टि से अत्यधिक सशक्त हैं–घिरे हुए हैं, बिना घनिष्ठतम सहबन्ध के जीवित नहीं रह सकते; (2) सोवियत जनतन्त्रों के बीच घनिष्ठ आर्थिक सहबन्ध की आवश्यकता है, क्योंकि बिना इसके साम्राज्यवाद द्वारा विनष्ट की गयी उत्पादक शक्तियों को पुन: जीवित करना और श्रमिक जनता के कल्यारण को सुनिश्चित करना असम्भव है; (3) एक सामान्य योजना के अनुसार तथा समस्त राष्ट्रों के सर्वहारा द्वारा नियन्त्रित एक विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था का निर्माण करने की प्रवृत्ति प्रकट हो गयी है। पूँजीवाद के अधीन यह प्रवृत्ति पहले से ही स्पष्ट हो चुकी है। अब निश्चय ही समाजवाद के अधीन इसका विकास करना और उसे पूर्णता तक ले जाना चाहिए।"

1918 का रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य का संविधान देखें इस विषय में क्या कहता है:

"11. The soviets of those regions which differentiate themselves by a special form of existence and national character may unite in autonomous regional unions, ruled by the local congress of the soviets and their executive organs.

"These autonomous regional unions participate in the Russian Socialist Federated Soviet Republic upon a Federal basis."

अभी सोवियत यूनियन अस्तित्व में नहीं आया था लेकिन रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य का यह संघीय ढाँचा भी कितना "संघीय" था यह इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि तमाम महत्वपूर्ण मसलों पर फ़ैसला लेने की ताक़त केन्द्रीय सत्ता के निकायों के पास थी। इस संघीयता का बुर्जुआ संघीयता से कोई रिश्ता नहीं था। देखें:

"49. *The All-Russian Congress and the All-Russian Central Executive Committee deal with the questions of state, such as:*

(a) Ratification and amendment of the Constitution of the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(b) General direction of the entire interior and foreign policy of the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(c) Establishing and changing boundaries, also ceding territory belonging to the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(d) Establishing boundaries for regional soviet unions belonging to the Russian Socialist Federated Soviet Republic, also settling disputes among them;

(e) Admission of new members to the Russian Socialist Federated Soviet Republic, and recognition of the secession of any parts of it;

(f) The general administrative division of the territory of the Russian Socialist Federated Soviet Republic and the approval of regional unions;

(g) Establishing and changing weights, measures, and money denominations in the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(h) Foreign relations, declaration of war, and ratification of peace treaties;

(i) Making loans, signing commercial treaties and financial agreements;

(j) Working out a basis and a general plan for the national economy and for its various branches in the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(k) Approval of the budget of the Russian Socialist Federated Soviet Republic;

(l) Levying taxes and establishing the duties of citizens to the state;

(m) Establishing the bases for the organization of armed forces;

(n) State legislation, judicial organization and procedure, civil and criminal legislation, etc.;

(o) Appointment and dismissal of the individual People's Commissars or the entire council, also approval of the president of the Council of People's Commissars;

(p) Granting and cancelling Russian citizenship and fixing rights of foreigners;

(q) The right to declare individual and general

amnesty.

"50. ***Besides the above-mentioned questions, the All-Russian Congress and the All-Russian Central Executive Committee have charge of all other affairs which, according to their decision, require their attention.***

"51. ***The following questions are solely under the jurisdiction of the All-Russian Congress:***

(a) ***Ratification and amendment of the fundamental principles of the Soviet Constitution;***

(b) Ratification of peace treaties."

आप देख सकते हैं कि 1918 के संविधान में, जो कि कहने के लिए उस दौर का संविधान है जिस वक़्त सोवियत रूस औपचारिक तौर पर एक संघ ही था और संघीय व्यवस्था की नीति का पालन कर रहा था, सभी महत्वपूर्ण नीतिगत मामलों में फैसला लेने की ताक़त अखिल-रूसी कांग्रेस और अखिल-रूसी कार्यकारिणी समिति के पास थी।

लेकिन इन तमाम ऐतिहासिक तथ्यों के बावजूद 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप का नेतृत्व सोवियत यूनियन के इतिहास के भयंकर विकृतिकरण पर आमादा है। 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक यह बताना कत्तई ज़रूरी नहीं समझते हैं कि सोवियत यूनियन के नाम में 1922 में तब्दीली क्यों हुई? अगर सोवियत सत्ता और बोल्शेविक पार्टी की 1918 से 1922 तक अपनायी गयी अपवादस्वरूप तात्कालिक नीति, जिसके तहत एक संक्रमणकालीन अवधि में औपचारिक तौर पर एक संघात्मक ढाँचे का रूप अस्तित्व में आया था (हालाँकि हमने 1918 के संविधान के हवाले से ऊपर देखा और आगे सन्दर्भ सहित फिर दिखलायेंगे कि *यह संघात्मक स्वरूप वास्तव में औपचारिक ही था और केन्द्रीयतावाद और एकीकृत यूनियन का पहलू ही सारतत्व में तब भी हावी था)*, में कोई बदलाव आया ही नहीं था तो सोवियत यूनियन का नाम रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (Russian Soviet Federative Socialist Republic; RSFSR) व अन्य संघीय राष्ट्रीय गणराज्यों से बदलकर 1922 में सोवियत समाजवादी गणराज्यों का यूनियन (Union of Soviet Socialist Republics; USSR) क्यों कर दिया गया था? **'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय इस मुद्दे पर साज़िशाना चुप्पी अख्तियार करते हैं।**

साथ ही, आप देख सकते हैं की 'प्रतिबद्ध' के लेख से ऊपर उद्धृत हिस्से में हमारे सम्पादक महोदय 1918 से सीधे 1936 में छलांग लगाते हैं। यह छलांग कोई ग़लती से नासमझी में लगाई गयी छलांग नहीं है बल्कि बहुत ही कपटपूर्ण तरीके से और सयानेपन से लगायी गयी छलांग है! 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेता महोदय बहुत ही "मासूमियत" भरे अंदाज़ में लिखते हुए इस "भोले-भाले" निष्कर्ष पर पहुँचते हैं:

"इस तरह समाजवादी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आया सोवियत यूनियन वास्तभव में अलग-अगल क़ौमी गणराज्यों का संघ था, न कि एकात्मक ढांचा था। सोवियत यूनियन का 1936 का संविधान इसी बात की पुष्टि करता है कि समाजवादी सोवियत एक संघीय ढांचे वाला मुल्क था।"

सोवियत इतिहास के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कालखण्ड को गोल करने की धूर्तता के पीछे असलियत में अपनी बुर्जुआ संघवादी अवस्थिति को सही ठहराना है। आइये इनके अगले झूठ का पर्दाफ़ाश करते हैं।

'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व का झूठ नंबर –2

"1936 के सोवियत संविधान की धारा 20 में दर्ज है कि अगर किसी मुद्दे पर केन्द्र और गणराज्यों की राय टकराती है तो गणराज्यों की मानी जायेगी!"

सरासर झूठ! यह है 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर का झूठ और लबारपन से भरा हुआ दावा और उन्होंने इस कुत्सित हरक़त के लिए सोवियत संविधान को आधार बनाया है। अब मैं आपको 1936 के संविधान से शब्दशः वह हिस्सा उद्धृत करके दिखलाती हूँ ताकि आप स्वयं देख सकें इन महोदय ने किस प्रकार झूठ और ग़लतबयानी की है। 1936 के संविधान की धारा 20 देखें क्या कहती है:

<u>ARTICLE 20. In the event of a discrepancy between a law of a Union Republic and an all-Union law, the all-Union law prevails.</u>

यानी 1936 के सोवियत संविधान की धारा 20 सम्पादक महोदय के दावे के एकदम इसके विपरीत बात करती है और 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक इस मसले पर सीधे-सीधे सफ़ेद झूठ बोल रहे हैं! क्या यह कोई मामूली त्रुटि है? नहीं! यह तो सोवियत संविधान जैसे अहम दस्तावेज़ के एक उद्धरण में ऐसा संशोधन और हेर-फेर है, जो कि इस उद्धरण का अर्थ ही बदल देता है! यह फ़रेब और बेईमानी सुखविन्दर क्यों कर रहे हैं? क्योंकि अब वह बुनियादी क्रान्तिकारी ईमानदारी खो चुके हैं और बहस में लाजवाब होने के बाद अपने आहत अहं को बचाने के लिए अपने मार्क्सवाद-विरोधी सिद्धान्तों को ज़बरन सही साबित करने का प्रयास कर रहे हैं।

जैसा कि आप देख सकते हैं, सुखविन्दर के झूठ के ठीक विपरीत, 1936 के सोवियत संविधान की धारा 20 कहती है कि यदि यूनियन और गणराज्यों के किसी क़ानून में टकराव होगा तो उस सूरत में यूनियन का क़ानून मान्य होगा। ऊपर देखें सम्पादक महोदय ने क्या कहा है–कि यदि ऐसा स्थिति पैदा होती है तो गणराज्यों की मानी जायेगी! यह इरादतन झूठ बोलना नहीं तो और क्या है? पाठक स्वयं देख लें कि किस प्रकार एक विजातीय लाइन को सही

साबित करने के लिए यह जनाब ऐतिहासिक दस्तावेज़ों के साथ छेड़छाड़ कर रहे हैं, इन दस्तावेज़ों में जो बात दर्ज है उसके एकदम उलटी बात प्रस्तुत कर रहे हैं और अब अपने कुतर्कों को साबित करने के लिए इरादतन झूठ बोलने और बईमानी करने पर उतर आये हैं।

1936 का सोवियत संविधान सोवियत समाजवादी गणराज्यों के यूनियन को महज़ औपचारिक तौर पर संघीय ढाँचे वाले राज्य के तौर पर व्याख्यायित करता है, जिसे आप अतीत से औपचारिक तौर पर चली आ रही एक निरन्तरता मात्र कह सकते हैं। इस यूनियन में निम्न गणराज्य शामिल थे:

रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य
उक्रेनी सोवियत समाजवादी गणराज्य
बायलोरूसी सोवियत समाजवादी गणराज्य
अज़रबैजानी सोवियत समाजवादी गणराज्य
जॉर्जियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य
अर्मेनियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य
तुर्कमेन सोवियत समाजवादी गणराज्य
उज़बेक सोवियत समाजवादी गणराज्य
ताजिक सोवियत सामाजवादी गणराज्य
कज़ाख़ सोवियत समाजवादी गणराज्य
किरगिज़ सोवियत समाजवादी गणराज्य
करेलो-फ़िनिश सोवियत समाजवादी गणराज्य
मोल्दावियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य
लिथुवानियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य
लात्वियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य
एस्तोनियाई सोवियत समाजवादी गणराज्य

सोवियत संविधान इन सभी गणराज्यों को अलग होने का अधिकार भी देता था, इसलिए नहीं कि सोवियत यूनियन एक 'फ़ेडरेशन' था, क्योंकि इसके लिए 'फ़ेडरेशन' होने की आवश्यकता नहीं है! बल्कि इसलिए क्योंकि यह राष्ट्रों की स्वेच्छा पर आधारित गणराज्यों का यूनियन था जो राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार को महज़ काग़ज़ी तौर पर नहीं मानता था बल्कि वास्तविकता में सच्चे अर्थों में इसपर अमल भी करता था। **लेकिन चूंकि सोवियत यूनियन एक यूनियन था इसलिए संविधान की धारा 14 बताती है कि:**

"धारा 14 -सोवियत समाजवादी गणराज्य यूनियन जिसका प्रतिनिधित्व सत्ता का उच्चतम अंग और राज्य प्रशासन के अंगों द्वारा किया जाता है, का अधिकारक्षेत्र निम्नलिखित हैं:

"(a) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में यूनियन का प्रतिनिधित्व और दूसरे देशों के साथ सन्धियों का अनुमोदन और समाप्ति;

"(b) युद्ध और शांति का मसला;

"(c) सोवियत यूनियन में नये गणराज्यों का प्रवेशाधिकार;

"(d) सोवियत यूनियन के संविधान के अनुसरण का पर्यवेक्षण करना और यह सुनिश्चित करना कि यूनियन गणराज्यों का संविधान सोवियत यूनियन के संविधान के अनुरूप हो;

"(e) यूनियन गणराज्यों के बीच सीमाओं के परिवर्तन का अनुमोदन;

"(f) नए क्षेत्रों और प्रदेशों का निर्माण और यूनियन गणराज्यों के अंदर ही नए स्वायत्त गणराज्यों की मान्यता देने का अधिकार;

"(g) सोवियत यूनियन के रक्षा विषय व सभी सशस्त्र बलों का निर्देशन;

"(h) राज्य एकाधिकार पर आधारित विदेश व्यापार;

"(i) राज्य की सुरक्षा का मसला;

"(j) सोवियत यूनियन की राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की योजना का निर्धारण;

"(k) सोवियत यूनियन का संयुक्त बजट व करों और शुल्कों, जिसके अनुसार यूनियन, गणराज्यों और स्थानीय बजट निर्धारित होता है, का अनुमोदन;

"(l) अखिल-यूनियन की महत्ता वाले सभी बैंकों, उद्योगों, कृषि संस्थानों और उद्यमों का प्रबन्धन;

"(m) यातायात व दूरसंचार माध्यमों का प्रबन्धन;

"(n) मौद्रिक व ऋण व्यवस्था का निर्देशन;

"(o) राज्य बीमा का व्यवस्थापन;

"(p) ऋण प्रदान व ग्रहण करना;

"(q) भूमि पट्टेदारी व खनिज पदार्थों, वनों और जल संसाधनों के उपयोग के मूल सिद्धान्त का निर्धारण;

"(r) शिक्षा व सार्वजानिक स्वास्थ्य के क्षेत्र में बुनियादी नियमों का निर्धारण;

"(s) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लेखा की एकसमान व्यवस्था का प्रबन्धन;

"(t) श्रम कानूनों के नियमों का निर्धारण;

"(u) न्यायिक प्रणाली व न्यायिक प्रक्रिया को संचालन करने वाला क़ानून निर्माण; फ़ौजदारी व दीवानी संहिताएँ ;

"(v) यूनियन की नागरिकता सम्बन्धी क़ानून;

विदेशी नागरिक के अधिकार सम्बन्धी क़ानून;

"(w) क्षमा प्रदान सम्बन्धी अखिल-यूनियन क़ानून;"

संविधान की धारा 15 गणराज्यों को उपरोक्त सभी मामलों को छोड़कर बचे हुए मसलों में अपना नियन्त्रण लागू करने का अधिकार देती थी। **लेकिन हम देख सकते हैं कि सभी महत्वपूर्ण मसलों पर फ़ैसले केन्द्रीय यूनियन द्वारा ही लिए जाते थे और उनके कार्यान्वयन का काम स्थानीय निकायों व सोवियतों को सुपुर्द किया गया था जो की लेनिनवादी क्षेत्रीय स्वायत्तता के उसूल के सर्वथा अनुकूल था।**

"ARTICLE 15. The sovereignty of the Union Republics is limited only within the ***provisions set forth in Article 14*** of the Constitution of the U.S.S.R. Outside of these provisions, each Union Republic exercises state authority independently.

The U.S.S.R. protects the sovereign rights of the Union Republics."

संविधान की धारा 16 गणराज्यों को संविधान रखने का अधिकार तो देती थी, लेकिन यह संविधान सोवियत यूनियन के संविधान के अनुरूप ही हो सकता था और उनका सोवियत केन्द्रीय संविधान से कोई अन्तरविरोध नहीं हो सकता था। यानी, ये शुद्धत: स्थानीय मसलों पर ही कुछ प्रावधान रख सकते थे और अन्य सभी प्रावधान सोवियत केन्द्रीय संविधान के अनुरूप ही हो सकते थे।

"ARTICLE 16. Each Union Republic has its own Constitution, which takes account of the specific features of the Republic and ***is drawn up in full conformity with the Constitution of the U.S.S.R."***

धारा 19 के अनुसार सोवियत यूनियन के सभी क़ानून गणराज्यों में समान रूप से मान्य होंगे और कोई गणराज्य इन क़ानूनों को रद्द या निलंबित नहीं कर सकता था।

"ARTICLE 19.**The laws of the U.S.S.R. have the same force within the territory of every Union Republic."**

जैसा कि हमने ऊपर भी बताया था यदि सोवियत यूनियन के क़ानून और गणराज्यों के क़ानून में कोई मतभेद या अन्तर्विरोध होगा, तो उस सूरत में यूनियन का क़ानून ही प्राथमिक और प्रभावी होगा। **यह धारा सोवियत संघ के विषय में सुखविन्दर के संघवादी सपने के बुलबुले को एकदम से फोड़ देती है:**

"ARTICLE 20.In the event of a discrepancy between a law of a Union Republic and an all-Union law, the all-Union law prevails."

पूरे सोवियत यूनियन की एक साझा नागरिकता होगी। इसके बारे में 1936 का संविधान कहता है:

"ARTICLE 21. A single Union citizenship is established for all citizens of the U.S.S.R. Every citizen of a Union Republic is a citizen of the U.S.S.R."

धारा 60 स्पष्ट तौर पर बताती है कि गणराज्यों की सर्वोच्च सोवियत **सोवियत यूनियन के संविधान की धारा 16 के अनुरूप ही** *अपने संविधान* को अंगीकार कर सकती है और उसमें संशोधन कर सकती है।

"ARTICLE 60. The Supreme Soviet of a Union Republic:

1. Adopts the Constitution of the Republic and amends it ***in conformity with Article 16 of the Constitution of the U.S.S.R."***

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट है कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व ने सोवियत यूनियन के संविधान के विषय में ज़बरदस्त झूठ बोले हैं और उसे बेहद बेईमानी के साथ उद्धृत किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने रही-सही क्रान्तिकारी नैतिकता को भी खो दिया है। और यह सब क्यों किया गया है? सिर्फ़ इसलिए कि अपनी मार्क्सवाद विरोधी संघवादी अवस्थिति को सही साबित कर सकें। लेकिन ऐसा करते हुए व्यक्ति उपहास का पात्र ही बनता है और राजनीतिक पतन की ओर कई क़दम और आगे बढ़ जाता है।

उपरोक्त उद्धरणों के ज़रिये पाठक समझ सकते हैं कि (1) सोवियत यूनियन एक फ़ेडरेशन नहीं बल्कि यूनियन था जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है और वास्तव में नाम में परिवर्तन किया ही इसी वजह से गया था कि अब सोवियत राज्य संघ के रूप में नहीं बल्कि एक यूनियन के रूप में संघटित था; (2) इस यूनियन का 'संघीय ढांचा' पूर्णत: औपचारिक व नॉमिनल रह गया था और वास्तव में संघीयता का कुछ भी नहीं बचा था, जैसा कि हमने ऊपर देखा; (3) 1922 से पहले भी सोवियत रूस की संघीयता मूलत: और मुख्यत: औपचारिक ही थी और उसमें केन्द्रीय यूनियन का चरित्र हावी हो चुका था; (4) 1922 में सोवियत यूनियन की स्थापना के साथ संघीय ढांचा पूर्णत: औपचारिक व नॉमिनल बनने लगा और पहले 1924 के संविधान में यह बात स्पष्ट तौर पर सामने आती है और फिर 1936 तक यह प्रक्रिया पूर्ण हो चुकी थी; और (5) संघ या वस्तुत: संघीय ढांचे के न होने के बावजूद सोवियत यूनियन इस केन्द्रीय राज्य को संघटित करने वाले सभी राष्ट्रीय समाजवादी गणराज्यों को सही मायने में अलग होने समेत राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का अधिकार देता था; **उल्टे संघीय ढांचा और संघवाद आम तौर पर इस अधिकार को औपचारिक बनाने का ही काम करते हैं और उसके लिए *प्लेसीबो* का काम करते हैं। जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित एक समाजवादी राज्य ही सही मायने में यह अधिकार दे सकता है।**

अब थोड़ा और विस्तार से देखते हैं कि सोवियत यूनियन कितना "संघीय" था।

आख़िर कितना "संघीय" था सोवियत यूनियन?

'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व के अनुसार संघीय ढाँचे का यह अर्थ होता है:

"संघीय ढांचे का अर्थ है कि अलग-अलग क़ौमें आपसी सहमति के साथ, बराबरी के आधार पर एक ढांचे में इकट्ठी होती हैं। केन्द्र में सभी क़ौमों का प्रतिनिधित्व होता है और कुछ चुनंदा मुद्दों पर फ़ैसला लेने का हक़ केन्द्र के पास होता है और बाक़ी ज़्यादातर मामलों में फ़ैसला लेने का हक़ क़ौमों के पास होता है। *जिन फ़ैसलों का अधिकार केन्द्र के पास होता है उस पर भी अन्तिम फ़ैसला क़ौमों के पास होता है, यानी केन्द्र के फ़ैसलों का मानना या न मानना उनके पास ही होता है।"*

पाठक 1936 के सोवियत संविधान पर उपरोक्त चर्चा की रोशनी में स्वयं देख लें कि सोवियत यूनियन कितना

"संघीय" था! प्रतिबद्ध के सम्पादक का मानना है कि संघीय ढांचे की ख़ासियत यह है कि केन्द्र के फ़ैसले को मानना या न मानना क़ौमों या गणराज्यों के ऊपर होता है। लेकिन हमने सोवियत संविधान के हवाले से देखा कि सोवियत यूनियन में तो ठीक इसका विपरीत हो रहा था।

'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व का यह वाहियात दावा महज़ अपढ़ता या अज्ञानता के कारण तो सम्भव नहीं है, स्पष्ट है कि नेता महोदय अब इरादतन बौद्धिक बईमानी पर उतर आये हैं। क्यों? ताकि अपनी ख़स्ताहाल बुर्जुआ क़ौमवादी-संघवादी लाइन का पक्ष-पोषण कर सकें।

नीचे हम स्तालिन के 1918 से 1923 तक के लेखन के ज़रिये यह दिखाएँगे कि सोवियत यूनियन वास्तव में एक एकीकृत यूनियन ही था और जिस दौर में औपचारिक तौर पर संघीय ढाँचे की नीति पर अमल किया जा रहा था, उस दौर में भी केन्द्रीयतावादी कारक व तत्व ही प्रधान थे।

चूँकि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने स्तालिन को एक आम बुर्जुआ संघवादी में तब्दील करने की नाक़ामयाब कोशिश की है, इसलिए इस मसले पर स्वयं स्तालिन के लेखन को ही देख लेना पर्याप्त है।

अप्रैल 1918 में 'रूसी संघात्मक गणराज्य के संगठन' नामक वक्तव्य में संघीय क्षेत्रों के अधिकारों के सीमित अधिकारों के विषय में स्तालिन कहते हैं कि तमाम सैन्य व नौसेना से सम्बन्धित मामले,विदेशी मसले, रेल यातायात, पोस्ट और टेलीग्राफ़, मुद्रा, वाणिज्यिक समझौते व आम आर्थिक, वित्तीय व बैंकिंग से जुड़े नीतिगत फ़ैसले केन्द्रीय तौर पर लिये जायेंगे। इन्हें छोड़कर बाक़ी सभी मसले व उपरोक्त मसलों पर ***केन्द्रीय फ़ैसलों के कार्यान्वयन का काम*** क्षेत्रीय अधिकार-क्षेत्र में आयेंगे:

"RIGHTS OF FEDERATING REGIONS. RIGHTS OF NATIONAL MINORITIES

"The rights of these federating regions will be definitely delimited in the process of constituting the Soviet Federation as a whole, but the general outline of these rights can be indicated already. Military and naval affairs, foreign affairs, railways, post and telegraph, currency, trade agreements and general economic, financial and banking policy will probably all come within the province of the central Council of People's Commissars. All other affairs, *and primarily the methods of implementation of general decrees, education, judicature, administration, etc.*, will come within the province of the regional Councils of People's Commissars. No compulsory "state" language—either in the judicature or in the educational system! Each region will select the language or languages which correspond to the composition of its population, and *there will be complete equality of languages both of the minorities and the majorities in all social and political institutions."*

आगे स्तालिन इसी वक्तव्य में संघवाद के प्रति आसक्ति की धज्जियाँ उड़ाते हुए तमाम बुर्जुआ संघीय गणतंत्रों की असलियत भी उजागर करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वक्तव्य 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक को ध्यान में रखते हुए स्तालिन ने दिया था क्योंकि संघवाद के प्रति ऐसी दीवानगी "मार्क्सवादियों" में हमने तो देखी नहीं कभी! यह भी बात यहां ग़ौर करने योग्य है कि स्तालिन का मानना है कि हर क़ौम के क्षेत्र में भी उस क़ौम की भाषा को कोई वरीयता हासिल नहीं होगी और उस क़ौम के क्षेत्र में रहने वाली सभी अल्पसंख्यक आबादियों की भाषाओं को बराबर मान्यता हासिल होगी। ग़ौरतलब है कि सुखविन्दर का यह मानना है कि पूरे भारत में कोई आधिकारिक भाषा नहीं होगी लेकिन हर कौमी गणराज्य के क्षेत्र में उस कौम की भाषा को आधिकारिक राज्य भाषा का ओहदा दिया जायेगा, जैसे कि भारत की कोई आधिकारिक राज्य भाषा नहीं होगी लेकिन पंजाब में पंजाबी को आधिकारिक भाषा का दर्जा मिलना चाहिए; उपरोक्त उद्धरण में आप देख सकते हैं कि स्तालिन इसके ठीक विपरीत मानते हैं। न तो केन्द्रीय स्तर पर कोई आधिकारिक भाषा होगी और न ही तमाम क़ौमों के गणराज्यों में कोई आधिकारिक भाषा होगी। दोनों ही स्तरों पर किसी भाषा को आधिकारिक राज्य भाषा नहीं माना जाएगा और हर भाषा का बराबरी का दर्जा होगा। **जाहिर है, सुखविन्दर की अवस्थिति एक पंजाबी क़ौमवादी की अवस्थिति है न कि मार्क्सवादी-लेनिनवादी अवस्थिति।**

बहरहाल, अमेरिका, कनाडा और स्विट्ज़रलैंड के उदाहरणों से स्तालिन बताते हैं कि ये तथाकथित संघवाद के आदर्श गणतन्त्र भी वास्तव में एकात्मक ढाँचे को ही प्रतिबिंबित करते हैं। पाठकों को याद दिला दें कि 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेता महोदय स्विट्ज़रलैंड को "क़ौमी शांति का स्वर्ग" मानते हैं! देखें स्तालिन क्या कहते हैं:

"TRANSITIONAL FUNCTION OF FEDERALISM

These, in my opinion, Comrade Stalin continued, are the general contours of the Russian Federation whose process of constitution we are now witnessing. **Many are inclined to regard the federal system as the most stable, and even as ideal, and America, Canada and Switzerland are often cited as examples. But this infatuation with federalism is not warranted by history.** In

the first place, **America and Switzerland are no longer federations:** they were federations in the 1860's, but **they have in fact become unitary states since the end of the last century, when all authority was transferred from the states or cantons to the central federal government. History has shown that federalism in America and Switzerland was only a transitional step from the independence of the states or cantons to their complete union.** Federalism proved quite expedient as a transitional step from independence to imperialist unitarism, but it became out of date and was discarded as soon as the conditions matured for the union of the states or cantons into a single integral state." (स्तालिन, **'रूसी संघात्मक गणराज्य के संगठन' पर वक्तव्य,** अप्रैल 1918)

एकीकृत यूनियन गठन की प्रक्रिया में संघीय ढाँचे की संक्रमणकालीन नीति को रेखांकित करते हुए स्तालिन बताते है कि

"SHAPING THE POLITICAL STRUCTURE OF THE RUSSIAN FEDERATION. FEDERALISM IN RUSSIA—A TRANSITIONAL STEP TO SOCIALIST UNITARISM

"In Russia, constitutional development is proceeding in a reverse way. **Compulsory tsarist unitarism is being replaced by voluntary federalism,** ***in order that, in the course of time, federalism may be replaced by an equally voluntary and fraternal union of the labouring masses of all the nations and races of Russia.*** As in America and Switzerland, Comrade Stalin concluded, ***federalism in Russia is destined to serve as a means of transition—transition to the socialist unitarism of the future."*** (Stalin, ORGANISATION OF A RUSSIAN FEDERAL REPUBLIC, April 3-4, 1918)

इसी दौर में एक अन्य स्थान पर संघीय ढाँचे की तात्कालिक संक्रमणकालीन नीति के बारे में स्तालिन लिखते हैं:

"The main objective of the Constitution of the Russian Socialist Federative Soviet Republic adapted to the present transitional period is to establish a dictatorship of the urban and rural proletariat and the poor peasantry, in the form of a strong all-Russian Soviet power, for the purpose of completely suppressing the bourgeoisie, abolishing the exploitation of man by man, and introducing socialism, under which there will be neither division into classes nor a state power." (GENERAL PROVISIONS OF THE CONSTITUTION OF THE RUSSIAN SOCIALIST FEDERATIVE SOVIET, Draft Approved by the Commission Appointed by the All-Russian C.E.C. for Drafting the Constitution of the Soviet Republic, April 25, 1918)

तातार-बश्कीर सोवियत गणराज्य की सोवियतों के गठन की कांग्रेस में स्तालिन अपने भाषण में सोवियत संघीय ढाँचे के प्रावधानों के विषय में बात रखते हुए कहते हैं कि जहां एक तरफ क्रान्ति के पश्चात फिनलैंड और यूक्रेन में सर्वहारा तत्वों ने भी स्वतन्त्रता के प्रति तत्परता दिखाई, वहीँ तातार, बश्कीर, जॉर्जिया,अर्मेनिया आदि क्षेत्रों में बुर्जुआ तत्वों की सक्रियता ही अधिक दिखलाई पड़ी थी जो कि बुर्जुआ अर्थों में स्वायत्तता चाहते थे जोकि सर्वहारा सत्ता कत्तई नहीं दे सकती थी क्योंकि इसका अर्थ इन इलाकों के मज़दूर वर्ग को वहाँ के पूँजीपति वर्ग के रहमोकरम पर रखने के समान होता। **स्तालिन यह भी स्पष्ट करते हैं कि सोवियत रूस में संघीय ढाँचे का मतलब वास्तव में क्षेत्रीय स्वायत्तता ही है जोकि क़ौमी पहचान पर आधारित राजनीतिक, सांस्कृतिक या शैक्षणिक स्वायत्तता नहीं बल्कि सोवियतों की व्यवस्था पर आधारित क्षेत्रीय स्वायत्तता है जिसका आधार वर्गीय पहचान है, नाकि राष्ट्रीय पहचान।** देखें स्तालिन क्या कहते है:

"The Third Congress of Soviets laid down general provisions of the Constitution of the Soviet Republic, and called upon the labouring elements of the peoples of Russia to say in what concrete political forms they would like to constitute themselves in their regions, and in what relations they would like to stand to the centre. Of all the regions, Finland and the Ukraine, I think, are the only ones that have declared themselves definitely. They have declared in favour of independence. And when the Council of People's Commissars became convinced that *not only the bourgeoisie, but also the proletarian elements of these countries were striving for independence,* these countries received what they demanded without any hindrance.

"As to the other regions, their labouring elements have proved to be rather inert in the matter of the national movement. But the greater

their inertia the greater was the activity displayed by the bourgeoisie. **Nearly everywhere, in all the regions, bourgeois autonomous groups were formed which set up "National Councils," split their regions into separate national curiae, with national regiments, national budgets, etc., and thus turned their countries into arenas of national conflict and chauvinism. These autonomous groups** (I am referring to the Tatar, Bashkir, Kirghiz, Georgian, Armenian and other "National Councils")**—all these "National Councils" were out for one thing only, namely, to secure autonomy so that the central government should not interfere in their affairs and not control them.** "Give us autonomy and we shall recognize the central Soviet power, but we cannot recognize the local Soviets and they must not interfere in our affairs; we shall organize ourselves as we wish and can, and shall treat our national workers and peasants as we please." **That is the sort of autonomy—essentially bourgeois in character—aimed at by the bourgeoisie who demand full power over "their" working people within the framework of autonomy.**

"It goes without saying that the *Soviet power cannot sanction autonomy of this kind.* To grant autonomy in order that all power within the autonomous unit may belong to the national bourgeoisie, who insist upon non-interference on the part of the Soviets, to surrender the Tatar, Bashkir, Georgian, Kirghiz, Armenian and other workers to the tender mercies of the Tatar, Georgian, Armenian and other bourgeois— that is something to which the Soviet power cannot consent.

"Autonomy is a form. The whole question is what class content is put into this form. The Soviet power is not at all opposed to autonomy. It is in favour of autonomy—but only such autonomy in which the entire power belongs to the workers and peasants, and in which the bourgeois of all nationalities are debarred not only from power, but even from participation in the election of government bodies.

"Such autonomy will be autonomy on a Soviet basis.

"There are two types of autonomy. One is purely nationalistic. It is built on the principle of extra-territoriality, on the basis of nationalism. The outcome of this type of autonomy is "National Councils," with national regiments around these councils, division of the population into national curiae, and the national strife which is bound to follow from this. That type of autonomy spells inevitable doom for the Soviets of Workers' and Peasants' Deputies. It is the type of autonomy which the bourgeois Rada was out for. In order to grow and develop, the Rada had naturally to wage war on the workers' and peasants' Soviets. That has also been the outcome of the existence of the Armenian, Georgian and Tatar National Councils in Transcaucasia. Gegechkori was right when he said to the Transcaucasian Soviets and the Commissariat: "Do you know that the Commissariat and the Soviets have become a fiction, since all power has actually passed into the hands of the National Councils, which possess their own national regiments?"

"That type of autonomy we reject in principle.

"We propose another type of autonomy, *autonomy for regions* where one or several nationalities predominate. No national curiae, no national barriers! Autonomy must be Soviet autonomy, based on Soviets. This means that the division of the population of the given region must be on class, not national lines. Class Soviets as the basis of autonomy, and autonomy as the form of expression of the will of these Soviets—such is the nature of the Soviet autonomy we propose." (SPEECHES DELIVERED AT A CONFERENCE ON THE CONVENING OF A CONSTITUENT CONGRESS OF SOVIETS OF THE TATAR-BASHKIR SOVIET REPUBLIC May 10-16, 1918)

बुर्जुआ संघवाद के मॉडल में "दो-चैम्बर" की व्यवस्था, जिसमें एक तरफ़ राष्ट्रीय संसद और दूसरी तरफ संघीय काउंसिलों की व्यवस्था होती है, को सिद्धान्तः ख़ारिज करते हुए स्तालिन कहते हैं की समाजवाद ऐसी व्यवस्था को सिरे से

नकारता है। इसके अलावा, स्तालिन यह भी बताते हैं कि मौजूदा संक्रमणकालीन दौर में तो एक मजबूर केंद्रीकृत अखिल-रूसी सत्ता की आवश्यकता और वांछनीयता कहीं ज़्यादा है जब दुश्मन यानी कि बुर्जुआ वर्ग और साम्राज्यवादी ताक़तें अभी मुक़म्मल तौर पर परास्त नहीं हुई हैं। एक ऐसे दौर में समानान्तर स्थानीय व क्षेत्रीय प्राधिकार स्थापित करने का मतलब है हर प्रकार के केन्द्रीय प्राधिकार और नियन्त्रण का विघटन और पूँजीवाद की बहाली को आमंत्रण देना; **ठीक इसी काम को 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप का नेतृत्व न सिर्फ वांछनीय बता रहा है बल्कि सैद्धान्तिक तौर पर इसके लिए ज़मीन भी तैयार कर रहा है! यह संशोधनवाद नहीं तो और क्या है?** देखें स्तालिन क्या कहते हैं:

"The bourgeois world has elaborated one definite form of relation between autonomous regions and the central authority. I am referring to the United States of America, Canada and Switzerland. In these countries the central authority consists of a national parliament of the whole country, elected by the entire population of the states (or cantons), and, parallel with this, a federal council, chosen by the governments of the states (or cantons). **The result is a two-chamber system, with its legislative red tape and the stifling of all revolutionary initiative.**

"We are opposed to such a constitution of authority in our country. We are opposed to it not only because socialism categorically repudiates such a two-chamber system, but also because of the practical exigencies of the period we are passing through. The fact is that in the present transitional period, when the bourgeoisie has been broken but not crushed, when the disruption of economic life and of the food supply, aggravated by the machinations of the bourgeoisie, has not yet been eliminated, and when the old, capitalist world has been shattered but the new, socialist world has not yet been completely built—at such a moment the country needs a strong all-Russian power capable of crushing the enemies of socialism completely and organizing a new, communist economy. In short, what we need is that which has come to be called the dictatorship of the urban and rural proletariat. **To set up sovereign local and regional authorities parallel with the central authority at such a moment would in fact result in the collapse of all authority and a reversion to capitalism. For this reason, all functions of importance to the whole country must be left in the hands of the central authority, and the regional authorities must be vested chiefly with administrative, political and cultural functions of *a purely regional nature.*** These are: education, justice, administration, essential political measures, forms and methods of application of the general decrees in adaptation to the national conditions and manner of life—and all this in the language native to and understood by the population. Hence the generally recognized type of regional union, headed by a regional Central Executive Committee, is the most expedient form of such autonomy.

"That is the type of autonomy the necessity of which, in the present transitional period, is dictated both by the interests of consolidating the dictatorship of the proletariat and by the common struggle of the proletarians of all the nations of Russia against bourgeois nationalism, that last bulwark of imperialism." (SPEECHES DELIVERED AT A CONFERENCE ON THE CONVENING OF A CONSTITUENT CONGRESS OF SOVIETS OF THE TATAR-BASHKIR SOVIET REPUBLIC May 10-16, 1918)

स्तालिन के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि सोवियत रूस में संघीय ढाँचे की संक्रमणशील व्यव्यस्था वास्तव में *क्षेत्रीय स्वायत्तता* की व्यवस्था थी, न कि बुर्जुआ संघवाद की व्यवस्था जिसका सबसे मुखर पैरोकार मौजूदा दौर में 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप बना हुआ है। इनके नेता महोदय सम्पादकीय में लिखते हैं:

"यहां पर संघीय ढांचे और क्षेत्रीय स्वायत्तता में फर्क़ समझना जरूरी है, क्योंकि अक्सर भारत में उपस्थित क़ौमों की क्षेत्रीय स्वायत्तता को ही संघीय ढांचा समझ लिया जाता है।… दूसरी तरफ क्षेत्रीय स्वांयत्तता में क़ौमों के पास सीमित हक़ होते हैं और केन्द्र द्वारा लिए गए फैंसले उन्हें मानने पड़ते हैं।"

भारत का तो पता नहीं लेकिन सोवियत यूनियन में क्षेत्रीय स्वायत्तता की ही व्यवस्था अमल में थी जिसमें केन्द्रीय फ़ैसलों को क्षेत्र-विशेष की विशिष्ट स्थितियों के अनुसार लागू किया जाता था। संघीय ढांचे का भी इस क्षेत्रीय स्वायत्तता से अधिक सोवियत यूनियन में कोई अर्थ नहीं था। वास्तव में, बुण्डवादियों और ऑस्ट्रो-मार्क्सवादियों से 1910 के दशक के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय

प्रश्न पर चली बहस से ही लेनिन और स्तालिन ने हमेशा क्षेत्रीय स्वायत्तता के सिद्धान्त का समर्थन किया था, जो कि बुण्डवादियों व ऑस्ट्रो-मार्क्सवादियों के राष्ट्रीय सांस्कृतिक स्वायत्तता के सिद्धान्त का खण्डन था। वास्तव में, क्षेत्रीय स्वायत्तता के साथ सुसंगत जनवाद-आधारित केन्द्रीयतावादी राज्यसत्ता ही एक बहुराष्ट्रीय देश में राज्यसत्ता के संघटन व ढांचे का लेनिनवादी सिद्धान्त है, जिसे स्तालिन ने कभी नहीं बदला। उपरोक्त उद्धरण से यह एकदम साफ़ है सोवियत यूनियन में भी नॉमिनल 'संघीय ढांचे' का केन्द्रीय निर्णयों के कार्यान्वयन में क्षेत्रीय स्वायत्तता से अधिक और कुछ मतलब नहीं था। लेकिन 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय इस विषय में मार्क्सवादी सिद्धान्त में "इज़ाफ़ा" करने के फेर में हैं! लेकिन इस प्रयास में वह निकृष्ट कोटि के क़ौमवाद के मलकुण्ड में नहा जाते हैं!

बहरहाल, 1922 में रूसी, ट्रांसकॉकेशियाई, उक्रेनी, बाइलोरूसी गणराज्यों को मिला कर एकीकृत सोवियत यूनियन की स्थापना होती है और औपचारिक तौर पर भी संघ और संघीय स्वरूप का औचित्य समाप्त हो जाता है। 19 दिसम्बर, 1922 को साधिकार प्राप्त प्रतिनिधियों के सम्मेलन में रूसी एसएफ़एसआर, ट्रांसकॉकेशियाई एसएफएसआर, उक्रेनी एसएसआर और बाइलोरूसी एसएसआर द्वारा सन्धि के ज़रिये सोवियत यूनियन की स्थापना होती है। 1924 में सोवियत यूनियन का पहला संविधान अस्तित्व में आता है, जो सोवियत यूनियन की स्थापना को क़ानूनी वैधीकरण देता है।

1922 में स्तालिन सोवियत समाजवादी गणराज्यों की यूनियन के गठन की घोषणा में एकीकृत यूनियन के महत्व और औचित्य प्रतिपादन को रेखांकित करते हुए लिखते हैं:

"…The restoration of the national economy has proved to be impossible while the republics continue to exist separately.

"On the other hand, the instability of the international situation and the danger of new attacks render inevitable the creation of a united front of the Soviet republics in face of the capitalist encirclement.

"Lastly, the very structure of Soviet power, which is international in its class nature, impels the toiling masses of the Soviet republics to unite into a single socialist family.

"All these circumstances imperatively demand the union of the Soviet republics into a single union state, capable of ensuring external security, internal economic progress and the unhampered national development of the peoples.

"The will of the peoples of the Soviet republics, who recently assembled at their Congresses of Soviets and unanimously resolved to form a "Union of Soviet Socialist Republics," is a reliable guarantee that **this Union is a voluntary association of peoples enjoying equal rights, that each republic is guaranteed the right of freely seceding from the Union,** that admission to the Union is open to all Socialist Soviet Republics, whether now existing or hereafter to arise, that the new union state will prove to be a worthy crown to the foundation for the peaceful co-existence and fraternal co-operation of the peoples that was laid in October 1917, and that it will serve as a sure bulwark against world capitalism and as a new and decisive step towards the union of the working people of all countries into a World Socialist Soviet Republic. **"Declaring all this before the whole world, and solemnly proclaiming the firmness of the foundations of Soviet power as expressed in the Constitutions of the Socialist Soviet Republics by whom we have been empowered, we, the delegates of these republics, acting in accordance with our mandates, have resolved to sign a treaty on the formation of a "Union of Soviet Socialist Republics."** (Stalin, **Appendix-1, Declaration on the Formation of Union of Soviet Socialist Republics,** The Formation of the Union of the Soviet Republics, ***Report Delivered at the First Congress of Soviets of the U.S.S.R. December 30, 1922***)

सोवियत यूनियन के अधिकार-क्षेत्र को परिभाषित करते हुए सोवियत समाजवादी गणराज्यों की यूनियन के गठन की सन्धि में स्पष्ट तौर पर एक एकीकृत यूनियन की तस्वीर सामने आती है। इसी के आधार पर 1924 का संविधान बना था।

अन्तरराष्ट्रीय सन्धियों के अनुसमर्थन, युद्ध व शान्ति की घोषणा, नए गणराज्यों को यूनियन में शामिल करने के अधिकार, घरेलू व विदेशी व्यापार की नीतियां तय करना, यूनियन के सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को लेकर सामान्य नियोजन तैयार करना, यातायात, पोस्ट और टेलीग्राफ़ की व्यवस्था को संचालित करना, यूनियन का एक एकीकृत बजट तैयार करना, मौद्रिक व क्रेडिट नीति तैयार करना, भूमि बंदोबस्त व भूमि कार्यावधि की नीति तैयार करना, न्यायपालिका की कार्यप्रणाली से जुड़ी नीतियाँ बनाना,

श्रम कानूनों को बनाना, शिक्षा की आम नीतियाँ तैयार करना, समान वज़न व माप की व्यवस्था तैयार करना इत्यादि सभी फ़ैसले एकीकृत यूनियन के अधिकार क्षेत्र में आते थे। 1936 का संविधान, जिसे सुखविन्दर जानबूझकर और इरादतन ग़लत उद्धृत करते हैं, वस्तुतः 1924 के संविधान पर ही आधारित था, जिसे हम ऊपर विस्तार से उद्धृत कर चुके हैं और सुखविन्दर के झूठ और बेईमानी को भी देख चुके हैं। देखें, 1922 की सोवियत यूनियन के गठन विषयक सन्धि में क्या लिखा था:

"The Russian Socialist Federative Soviet Republic (R.S.F.S.R.), the Ukrainian Socialist Soviet Republic (Ukr.S.S.R.), the Byelorussian Socialist Soviet Republic (B.S.S.R.) and the Transcaucasian Socialist Federative Soviet Republic (T.S.F.S.R.—Georgia, Azerbaijan and Armenia) conclude the present treaty of union providing for uniting into a single union state—"the Union of Soviet Socialist Republics"—on the following principles:

1. Within the jurisdiction of the Union of Soviet Socialist Republics, as represented by its supreme organs, are the following:

2. a) representation of the Union in foreign relations;

3. b) modification of the external boundaries of the Union;

4. c) conclusion of treaties providing for the admission of new republics into the Union;

5. d) declaration of war and conclusion of peace;

6. e) obtaining state loans abroad;

7. f) ratification of international treaties;

8. g) establishment of systems of foreign and home trade;

9. h) establishment of the principles and the general plan of the national economy of the Union as a whole and conclusion of concession agreements;

10. i) regulation of transport, posts and telegraphs;

11. j) establishment of the principles of organisation of the armed forces of the Union of Soviet Socialist Republics;

12. k) ratification of the single state budget of the Union of Soviet Socialist Republics, establishment of a monetary, currency and credit system and a system of All-Union, Republican and local taxes;

13. l) establishment of the general principles of land settlement and tenure as well as of the exploitation of mineral wealth, forests and waters throughout the territory of the Union;

14. m) enactment of All-Union legislation on resettlement;

15. n) establishment of the principles of court structure and court procedure, as well as civil and criminal legislation for the Union;

16. o) enactment of basic labour laws;

17. p) establishment of general principles of public education;

18. q) establishment of general measures for the protection of public health;

19. r) establishment of a system of weights and measures;

20. s) organisation of statistics for the whole Union;

21. t) enactment of fundamental laws relating to the rights of foreigners in respect to citizenship of the Union;

22. u) the right of general amnesty;

23. v) annulment of decisions violating the Treaty of Union on the part of Congresses of Soviets, Central Executive Committees and Councils of People's Commissars of the Union Republics." (Stalin, Appendix-2, TREATY ON THE FORMATION OF THE UNION OF SOVIET SOCIALIST REPUBLICS, The Formation of the Union of the Soviet Republics, **Report Delivered at the First Congress of Soviets of the U.S.S.R. December 30, 1922)**

यानी सभी अहम राजनीतिक व आर्थिक फैसले केन्द्री य सोवियत सत्ता द्वारा लिए जाने थे। **यूनियन के नॉमिनल 'संघीय ढांचे' का बचा क्या है? कुछ भी नहीं! दरअसल, कई पेटी-बुर्जुआ और बुर्जुआ अकादमीशियन सोवियत यूनियन की इस आधार पर आलोचना भी करते हैं! कहना होगा कि सुखविन्दर जैसे टुटपुंजिया क़ौमवादियों की ज़्यादा क़रीबी इन पेटी-बुर्जुआ व बुर्जुआ मार्क्सवाद-विरोधी अकादमीशियनों के साथ बनती है।**

सोवियत यूनियन में सत्ता का सर्वोच्च निकाय सोवियत

यूनियन की सोवियतों की कांग्रेस थी:

"2. The supreme organ of power in the Union of Soviet Socialist Republics is the Congress of Soviets of the Union of Soviet Socialist Republics and, in the intervals between congresses, the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics." (ibid)

यूनियन के सर्वोच्च न्यायलय को सभी न्यायिक मामलों में सर्वोच्च अधिकार व नियन्त्रण प्राप्त थे:

"12. In order to uphold revolutionary law within the territory of the Union of Soviet Socialist Republics and to unite the efforts of the Union Republics in combating counter-revolution, a Supreme Court is set up under the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics with the functions of supreme judicial control, and under the Council of People's Commissars of the Union a joint organ of State Political Administration is set up, the Chairman of which is a member of the Council of People's Commissars of the Union with voice but no vote." (ibid)

ग़ौरतलब है कि सोवियत यूनियन की जन कमिसारों की काउंसिल के सभी हुक्मनामे और फ़ैसले सभी गणराज्यों के लिए बाध्यताकारी थे:

"13. The decrees and decisions of the Council of People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics are binding on all the Union Republics and have immediate effect throughout the territory of the Union." *(ibid)*

यूनियन के गणराज्यों की केन्द्रीय कार्यकारिणी समितियाँ जन कमिसारों के हुक्मनामों और फ़ैसलों के ख़िलाफ़, *बिना इन फ़ैसलों के कार्यान्वयन को स्थगित किये,* सोवियत यूनियन की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की प्रेसिडियम के सामने अपील कर सकती थी और इन मसलों पर भी अंतिम फैसला लेने का अधिकार यूनियन के निकायों के पास ही था:

"15. The Central Executive Committees of the Union Republics may appeal against the decrees and decisions of the Council of People's Commissars of the Union to the Presidium of the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics, ***without, however, suspending their operation.***

"16. Decisions and orders of the Council of People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics may be annulled only by the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics and its Presidium; orders of the various People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics may be annulled by the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics, by its Presidium, or by the Council of People's Commissars of the Union.

"17. Orders of the People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics may be suspended by the Central Executive Committees, or by the Presidiums of the Central Executive Committees of the Union Republics, only in exceptional cases, if the said orders are obviously at variance with the decisions of the Council of People's Commissars or the Central Executive Committee of the Union of Soviet Socialist Republics. When suspending an order, the Central Executive Committee, or the Presidium of the Central Executive Committee, of the Union Republic concerned shall immediately notify the Council of People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics and the competent People's Commissar of the Union of Soviet Socialist Republics." *(ibid)*

यूनियन की जन कमिसारों के निर्देशों द्वारा सभी गणराज्यों की कमिसारों की गतिविधियाँ संचालित होती थीं। **साथ ही, सभी गणराज्यों के बजट केन्द्रीय तौर पर तय होते थे:**

"19. The Supreme Council of National Economy and the People's Commissariats of Food, Finance, Labour and the Workers' and Peasants' Inspection of each of the Union Republics, while being directly subordinate to the Central Executive Committees and the Councils of People's Commissars of the respective Union Republics, are guided in their activities by the orders of the corresponding People's Commissars of the Union of Soviet Socialist Republics.

"20. Each of the republics constituting the Union has its own budget, as an integral part of the general budget of the Union endorsed by the Central

Executive Committee of the Union. The budgets of the republics, both revenue and expenditure sides, are fixed by the Central Executive Committee of the Union. The items of revenue, and the size of allocations from revenue which go to make up the budgets of the Union Republics, are determined by the Central Executive Committee of the Union." *(ibid)*

इसके अलावा सभी नागरिकों के पास एक साझा यूनियन की नागरिकता थी:

"21. A common Union citizenship is established for all citizens of the Union Republics.

"22. The Union of Soviet Socialist Republics has its flag, arms and state seal.

"23. The capital of the Union of Soviet Socialist Republics is the City of Moscow.

"24. **The Union Republics will amend their Constitutions in conformity with the present treaty.**

"25. Ratification, alteration and supplementation of the Treaty of Union is within the exclusive jurisdiction of the Congress of Soviets of the Union of Soviet Socialist Republics.

"26. Every Union Republic retains the right freely to secede from the Union." *(ibid)*

1923 में बोल्शेविक पार्टी की बारहवीं कांग्रेस में एक साल पहले पार्टी के भीतर जॉर्जियाई राष्ट्रीय भटकाव पर चली बहस को समेटते हुए स्तालिन गणराज्यों के संघ से एक एकीकृत यूनियन तक की प्रक्रिया को रेखांकित करते हुए कहते हैं:

"Lastly, about Mdivani. May I be permitted to say a few words about this question, which has bored the whole congress. He talked about the Central Committee's vacillations. He said that one day it decides to unite the economic efforts of the three Transcaucasian republics, the next day it decides that these republics should unite in a federation, and the day after that it takes a third decision that all the Soviet republics should unite in a Union of Republics. That is what he calls the Central Committee's vacillations. Is that right? No, comrades, that is not vacillation, it is system. The independent republics first drew together on an economic basis. That step was taken as far back as 1921. After it was found that the experiment of drawing together the republics was producing good results the next step was taken—federation, particularly in a place like Transcaucasia, where it is impossible to dispense with a special organ of national peace. As you know, Transcaucasia is a country where there were Tatar-Armenian massacres while still under the tsar, and war under the Mussavatists, Dashnaks and Mensheviks. To put a stop to that strife an organ of national peace was needed, i.e., a supreme authority whose word would carry weight. It was absolutely impossible to create such an organ of national peace without the participation of representatives of the Georgian nation. **And so, several months after the economic efforts were united, the next step was taken—a federation of republics, and a year after that yet another step was taken, marking the final stages in the process of uniting the republics—a Union of Republics was formed.** Where is there vacillation in that? It is the system of our national policy. Mdivani has simply failed to grasp the essence of our Soviet policy, although he regards himself as an old Bolshevik." (**The Twelfth Congress of R.C.P (B)**, 1923)

और देखें स्तालिन क्या लिखते हैं:

"The basis of this Union is the voluntary consent and the juridical equality of the members of the Union. Voluntary consent and equality—because our national programme starts out from the clause on the right of nations to exist as independent states, what was formerly called the right to self-determination. Proceeding from this, we must definitely say that no union of peoples into a single state can be durable unless it is based on absolutely voluntary consent, unless the peoples themselves wish to unite. The second basis is the juridical equality of the peoples which form the Union. That is natural. I am not speaking of actual equality—I shall come to that later—for the establishment of actual equality between nations which have forged ahead and backward nations is a very complicated, very difficult, matter that must take a number of years. I am speaking now about juridical equality. This equality finds expression in the fact that

all the republics, in this case the four republics: Transcaucasia, Byelorussia, the Ukraine and the R.S.F.S.R., forming the Union, enjoy the benefits of the Union to an equal degree and at the same time to an equal degree forgo certain of their independent rights in favour of the Union. If the R.S.F.S.R., the Ukraine, Byelorussia and the Transcaucasian Republic are not each to have its own People's Commissariat of Foreign Affairs, **it is obvious that the abolition of these Commissariats and the establishment of a common Commissariat of Foreign Affairs for the Union of Republics will entail a certain restriction of the independence which these republics formerly enjoyed, and this restriction will be equal for all the republics forming the Union. Obviously, if these republics formerly had their own People's Commissariats of Foreign Trade, and these Commissariats are now abolished both in the R.S.F.S.R. and in the other republics in order to make way for a common Commissariat of Foreign Trade for the Union of Republics, this too will involve a certain restriction of the independence formerly enjoyed in full measure, but now curtailed in favour of the common Union, and so on, and so forth.** Some people ask a purely scholastic question, namely: do the republics remain independent after uniting? That is a scholastic question. **Their independence is restricted, for every union involves a certain restriction of the former rights of the parties to the union. But the basic elements of independence of each of these republics certainly remain, if only because every republic retains the right to secede from the Union at its own discretion.**

"Thus, the concrete form the national question has assumed under the conditions at present prevailing in our country is how to achieve the co-operation of the peoples in economic, foreign and military affairs. **We must unite the republics along these lines into a single union called the U.S.S.R. Such are the concrete forms the national question has assumed at the present time."** *(ibid)*

उपरोक्त चर्चा में हम स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि 1922 के बाद सोवियत यूनियन एक एकीकृत व केन्द्रीकृत व्यवस्था वाली यूनियन था, जिसमें सभी महत्वपूर्ण मसलों पर यूनियन की केन्द्रीय सत्ता के निकाय ही फ़ैसले लेते थे। संघीय ढांचा भी केवल नाममात्र का ही था और वास्तव में एक केन्द्रीकृत यूनियन का ढांचा प्रभावी था **क्योंकि किसी भी महत्वपूर्ण राजनीतिक और आर्थिक मसले पर, संवैधानिक या वैधिक मसले पर गणराज्यों का निर्णय केन्द्रीय राज्यसत्ता के मातहत था, 1924 में भी और 1936 में भी और उसके बाद 1953 तक भी। गणराज्यों के पास केवल इन निर्णयों के कार्यान्वयन सम्बन्धी अधिकार थे। इससे ज़्यादा किसी चीज़ की ज़रूरत भी नहीं थी।**

पाठक स्वयं देख लें कि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक का यह दावा कि "कुछ चुनिन्दा मुद्दों पर फ़ैसला लेने का हक़ केन्द्र के पास होता है और बाकी ज़्यादातर मामलों में फ़ैसला लेने का हक़ क़ौमों के पास होता है। जिन फ़ैसलों का अधिकार केन्द्र के पास होता है उस पर भी अन्तिम फ़ैसला कौमों के पास होता है, यानी केन्द्र के फ़ैसलों का मानना या न मानना उनके पास ही होता है" सोवियत यूनियन पर कितना लागू होता है? सोवियत यूनियन का इतिहास, बोल्शेविक पार्टी का व्यवहार और मार्क्सवादी-लेनिनवादी सिद्धान्त तो एक अलग ही कहानी बयान कर रहे हैं। पहले हम इस प्रकार की असंगति को इन महोदय की मूर्खता मात्र का परिणाम मानते थे। अभी भी इनकी मूर्खता को लेकर हमें कोई सन्देह नहीं है, लेकिन अब इसमें बेईमानी, कपट, फ़रेब की आदतों को जोड़ना आवश्यक है। यह व्यक्ति अपनी संघवादी-संशोधनवादी कार्यदिशा को सही साबित कर अपने अहं की तुष्टि हेतु अब इतिहास और सिद्धान्त दोनों के ही क्षेत्र में मूर्खता के साथ-साथ इरादतन विकृतिकरण, बेईमानी और झूठ का सहारा ले रहा है। इसमें अब कोई सन्देह नहीं बचा है।

इतिहास और सिद्धान्त के प्रति निपट अज्ञानता के कारण ही हमने 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व को अपढ़ "मार्क्सवादी" कहा था!

इस बार भी 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के सरगना ने मार्क्सवादी सिद्धान्त और इतिहास की समझदारी के प्रति अपनी घोर अज्ञानता प्रदर्शित की है। 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय लिखते हैं:

"क़ौमी समस्या का अन्तिम समाधान यह है कि दबी-कुचली क़ौमों को आत्म निर्णय, मतलब अपना अलग क़ौमी राज बनाने का अधिकार मिले। इस दिशा में फ़ौरी क़दम यह है कि राज्यों की स्वायत्तता के ऊपर हमला बंद होना चाहिए और इस हमले का विरोध होना चाहिए। *इसका दूरगामी हल यह है कि भारत में आज़ाद क़ौमें, जिनको आत्म-निर्णय का अधिकार मिल चुका हो को लेकर संघीय ढांचा का निर्माण किया जाना चाहिए।"* (ज़ोर हमारा)

सबसे पहली बात तो यह कि राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के सिद्धान्त पर अमल करते हुए यदि विभिन्न राष्ट्र आपसी सहमति से साथ आने को राज़ी होते हैं तो कम्युनिस्ट सकारात्मक तौर पर संघीय ढाँचे के हिमायती नहीं होते हैं और न ही ऐसा कोई प्रस्ताव ही रखते हैं। कम्युनिस्ट सुसंगत जनवाद पर आधारित अधिकतम सम्भव जनवादी केन्द्रीयता पर आधारित एकीकृत यूनियन के पक्षधर होते हैं और उसी का प्रस्ताव भी रखते हैं। वस्तुगत स्थितियों के दबाव में यदि तात्कालिक तौर पर संघ या संघीय संरचना अपनानी पड़े तो भी कम्युनिस्टों के लिए वह पूर्ण यूनियन की ओर एक मध्यवर्ती क़दम से ज़्यादा नहीं होता है। देखें स्तालिन अगस्त 1917 में क्या लिखते हैं:

"We are by no means opposed to uniting nations to form a single integral state. We are by no means in favour of the division of big states into small states. For it is self-evident that the union of small states into big states is one of the conditions facilitating the establishment of socialism.

"But we absolutely insist that union must be voluntary, for only such union is genuine and lasting.

"But that requires, in the first place, full and unqualified recognition of the right of the peoples of Russia to self-determination, including the right to secede from Russia.

"It requires, further, that this verbal recognition should be backed by deeds, that the peoples should be permitted right away to determine their territories and the forms of their political structure in their constituent assemblies.

"Only such a policy can promote confidence and friendship among the peoples. Only such a policy can pave the way to a genuine union of the peoples." (Stalin, COUNTER-REVOLUTION AND THE PEOPLES OF RUSSIA, August, 1917)

यानी कम्युनिस्टों का सकारात्मक प्रस्ताव सुसंगत जनवाद पर आधारित केन्द्रीय यूनियन का ही होता है। जब समाजवाद के अन्तर्गत क़ौमों के दमन की वस्तुगत ज़मीन समाप्त होने के साथ कालान्तर में तमाम क़ौमों के बीच का अविश्वास समाप्त होगा, सर्वहारा वर्ग की राष्ट्रपारीय वर्गीय एकता सुदृढ़ होगी और तमाम क़ौमें आपसी सहमति से एक साथ रहने को राज़ी होंगी तो वे केन्द्रीकृत-एकीकृत यूनियन के बजाय संघीय ढाँचे का स्वरूप क्यों चुनेंगी? क्या 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक को लगता है कि समाजवाद के अन्तर्गत केन्द्रीकृत-एकीकृत यूनियन क़ौमों के दमन का औज़ार है? यह उन्हें स्पष्ट करना चाहिए और अगर उनका ऐसा ही मानना है तो उन्हें फिर लेनिन, स्तालिन और सोवियत यूनियन में समाजवादी प्रयोग की आलोचना लिखनी चाहिए।

अब चलिए सम्पादक महोदय के इस उपरोक्त दावे के मद्देनज़र सोवियत यूनियन में संघवाद/ संघीय ढाँचे होने या नहीं होने की स्थिति का जायज़ा ले लेते है और यह भी देख लेते हैं कि कितनी धूर्तता और हाथ की सफ़ाई से यह महोदय सोवियत यूनियन के इतिहास के साथ दुराचार करते हैं।

अगर राष्ट्रीय प्रश्न की नज़र से देखें तो 1917 की रूसी अक्तूबर क्रान्ति एक ऐसे देश में सम्पन्न हुई थी जिसे "राष्ट्रों की जेल" कहा जाता था और ज़ारकालीन रूस में क़ौमी दमन अपने नग्नतम रूप में अस्तित्वमान था। 'महान रूसी' क़ौमवाद और कट्टरपन्थ लगातार अन्य राष्ट्रों और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को अपने बूटों तले रौंद रहा था और ज़ारशाही की राजकीय नीतियाँ इसी ओर संचालित थी। क्रान्ति के समय तमाम दमित राष्ट्र और राष्ट्रीयताएं इसी शर्त पर साथ आये थे कि क्रान्ति के बाद उन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार मिलेगा जोकि उन्हें मिला भी। बल्कि यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि सोवियत रूस में उन्हें यह अधिकार सच्चे अर्थों में प्राप्त हुआ, खोखले बुर्जुआ अर्थों में नहीं। इसके साथ ही क्रान्ति के बाद सोवियत समाजवादी रूस के अस्तित्व में आने के साथ 1918 में आरएसएफ़एसआर (रूसी समाजवादी संघात्मक सोवियत गणराज्य) का गठन होता है जिसमें सोवियत रूस के अलावा कई स्वायत्त इकाइयाँ शामिल थीं और कई अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रीय गणराज्य भी अस्तित्व में आये। ये तमाम स्वतन्त्र गणराज्य आरएसएफ़एसआर के साथ कई सन्धियों के ज़रिये मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध (alliance) में शामिल थे। इसके अलावा जो एक अन्य तथ्य हमारी चर्चा के लिए महत्वपूर्ण है वह यह है कि इस दौर में जो राष्ट्रीय गणराज्य अस्तित्व में आये उनमें से अधिकतर में पहले बुर्जुआ वर्ग के नेतृत्व में बुर्जुआ जनवादी गणराज्यों की स्थापना ही हुई थी और कुछेक में सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जनता के जनवादी गणराज्यों की स्थापना हुई थी। इस पूरे ऐतिहासिक कालखंड को आप हमारे इस लेख में पढ़ सकते हैं-

http://ahwanmag.com/archives/7594

हमने उपरोक्त लेख में स्पष्ट तौर पर बताया था कि

"रूसी साम्राज्य की हरेक दमित क़ौम में अक्टूबर क्रान्ति के साथ क़ौमी आज़ादी का सवाल हल हुआ और वहाँ किसी न किसी क़िस्म के जनवादी गणराज्य (जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य) अस्तित्व में आए, न कि वहाँ पर समाजवादी क्रान्ति के साथ समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आए। इन तमाम दमित क़ौमों में समाजवादी गणराज्यों की स्थापना क़ौमी आज़ादी की मंज़िल पूरी होने के बाद 1919-20 से लेकर 1940 तक होती रही और वे अलग-अलग समय पर

सोवियत संघ में शामिल हुए।

…

"रूसी क्रान्ति में भी दमित क़ौमों में जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ राष्ट्रीय गणराज्य ही पहले अस्तित्व में आये थे। जिन दमित क़ौमों के देशों में पूँजीवादी सम्बन्धों का विकास हो गया था, वहाँ भी पहले जनता के जनवादी गणराज्य या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य ही अस्तित्व में आये थे। इन देशों में समाजवादी गणराज्य बाद में स्थापित हुए। पहले वे जनता के जनवादी या बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के एक दौर से गुज़रे। वे समाजवादी रूस के साथ पहले संघ में और बाद में यूनियन में शामिल हुए थे।…

"अक्टूबर 1917 में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद सोवियत रूस अस्तित्व में आया और उसने अब तक मौजूद रहे ज़ारवादी रूसी साम्राज्य की सभी दमित क़ौमों को आत्मनिर्णय का अधिकार दिया। **जब इन दमित क़ौमों को यह अधिकार मिला तो क़ौमी सवाल हल हो गया और वहाँ पर समाजवादी शक्तियों या बुर्जुआ राष्ट्रवादी शक्तियों के नेतृत्व में या तो जनता के जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आये या फिर बुर्जुआ जनवादी गणराज्य अस्तित्व में आये।**

"इनमें से कुछ देशों में समाजवादी क्रान्ति के लिए भी बोल्शेविकों ने संघर्ष शुरू कर दिया और कुछ देशों में समाजवादी गणराज्य भी अस्तित्व में आ गये। इसमें 1918 से 1921 तक जारी गृहयुद्ध की भी एक भूमिका थी। इसके बाद, 1919 से लेकर मुख्य रूप से 1924 तक तमाम ऐसे देश जहाँ समाजवादी गणराज्य अस्तित्व में आ चुके थे, वे सोवियत रूस के साथ पहले संघ और फिर संघीय यूनियन में शामिल होते रहे। इसी प्रक्रिया में सोवियत संघ अस्तित्व में आया। कुछ देश तो 1940 तक सोवियत संघ में शामिल हुए।

…

"अक्टूबर क्रान्ति के बाद सोवियत सरकार ने सभी दमित क़ौमों के आत्मनिर्णय के अधिकार को बिना शर्त स्वीकार किया। इसके तत्काल अमल के लिए राष्ट्रीयताओं की जनकमिसारियत (नार्कोमनाट्स) का गठन किया गया जिसके कमिसार ख़ुद स्तालिन थे। आरम्भ में ही **पोलैण्ड** के और फ़िनलैण्ड के राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार किया गया। आगे हम अलग-अलग दमित क़ौमों के लिए रूस में हुई समाजवादी क्रान्ति के ज़रिये क़ौमी सवाल के हल होने और जनवादी गणराज्यों के अस्तित्व में आने पर संक्षिप्त निग़ाह डालते हैं, जिससे कि ट्रॉट-बुण्डवादियों के दिमाग़ में फैली धुन्ध कुछ साफ़ हो सके।" (अभिनव, **अक्टूबर क्रान्ति और रूसी साम्राज्यय की दमित क़ौमों की मुक्ति के विषय में ट्रॉट-बुण्ड वादियों के विचार: अपढ़पन का एक और नमूना)**

यह वह दौर भी था जब सोवियत रूस में गृहयुद्ध जारी था और श्वेत सेनाएं कई राष्ट्रीय गणराज्यों में बुर्जुआ सत्ताओं के साथ मिलकर क्रान्ति और सर्वहारा सत्ता को कुचलने का प्रयास कर रही थी। इसी सन्दर्भ में स्तालिन ने कहा था कि आत्मनिर्णय का अधिकार कोई निरपेक्ष सिद्धान्त नहीं है और जहाँ यह सोवियत सत्ता के अस्तित्व पर चोट करेगा वहाँ ऐसी प्रतिक्रियावादी ताक़तों को बेरहमी से कुचला जायेगा। यह राष्ट्रीय दमन की नीति नहीं है, बल्कि सोवियत समाजवादी सत्ता की आत्मरक्षा का प्रश्न है। देखें मज़दूरों, सैनिकों, किसान प्रतिनिधियों की सोवियतों की तीसरी अखिल-रूसी कांग्रेस में दिए भाषण में स्तालिन क्या कहते हैं:

"The Soviet Government alone publicly proclaimed the right of all nations to self-determination, including complete secession from Russia. The new government proved to be more radical in this respect than even the national groups within some of the nations.

"Nevertheless, a series of conflicts arose between the Council of People's Commissars and the border regions. They arose, however, not over issues of a national character, but over the question of power. The speaker cited a number of examples of how the bourgeois nationalist governments, hastily formed in the border regions and composed of representatives of the upper sections of the propertied classes, endeavoured, under the guise of settling their national problems, to carry on a definite struggle against the Soviet and other revolutionary organizations. All these conflicts between the border regions and the central Soviet Government were rooted in the question of power. And if the bourgeois elements of this or that region sought to lend a national colouring to these conflicts, it was only because it was advantageous to them to do so, since it was convenient for them to conceal behind a national cloak the fight against the power of the labouring masses within their region.

"As an illustration, the speaker dwelt in detail on the Rada, convincingly showing how the principle of selfdetermination was being exploited by the bourgeois chauvinist elements in the Ukraine in their imperialist class interests.

"All this pointed to the necessity of interpreting the principle of self-determination as the right to self-determination not of the bourgeoisie, but of the labouring masses of the given nation. The principle of self-determination

should be a means in the struggle for socialism and should be subordinated to the principles of socialism." (Stalin, SPEECH DELIVERED AT THE THIRD ALL-RUSSIAN CONGRESS OF SOVIETS OF WORKERS', SOLDIERS' AND PEASANTS' DEPUTIES January 10-18, 1918)

इन तमाम राष्ट्रीय गणराज्यों में पहले से चल रहे संघर्ष में गृहयुद्ध के रूप में उपस्थित हुए आकस्मिक कारक के पूरे घटनाक्रम ने स्थानीय बोल्शेविकों की ओर वर्ग शक्तियों का पलड़ा झुका दिया। एक तरफ़ तो किसानों व आम मेहनतकश जनसमुदायों की बड़ी आबादी इन भूतपूर्व दमित राष्ट्रों में बोल्शेविकों के साथ आ खड़ी हुई क्योंकि बोल्शेविक ही इन राष्ट्रों में भी तमाम जनविरोधी ताक़तों के ख़िलाफ़ खुलकर लड़ रहे थे, जिन ताक़तों के साथ मिलकर श्वेत सेनायें इन जगहों पर क़त्लेआम मचा रही थीं। साथ ही सोवियत सत्ता के विरुद्ध राष्ट्रीय गणराज्यों में बुर्जुआ शक्तियों की प्रतिक्रियावादी ताक़तों (श्वेत सेना और साम्राज्यवादी ताक़तें) से संश्रय के कारण इन तमाम गणराज्यों में बुर्जुआ सत्ताओं को उखाड़ फेंकने का काम भी पूरा हुआ और कुछ समय में ही इन गणराज्यों में समाजवादी सोवियत सत्ताओं की स्थापना भी हुई और यूनियन गठन की प्रक्रिया उसके कुछ समय बाद ही पूरी हो गयी। **ये थीं वे परिस्थितियां जिनमें स्वतंत्र हुए बुर्जुआ गणराज्यों में सोवियत समाजवादी गणराज्यों की स्थापना हुई। लेकिन अपने अज्ञान और मूर्खता के कारण सुखविन्दर को लगता है कि अक्तूबर क्रान्ति ने सभी दमित कौमों में तत्काल समाजवादी क्रान्ति को सम्पन्न किया! 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक के इस अज्ञानतापूर्ण विचार की तफ़सील से पड़ताल के लिए उपरोक्त सन्दर्भित लेख को पढ़ें।**

ज़ाहिरा तौर पर क्रान्ति के तुरन्त बाद तमाम राष्ट्रीय गणराज्यों के सम्बन्ध में संघीय ढांचे की नीति ही व्यावहारिक तौर पर अपनायी जा सकती थी; इनमें से कुछ गणराज्य अभी समाजवादी गणराज्य नहीं बने थे, राष्ट्रीय दमन अभी कोई सुदूर अतीत की घटना नहीं थी और रूस जिसे "राष्ट्रों का क़ैदख़ाना" कहा जाता था वहाँ दमित राष्ट्रों में रूस के प्रति एक स्वाभाविक अविश्वास मौजूद था। यह तमाम भूतपूर्व दमित राष्ट्र एक संघात्मक ढाँचे में सोवियत रूस के साथ इसलिए शामिल हुए क्योंकि बोल्शेविक पार्टी ने इन तमाम दमित क़ौमों को सही और सच्चे अर्थों में आत्मनिर्णय का अधिकार दिया। इसलिए रूस में क्रान्ति के बाद कुछ समय के लिए, जिसे कि संक्रमणकालीन अवधि कहा गया था, रूस के तमाम भूतपूर्व दमित राष्ट्रों के सम्बन्ध में संघीय ढाँचे की नीति को अपनाया गया था। क्रान्ति के बाद 1917-18 से 1922 तक समाजवादी रूस को रूसी सोवियत संघात्मक समाजवादी गणराज्य (Russian Soviet Federative Socialist Republic; RSFSR) कहा गया।

अब ज़रा देखते हैं कि उस दौर में भी जब औपचारिक तौर पर सोवियत यूनियन में एक संक्रमणकालीन संघीय ढांचे का अनुसरण किया जा रहा था, वास्तविकता में संघीयता के कितने तत्व मौजूद थे। 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक की निगाह में "मार्क्सवादी" इतिहासकार ई.एच.कार (जी हां! चूहा मोटा होता है, तो लोढ़े जितना ही मोटा होता है: इण्टरनेट से उड़न्त-पड़न्त अध्ययन करके 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर को यह लगा कि ई. एच. कार मार्क्सवादी इतिहासकार हैं!) का क्रान्ति के बाद सोवियत यूनियन में यूनियन बनने की प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी यही मानना था कि शुरू से ही ज़ोर केन्द्रीयकरण व एकीकरण पर था। जैसा कि हमने ऊपर बताया, सम्पादक महोदय ने 'प्रतिबद्ध' अंक-33 में प्रकाशित राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने आलेख में कार को "मार्क्सवादी" इतिहासकार घोषित कर दिया था! और उनकी पुस्तक, 'द बोल्शेविक रेवोल्यूशन 1917-1923, वॉल्यूम-1' से कई उद्धरण भी पेश किये थे। इसमें कोई समस्या भी नहीं है, क्योंकि मार्क्सवादी इतिहासकार न होते हुए भी ई. एच. कार ने तथ्यों के प्रति अधिकतम सम्भव वस्तुपरक रवैया अपनाया है और उनका शोध कार्य बिना शक़ उपयोगी है। समस्या कई जगहों पर उनके विश्लेषण में आती है, जो अलग-अलग मात्रा में ब्रिटिश अनुभववादी परम्परा, प्रत्यक्षवादी परम्परा और साथ ही आइज़क डॉइचर और यहां तक कि त्रॉत्स्की तक से प्रभावित है। ई.एच. कार के इतिहास-लेखन की समस्याओं, उसके सकारात्मकों व नकारात्मकों का प्रश्न एक अलग वृहद् चर्चा का विषय है। इसमें दिलचस्पी रखने वाले पाठक 'दिशा सन्धान' (dishasandhaan.in) में श्रृंखला में प्रकाशित हो रही साथी अभिनव की पुस्तक 'सोवियत समाजवादी प्रयोगों के अनुभव: इतिहास और सिद्धान्त की समस्याएं' पढ़ सकते हैं।

बहरहाल, आइये देखें, यूनियन गठन के विषय में कार क्या लिखते हैं-

"These external trappings of dispersal served, however, to mask a movement towards reunion which was already far advanced. The end of the civil war marked the transition from the second of the three periods retrospectively recorded in the party resolution of 1923, "cooperation in the form of a military alliance", to the third, the "military-economic and political union of the peoples ", which was ultimately to be completed in the form of the Union of Soviet Socialist Republics."(E.H.Carr, **The Bolshevik Revolution 1917-1923, Volume-1,** page-380)

और भी देखें:

"On June I, 1919, a decree of VTsIK in

Moscow, while " recognizing the independence, liberty and self-determination of the toiling masses of the Ukraine, Latvia, Lithuania, White Russia and Crimea", cited the Ukrainian resolution of May 18 and unspecified "proposals of the Soviet Governments of Latvia, Lithuania and White Russia", and, on the strength of these, proclaimed the necessity of "military union" between the socialist Soviet republics of these countries and the RSFSR. The union was to involve a fusion of "military organizations and military command, of the councils of national economy, of railway administration and economic structure, of finances, and of people's commissariats of labour". The decree concluded by appointing a commission to negotiate the carrying out of this project. (*ibid*, page 381-82)

1918 के सोवियत रूसी संविधान में 'फ़ेडरेशन' के प्रश्न पर अस्पष्टता को भी कार रेखांकित करते हैं:

"The constitutional outcome of all these arrangements cannot easily be defined: what resulted from the treaties with the Ukrainian and White Russian republics and **the three Transcaucasian republics had some features of an alliance, some of a federation and some of a unitary state. But this vagueness was characteristic of all Soviet constitutional documents of the period."** (*ibid*, page-389)

1918 से 1922 के संक्रमणकालीन अवधि के दौरान भी ज़रूरी मसलों पर 'फ़ेडरेशन' से अधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध (alliance) के तत्व मौजूद थे:

"None of the treaties between the RSFSR and the other Soviet republics included foreign affairs in the list of unified commissariats **and, since the unified control of foreign affairs was a traditional hall-mark of federation, its omission here emphasized the character of the relation now established as an alliance rather than a federation."** (*ibid*, Page-390-91)

1922 से पहले भी सोवियत रूस ही तमाम गणराज्यों की तरफ़ से विदेशी सन्धियों को मुक़म्मल करता था, जोकि किसी 'फ़ेडरेशन' में सम्भव ही नहीं है:

"**The treaties created a formal union so close that the common attitude to the outside world could, on any matter of importance, only be determined by a common authority and represented through a single channel.** But nothing like uniformity of procedure had yet been established. The Soviet delegation which signed the treaty of peace with Poland at Riga on March 18, 1921, was a joint delegation of the RSFSR and the Ukrainian SSR, the Russian delegation also holding full powers from the White Russian SSR. Two days earlier the RSFSR had signed at Moscow a treaty with Turkey determining the frontier between Turkey and the three Transcaucasian republics, and even effecting several territorial changes, without any formal participation of the republics either in the negotiation or in the conclusion of the treaty." (*ibid*, page-391)

और यह भी देखें:

"On February 22, 1922, the eight republics entered into an agreement empowering the RSFSR to "represent and defend" their interests at the forthcoming international conference at Genoa, and to sign not only any agreement concluded there, but "all international agreements of any kind directly or indirectly connected with this conference with states represented at the said conference and with any other states, and to take all measures resulting there from"." (*ibid*, page-392)

ये सारा घटनाक्रम वास्तव में मैत्रीपूर्ण सन्धियों से संघीय ढांचे और फिर संघीय ढांचे से यूनियन की ओर चल रही विकास-प्रक्रिया को ही दिखला रहा था, जो कि समाजवादी सत्ता आने के बाद कालान्तर में होना ही था और यही बोल्शेविकों की नीति भी थी। यूनियन गठन की प्रक्रिया 1922 के अन्त तक पूरी हो चुकी थी:

"**Before the end of 1922, therefore, the process of reunion was virtually complete and was beginning to be taken for granted. It remained only to clothe it in the appropriate constitutional garb. The dividing line between the independent republics linked in treaty relations with the RSFSR and the autonomous republics within the RSFSR was not in practice very great.** The logical course would no doubt have been to assimilate them to one another, either by

making the treaty republics autonomous units of an enlarged RSFSR, or by removing the autonomous republics from the aegis of the RSFSR and making them units, side by side with the RSFSR and the treaty republics, of the larger union. (*ibid*, page-393-94)

उपरोक्त चर्चा में हम स्पष्ट तौर पर देख सकते हैं कि सोवियत इतिहास व मार्क्सवादी सिद्धान्त के प्रति 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की अनभिज्ञता और अज्ञानता इस सम्पादकीय में भी पूरे शबाब पर है। इनकी इसी अज्ञानता को जब हमने राष्ट्रीय प्रश्न पर इनके पिछले आलेख की आलोचना में भी उजागर किया था तब यह नाराज़ हो गए थे! हमने उपरोक्त चर्चा में यह भी देखा कि बेईमानी से किये गए इनके अहमकाना दावे न तो किसी ऐतिहासिक तथ्य की कसौटी पर खरे उतारते हैं और न ही मार्क्सवादी सिद्धान्त की कसौटी पर।

हमने पहले भी इंगित किया था कि कोई भी राजनीतिक ग्रुप या शख्स मार्क्सवादी विज्ञान से विचलन के चलते यदि विचारधारात्मक शिखर की ढलान पर एक दफा फिसलना शुरू कर दे और समय रहते ईमानदारी से समाहार करके इसे दुरुस्त न करे तो वह वैचारिक पतन के ऐसे पंककुण्ड में जा गिरता है कि यह अविश्वसनीय भी प्रतीत होने लगता है। 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व के साथ यही किस्सा घटित हुआ है। लेकिन विज्ञान के मामले में तो ऐसा ही होता है। आप विज्ञान से बदसलूकी करेंगे तो विज्ञान भी आपको बख्शेगा नहीं! **इस ग्रुप का नेतृत्व क़ौमवाद के गड्ड में क्या गिरा, हर मसले पर ही इनके राजनीतिक-विचारधारात्मक अंदाज़ ही बदल गए!**

चूँकि मौलिक लेखन करने पर सम्पादक महोदय की 'रगड़ाई' हो जाती है इसलिए इधर-उधर से टीपा-टीपी करके पत्रिका का अंक तैयार कर दो!

हमने ऊपर देखा कि 'प्रतिबद्ध' के अंक (बुलेटिन संख्या-34) के सम्पादकीय में एक बार फिर सम्पादक महोदय ने सोवियत यूनियन के विषय में जो विचित्र बेसिर-पैर के दावे किये हैं उनकी वास्तविकता क्या है। 'प्रतिबद्ध' का अंक-34 भी पिछले अंक की तरह क़ौम-भाषा के मुद्दे पर ही मुख्यतः केन्द्रित था। अब जब इस ग्रुप की राजनीति ही इन मसलों पर सिमट चुकी है तो ज़ाहिरा तौर पर लेखन और चिन्तन के केन्द्र में यही मसले रहेंगे। सर्वहारा वर्ग के लिए अहम अन्य मसलों पर लेखन व चिन्तन को ये क़ौमवादी "क़ौमी सवाल के प्रति बेरुखी" करार देते हैं! अपने नए अंक यानी संख्या-35 में भी इन्होंने क़ौमी सवाल को ही प्राथमिकता दी है और इस बार भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर लेख प्रकाशित किया है जिसकी विस्तारपूर्वक आलोचना हम आने वाले दिनों में प्रस्तुत करेंगे। गौरतलब है कि अंक- 34 की सामग्री में मौलिक लेखन बेहद कम था, और इधर-उधर से ही ज़्यादा सामग्री ली गयी है।

यह तरीक़ा भी नायाब है! जो ख़ुद कहने में अब डर लगता है वह अन्य लोगों के मुँह से बुलवाओ! और ऐसे सभी लेखों के अंत में लिख दो कि "लेखक के सभी विचारों से हमारी सहमति नहीं है!" बेचारा पाठक एक अजीब-सी दुविधा में फँसा रहेगा कि पत्रिका के सम्पादक की किन विचारों से सहमति है और किन से असहमति! लेकिन ऐसा करने के पीछे एक वजह है। पिछले एक साल से भी ज़्यादा समय से क़ौम और भाषा के सवाल पर इनकी ट्रॉट-बुण्डवादी, क़ौमवादी, संघवादी और सुधारवादी और साथ ही कुलकवादी और कोरोना पर अवैज्ञानिक कोविडियट अवस्थिति की लगातार आलोचना होती रही है। इसके चलते इन्होंने अन्दरखाने चुपचाप कई मसलों पर अपनी अवस्थितियाँ बदल डालीं, बिना यह बताये कि ऐसा इन्होंने किया क्यों! इसलिए अब ये ट्रॉट-बुण्डवादी अपने मुँह से अपनी ही अवस्थिति को खुलेआम कहने से बचते हैं और इसी का तोड़ इन्होंने इन प्रश्नों पर दूसरों के लेख देकर निकाला है। 'प्रतिबद्ध' के अंक-34 के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ था।

दिलचस्प बात यह है कि अगर सोवियत यूनियन वास्तव में "संघीय" था, तब तो सम्पादक महोदय को लगातार इतिहास से संदर्भित करते हुए अपने कैडर और पूरे आन्दोलन को शिक्षित-दीक्षित करना चाहिए था। लेकिन 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप का नेतृत्व जानता है कि इस सवाल पर उन्होंने चार सौ बीसी की है, इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा है, ग़लत व झूठे उद्धरण पेश किये हैं, तथ्यों को *मिसरिप्रेसेन्ट* किया है और झूठ व ग़लतबयानी का सहारा लिया है। इसलिए पाठक देख सकते है कि यह अपनी फेसबुक पोस्ट्स में भी सोवियत यूनियन के "संघवादी" होने पर कोई तथ्य या सन्दर्भ प्रस्तुत नहीं करते हैं। क्योंकि ऐसा कोई तथ्य इतिहास में मिलेगा नहीं!

"क़ौमी दमन" पर सम्पादक महोदय की लफ्फाज़ी और अनैतिहासिक बातें जारी थीं और अभी भी जारी हैं!

जहाँ तक 'प्रतिबद्ध' अंक-34 के सम्पादकीय का प्रश्न है, तो उसे पढ़कर एक बार के लिए तो अपनी ही आँखों पर भरोसा नहीं होता है कि आप वाक़ई किसी "मार्क्सवादी" पत्रिका का सम्पादकीय पढ़ रहे हैं या किसी सामाजिक-जनवादी और साथ ही क़ौमवादी-संघवादी पत्रिका के सम्पादक के कुण्ठित मन की कराह। लेकिन अब इस तरह के वैचारिक मुज़ाहिरे के अलावा 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक से और किसी बात की उम्मीद की भी नहीं जा सकती है। हमने देखा कि सम्पादकीय में 'प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व ने अपनी संघवादी अवस्थिति को, जो कि पूरी तरह से एक ग़ैर-मार्क्सवादी अवस्थिति है, पूर्णता प्रदान करने की कोशिश की है और इसके लिए बेहद बेईमानी और अवसरवादी तरीक़े से सोवियत रूस के संविधान का सहारा लेने का प्रयास किया ताकि वह अपनी संघवादी लाइन को मार्क्सवादी सिद्धान्त के तौर पर

साबित कर सकें।

सम्पादकीय मुख्य तौर पर यह बताने के लिए ही लिखा गया था कि भारत की सभी क़ौमें दमित हैं और यह राष्ट्रीय दमन 1947 से ही जारी है, लेकिन फ़ासीवादी मोदी सरकार के सत्ता में आने के साथ भारत की सभी क़ौमों का दमन और बढ़ा है। इस बार अपनी क़ौमवादी थीसिस को आगे बढाते हुए 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर ने भारत के केन्द्र को बड़ा पूँजीपति, जोकि उनके अनुसार समय के साथ इजारेदार बना, और साम्राज्यवादी पूँजी के हितों का रक्षक बताया है और सुखविन्दर के अनुसार इस अराष्ट्रीय चरित्र वाले केन्द्र का अंतरविरोध भारत में रहने वाली सभी क़ौमों के साथ है और नतीजतन यह बेक़ौमी (!) बुर्जुआज़ी सभी क़ौमों को दबाती है! सम्पादक सुखविन्दर न तो 'प्रतिबद्ध' के पिछले अंक में प्रकाशित अपने लेख 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' में ही यह साबित कर पाए थे कि किन पैमानों से कश्मीर और उत्तर-पूर्व को छोड़कर मुख्यभूमि भारत की अन्य क़ौमें दमित हैं, और न ही वह इस बार के सम्पादकीय में ही यह दिखला पाएं हैं। यह उनके लिए एक स्वतःसिद्ध तथ्य के समान है। हमें पूरा यक़ीन है कि अपनी इसी अनैतिहासिक ग़ैर-मार्क्सवादी मूर्खतापूर्ण "थीसिस" को इन महोदय द्वारा अपने नए लेख 'भारत में राष्ट्रीय प्रश्न' का आधार बनाया गया है। इन महोदय का यह भ्रम है कि यदि कोई कश्मीर व उत्तर-पूर्व को छोड़कर शेष मूख्यभूमि भारत में रहने वाली तमाम क़ौमों को दमित क़ौमें नहीं मानता तो वह भारत को एक राष्ट्र मानता है! यह किस प्रकार के विक्षिप्त व्यक्ति की तर्क-पद्धति हो सकती है? कश्मीर व उत्तर-पूर्व के राज्यों को छोड़कर बाक़ी भारत में रहने वाली क़ौमों की बुर्जुआज़ी दमित नहीं है, उसे राजनीतिक सत्ता में हिस्सेदारी हासिल हो चुकी है और इसलिए वे दमित क़ौमें नहीं हैं, बल्कि इन क़ौमों के शासक वर्गों की हिस्सेदारी से निर्मित एक बहुक़ौमी मिश्रित शासक वर्ग भारत में सत्ता में क़ाबिज़ है। मैं क़ौमी सवाल पर अपने अगले आलेख में 'प्रतिबद्ध' के अंक-35 में भारत में राष्ट्रीय प्रश्न पर प्रकाशित मूर्खतापूर्ण लेख की विस्तृत आलोचना रखूंगी।

हमने 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व के पिछले लेख 'राष्ट्रीय प्रश्न और मार्क्सवाद' की अपनी आलोचना में और अन्यत्र भी इस बात को बार-बार रेखांकित और चिन्हित किया है कि बिना किसी क़ौम की बुर्जुआज़ी के दमन के क़ौमी दमन अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है। इसके बगैर राष्ट्रीय दमन की अवधारणा ही बेमानी हो जाती है। दमित क़ौम की बुर्जुआज़ी इस दमन के ख़िलाफ़ लड़ती है या नहीं, या फिर कितने रैडिकल और निर्णायक तरीक़े से लडती है, इसका इस बात से कोई सम्बन्ध नहीं है कि ऐसी बुर्जुआज़ी दमित है या नहीं। कोई भी क़ौम तभी दमित मानी जायेगी जब उसकी बुर्जुआज़ी का दमन हो रहा होगा। क़ौमी दमन की शुरुआत ही दमित क़ौम की बुर्जुआज़ी और दमनकारी क़ौम के शासक वर्ग के आपसी अंतरविरोध के चलते ही होती है। लेकिन जल्द ही यह आर्थिक उत्पीड़न राजनीतिक दमन-उत्पीड़न का रूप ग्रहण कर लेता है और जल्द ही दमित क़ौम के अन्य हिस्सों को भी अपनी ज़द में ले लेता है। स्तालिन ने "मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न" में इस बात को एकदम स्पष्ट तरीक़े से परिभाषित किया है। लेकिन 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक तोते की तरह रट लगाए बैठे हैं कि पंजाब समेत भारत की सभी क़ौमें दमित हैं। इस क़ौमी दमन को दिखलाने के लिए वह केन्द्र की एनडीए सरकार द्वारा जीएसटी की व्यवस्था को लागू किया जाना और मौजूदा कृषि क़ानूनों का पारित किया जाना, ये दो उदहारण देते हैं।

केन्द्र और राज्यों के बीच के आपसी अंतरविरोध किसी भी पैमाने से क़ौमी दमन नहीं है। केन्द्र के शासक वर्ग की राष्ट्रीय पहचान क्या है? वह किसी "राष्ट्रीय" बुर्जुआ वर्ग की नुमाइन्दगी कर रहा है? 'प्रतिबद्ध' का सम्पादक जवाब देता है बड़ी बुर्जुआजी! तो इस बड़ी बुर्जुआज़ी की "राष्ट्रीय" पहचान क्या है? अभी तक तो यह महोदय इन प्रश्नों का जवाब देने से बचते रहे हैं, अब देखते हैं कि अपने नए लेख में इन्होंने क्या नए गुल खिलाये हैं। सच्चाई यह है कि भारत की शासक बुर्जुआज़ी राष्ट्रीय तौर पर एक मिश्रित चरित्र (composite character) रखती है और इसके संघटन की शुरुआत राष्ट्रीय आन्दोलन के उभार के साथ ही शुरू हो गयी थी। इस पर हम आगे विस्तार से तथ्यों व तर्कों समेत लिखेंगे और दिखलाएंगे कि भारत की शासक बुर्जुआज़ी में भारत की तमाम क़ौमों (जो कि दमित नहीं हैं) की बुर्जुआज़ी को हिस्सेदारी हासिल है। इन अलग-अलग क़ौमों में क़ौमवादी भावनाओं और राष्ट्रीय अस्मितावादी राजनीति को हवा देने का काम ये ही बुर्जुआज़ी अलग-अलग समय पर अपने आर्थिक हितों के साधन और सर्वहारा वर्ग की एकता को तोड़ने के लिए बटखरे के तौर पर करती है, लेकिन ये किसी भी तरह से दमित क़ौम नहीं मानी जा सकतीं।

बहरहाल, राष्ट्रीय प्रश्न पर 'प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व की यह पूरी समझदारी कितनी उथली है और मार्क्सवाद-लेनिनवाद से किस रूप में विचलन है यह हम पहले भी दर्शा चुके हैं। लेकिन इस बार चूँकि 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक क़ौम और भाषा के सवाल पर अपने कुतर्कों और क़ौमी सवाल पर अपनी दरिद्र सैद्धांतिकी का पक्ष-पोषण करने के लिए कुछ "बेशक़ीमती नगीने" फिर लेकर आये थे, इसलिए इनका खण्डन करना एक ज़रूरी कम्युनिस्ट कार्यभार भी बनता था जिसकी विस्तृत आलोचना हमने ऊपर प्रस्तुत की है। इसके अलावा राष्ट्रीय दमन के खात्मे के लिए जो कार्यक्रम भी इस सम्पादकीय में प्रस्तुत किया गया है, वह कत्तई इस प्रश्न पर कोई लेनिनवादी कार्यक्रम नहीं है बल्कि स्पष्टतः एक सुधारवादी कार्यक्रम है।

राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के मसले पर 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व की बन्दरकुद्दियाँ

सम्पादकीय की शुरुआत में सम्पादक महोदय ने इस तरह के

कुछ नारे दिए गए हैं-

"राज्यों की स्वायत्तता के हक़ में खड़े हों! भारत की सभी क़ौमों के लिए आत्म-निर्णय के हक़ का नारा बुलंद करो! भारत में संघीय ढांचे के निर्माण के लिए आगे आओ!"

यहाँ पाठक देख सकते हैं कि क़ौमी दमन के हल के तौर पर यह अवस्थिति अपने आप में ही बेहद गड्डमड्ड है जिसका मार्क्सवाद–लेनिनवाद से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे, भारत के सभी राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार की बात 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय ने अपने सुधारवादी कार्यक्रम को लेनिनवादी कार्यक्रम दिखलाने के लिए बस जोड़ दी है। पाठक अगर याद करें और अब तक चली बहस के दस्तावेज़ों को सन्दर्भित करें तो वे पाएंगे की इस प्रश्न पर भी इनकी अवस्थिति की हमारे द्वारा प्रस्तुत की गयी आलोचना का एक अहम मुद्दा यह था कि यदि कोई क़ौम दमित है तो उसके लिए एकमात्र सही क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट कार्यक्रम अलग होने के अधिकार समेत आत्मनिर्णय के अधिकार का होता है, जिस पर 'प्रतिबद्ध' ग्रुप का नेतृत्व शान्त था और संघीय अधिकारों से ज़्यादा कुछ नहीं मांग रहा था। 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप ने पंजाब व मुख्यभूमि भारत की अन्य क़ौमों के लिए, जिन्हें की वह दमित क़ौमें मानते थे, यह कार्यक्रम, यानी आज़ादी का राष्ट्रीय जनवादी कार्यक्रम कभी प्रस्तुत ही नहीं किया था और आलोचना में रगड़े जाने के बाद इसे जोड़ लिया है। लेकिन हमारे ट्रॉट-बुण्डवादी यह बताने की ज़हमत तक नहीं उठाते हैं कि दमित क़ौमों के लिए इनकी "पूर्ण और सुसंगत जनवाद" की लाइन (वास्तव में संघीय अधिकारों व स्वायत्तता की मांग) कब आत्मनिर्णय के अधिकार यानी अलग होने के अधिकार समेत आत्मनिर्णय के अधिकार की लाइन में तब्दील हो गयी! **इसी को हमने बार-बार चोर-दरवाज़े से लाइन बदलना कहा है।** लेकिन हम ऐसे कहते हैं तो यह नाराज़ भी हो जाते हैं और आलोचना पर बात करने की बजाय आलोचना की शैली को पकड़कर बैठ जाते हैं!

सम्पादकीय मुख्य तौर पर इसलिए लिखा गया है कि अपनी "स्वायत्तता" और संघवाद की सुधारवादी लाइन को पुनः परिभाषित किया जा सके। हालाँकि सम्पादक महोदय द्वारा इसके पक्ष-पोषण के लिए जो भारी-भरकम सैद्धान्तिक ज़मीन तैयार करने की कोशिश की गयी थी, लेकिन वह एकदम फुस्स-पटाखा साबित हुई है!

कुतर्कों को दोहराते रहने से वे तर्क नहीं बन जाते हैं!

सम्पादकीय की शुरुआत में ही 'प्रतिबद्ध' के संपादक सुखविंदर लिखते हैं,

"भारत में केन्द्र (जो कि मुख्य तौर पर भारत का सबसे बड़ा पूँजीपति, जो कि समय के साथ इजारेदार पूँजीवाद में विकसित हुआ और साम्राज्यवादी पूँजी के हितों का रक्षक है) और भारत में मौजूद अलग-अगल क़ौमों के बीच टकराव 1947 से ही जारी है। 2014 में जब से फ़ासीवादी राष्ट्रीय स्वयसेवक संघ का राजनीतिक विंग भारतीय जनता पार्टी दिल्ली के सिंहासन पर स्थापित हुआ है, यह टकराव और भी तीख़ा हुआ है और भविष्य में और भी तीख़े होने की संभावना है। अगर संघी फ़ासीवादियों ने भारत में रहने वाली अलग-अलग क़ौमों को इसी तरह कुचलना जारी रखा तो एक बहु-क़ौमी देश की तरह भारत के अस्तित्व को ख़तरा खड़ा हो सकता है।"

यह वही अवस्थिति जो इन्होंने राष्ट्रीय प्रश्न पर अपने लेख में भी रखी थी। **हालाँकि एक बार फिर इनके द्वारा इस सवाल पर जलेबी पारी गयी है कि भारत की इस इजारेदार बड़ी बुर्जुआज़ी का क़ौमी चरित्र क्या है। यह बुर्जुआज़ी किस क़ौम की नुमाइंदगी करती है? यह मंगल गृह से तो आई नहीं है। बहु-क़ौमी देशों में भी यदि क़ौमी दमन है तो कोई दमनकारी क़ौम/क़ौमें तो होंगी ही।** यह दमनकारी क़ौम/क़ौमें भारत में कौन है, यह बताने से 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक सुखविन्दर बार-बार बच निकलने का असफल प्रयास करते रहे हैं और इस सम्पादकीय में भी ऐसा ही किया गया है। हमने अपनी आलोचना में दिखलाया था की इस "अराष्ट्रीय" बुर्जुआज़ी का सिद्धान्त सम्पादक महोदय द्वारा इसीलिए दिया गया है की पंजाबी बुर्जुआज़ी की इसमें हिस्सेदारी को छुपाया जा सके। इस रूप में सुखविन्दर पंजाब की बुर्जुआजी के क्षमायाचक और उनके कुकर्मों पर पर्दा डालने का कार्य करते हैं।

इस सम्पादकीय में भी बड़ी इजारेदार पूँजी और छोटी या क्षेत्रीय पूँजी के बीच के अंतरविरोध को क़ौमी रंग दे दिया गया है। **यानी, जहां कहीं भी पूंजीपति वर्ग के धडों के बीच बेशी मूल्य के अधिग्रहण की हिस्सेदारी को लेकर कशमकश चलती है, जोकि पूँजीवाद में लाज़िमी है, उसे क़ौमी दमन ठहरा दो! यह कितने भौंडे क़िस्म का बौद्धिक दिवालियापन और विचारधारात्मक दरिद्रता है, यह स्पष्ट है।** इसलिए क़ौमी दमन साबित करने के लिए इनके द्वारा दिए गए दोनों उदहारण, जीएसटी व्यवस्था और खेती क़ानून, वास्तव में पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़ों के बीच की आपसी जद्दोजहद है, जो सिर्फ़ भारत में ही नहीं बल्कि स्विट्ज़रलैंड (जो कि सुखविन्दर का "क़ौमी शांति वाला स्वर्ग" है!) में भी मौजूद है। **इसके अलावा 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक के अनुसार खेती क़ानून चूँकि "क़ौमी दमन" का मसला है तो फिर पंजाब और हरियाणा की "दमित क़ौमों" की "क़ौमी" बुर्जुआज़ी एमएसपी की शक्ल में केन्द्र, जोकि बड़ी बुर्जुआज़ी के साथ मिलकर इनको "क़ौमी" तौर पर दबा रहा है, का हस्तक्षेप अपने "क़ौमी" मामलों में क्यों चाहती हैं?** सम्पादक महोदय का यह बेतुका तर्क कितना उथला और छिछला है, पाठक स्वयः इसका अंदाज़ा लगा सकते हैं।

आगे देखें सुखविंदर क्या लिखते हैं-

"भारत की बड़ी बुर्जुआज़ी 1947 से ही भारत को एक क़ौम बनाने के काम में लगी हुई है। भारत की बड़ी बुर्जुआज़ी और इसके साथ ही साम्राज्यवादी पूँजी का, भारत की एकता, अखण्डता में सबसे अधिक हित है। वे पूरे भारत की मण्डी के ऊपर क़ब्ज़ा बरक़रार रखना चाहते हैं। अब इस तिकड़ी (भारत की बड़ी इजारेदार बुर्जुआज़ी, साम्राज्यवादी पूँजी और इसकी हित रक्षक, हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्ट) ने 'एक देश, एक टैक्स', 'एक देश, एक मण्डी', 'एक देश एक भाषा' आदि नारों के तहत भारत में रहने वाली अलग-अगल क़ौमों को कुचलने के प्रयास तेज़ कर दिये हैं।"

जब किसी की आँखों पर क़ौमवाद का चश्मा चढ़ा हो, तो उसे हर अंतरविरोध ही क़ौमी अंतरविरोध नज़र आता है! यानी मार्क्सवादी दृष्टिकोण से वर्ग विश्लेषण आपका हथियार अब रह ही नहीं गया है। **भारत की अखण्डता बनाये रखने में अपना हित सिर्फ़ यहाँ की बड़ी बुर्जुआज़ी का ही नहीं है, बल्कि सभी क़ौमों की बुर्जुआज़ी का है, जिनकी भारत की राजनीतिक सत्ता में भागीदारी है। निश्चय ही यह हिस्सेदारी कभी बटखरे से नाप-नापकर बराबरी से नहीं बँटती है, क्योंकि पूंजीवादी व्यवस्था का हर क्षेत्र में ही नियम असमान विकास का नियम होता है। लाज़िमी है कि इन हिस्सेदारियों का अनुपात बदलता रहता है और इसके लिए पूंजीपति वर्ग के अलग-अलग धड़ों में जद्दोजहद भी जारी रहती है।**

दूसरी बात, पूँजीवाद के अंतर्गत मंडी सिर्फ वस्तुओं और सेवाओं की ही नहीं होती है, श्रमशक्ति (श्रमशक्ति चूंकि ख़ुद भी एक माल में बदल दी जा चुकी होती है) की भी होती है। सस्ता श्रम तो भारत के सभी क़ौमों के पूंजीपतियों को चाहिए, बड़ा हो या छोटा। अभी पिछले साल ही खट्टर सरकार ने हरियाणा (जो कि सम्पादक महोदय के अनुसार न सिर्फ़ एक क़ौम है (ग़लत!), बल्कि दमित क़ौम भी है! (एकदम ग़लत!)) के निजी क्षेत्र में हरियाणवियों के लिए नौकरियों में आरक्षण का विभाजनकारी शिगूफा उछाला था, जिसका विरोध स्वयं हरियाणा के पूंजीपतियों ने ज़ोरदार तरीक़े से किया। क्यों किया? क्योंकि सुखविन्दर की हरियाणा की इस "दमित" क़ौमी बुर्जुआज़ी को बाक़ी भारत के मज़दूरों के श्रमशक्ति के दोहन में अपनी हिस्सेदारी में कमी गंवारा नहीं थी। जब उसे उत्तर-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, मध्य प्रदेश, छतीसगढ़ से सस्ते श्रम की आपूर्ति हो रही है, तो वह भला स्थानीय श्रमशक्ति का दोहन क्यों करेगा, जिसकी ज़ाहिरा तौर पर, प्रवासी मज़दूरों के मुक़ाबले मोलभाव की क्षमता अधिक होगी? **भारत की सभी क़ौमों की बुर्जुआज़ी का हित भारत की अखण्डता और सम्प्रभुता में ठीक इसलिए है कि इन सभी की हिस्सेदारी भारतीय राज्यसत्ता में हैं, यह भारत के शासक वर्ग का हिस्सा हैं, बल्कि यूँ कहना बेहतर होगा की भारत का शासक वर्ग इन सभी क़ौमों की बुर्जुआज़ी से मिलकर ही बना है और इसका चरित्र बहुराष्ट्रीय ही है।**

इसके अलावा पंजाबी भाषा को लेकर सम्पादक महोदय के दिल में फिर भाषाई अस्मितावादी दर्द उठ खड़ा हुआ है! किस तरह डोगरी भाषा को वह बार-बार पंजाबी की बोली क़रार देते हैं, यह हमने इनके राष्ट्रीय प्रश्न पर पिछले लेख में ही देखा था। **वहीं पाठक नीचे प्रस्तुत उद्धरण में यह भी देख सकते हैं कि यह महोदय कई भाषाओं को बोलियों के रूप में जीवित रहने के लिए अभिशप्त घोषित क़रार देते हैं और उन्हें स्वतन्त्र भाषाओं के तौर पर विकसित किये जाने की हिमायत करते हुए दिखते हैं। हालाँकि जब एक बोली (डोगरी) भाषा के रूप में विकसित हो जाती है तो वही उन्हें धक्केशाही नज़र आने लगती है! क्यों? क्योंकि उनका भूतपूर्व "मार्क्सवादी" चिन्तन लाइलाज टटपुंजिया क़ौमवाद से बुरी तरफ से ग्रस्त हो चुका है।** देखें सम्पादक महोदय क्या लिखते हैं:

"भारत कोई एक क़ौम नहीं है बल्कि बहु-क़ौमी मुल्क है। यह देश सैंकड़ों कौमियतों का घर है। यहां पर रहने वाले लोग सैंकड़ों भाषाएँ बोलते हैं। इन में से सिर्फ़ 22 भाषाएँ ही दर्ज़ हैं, अन्य बहुत सी भाषाएँ कौमी बोलियों के तौर पर मान्यता हासिल करने के लिए जूझ रहीं हैं। इन 22 भाषाओं में शामिल डोगरी को धक्के के साथ पंजाबी से अलग करके, अलग भाषा के तौर पर मान्यता दी गई है। जबकि डोगरी पंजाबी भाषा की ही बोली (उप-भाषा) है।"

सम्पादक महोदय घोषणा करते हैं कि "केन्द्र और राज्यों के बीच टकराव या केन्द्र द्वारा क़ौमी दाबे की अनेक मिसालें हैं।" **यानी एक सच्चे टटपुंजिया संघवादी की तरह, जोकि अपनी "क़ौमी" बुर्जुआज़ी के हिस्से की लूट में आई कमी से व्यथित हो उठा है, सुखविन्दर राज्यों के अधिकारों का बीड़ा अपने नाज़ुक कन्धों पर उठाने के लिए एकदम संकल्पबद्ध हैं!** काश कि उनका भूतपूर्व "मार्क्सवादी" मन यह भी बता पाता कि लूट की इस हिस्सेदारी में इस कमी-बेशी से इन क़ौमों के मज़दूर वर्ग की जीवन स्थितियों में कोई फ़र्क नहीं आता है। हम जानते हैं कि इन तमाम राज्य सरकारों ने अपने राज्यों (जो कि सुखविन्दर के अनुसार अलग-अलग क़ौमें हैं) की आम मेहनतकश आबादी के शोषण व उत्पीड़न में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रखी है। **'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप की क़ौमवादी-संघवादी लाइन वास्तव में मज़दूर वर्ग को क्षेत्रीय या "क़ौमी" पूंजीपति वर्ग का पुछल्ला बनाने की लाइन है, यह कार्यदिशा मज़दूर वर्ग द्वारा अपनी "क़ौमी" बुर्जुआज़ी के आगे घुटने टेकने और आत्मसमर्पण की वक़ालत करती है और इसलिए गैर-सर्वहारा वर्गीय कार्यदिशा है।**

'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप का नेतृत्व उत्सा पटनायक-प्रभात पटनायक मार्का सामाजिक-

जनवादियों से चौर्य-चिन्तन कर पहुँचा उनकी शरण में

इस बार 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक ने एक और कीर्तिमान स्थापित किया है- अब यह महोदय उत्सा पटनायक-प्रभात पटनायक मार्का संशोधनवादी सामाजिक-जनवादियों के शरणागत हो गए हैं। देखें सम्पादक महोदय क्या लिखते हैं:

"चौथा इसकी चर्चा बहुत कम हो रही है वह है खाद्य सुरक्षा का मामला। किसी भी देश के लिए यह ज़रूरी है कि अनाज के मामले में आत्मनिर्भर रहे। अनाज के मामले में निर्भरता न महज़ आर्थिक पहलू से हानिकारक है बल्कि राजनीतिक तौर पर भी यह निर्भर देश को मज़बूर करने का साधन बनती है। 1950 के दशक तक भारत अनाज के लिए मुख्य तौर पर अमरीका के ऊपर निर्भर रहा है। उसके बाद हुए हरित क्रान्ति ने अनाज के मामले मे भारत को आत्मनिर्भर बनाने का काम किया है। सरकार की यह ज़िम्मेदारी बनती है कि वह देश की आबादी की ज़रूरतों के अनुसार अनाज की आपूर्ति सुनिश्चित करे। इसके लिए सबसे बेहतर स्थिति यह है कि ज़मीन राजकीय स्वामित्व के अधीन हो और राज्य व्यवस्था अनाज की इस आपूर्ति को सुनिश्चित करे। भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था के अंदर भारतीय राज्य व्यवस्था फ़सलों की सरकारी ख़रीद के ढंग-तरीक़ों के साथ यह आश्वस्त करता आ रहा है कि देश की आबादी की ज़रूरतों के लिए अनाज यहां पैदा हो सके। भोजन की यह आपूर्ति निजी क्षेत्र के हाथ में भी नहीं सौंपनी चाहिए। इन अर्थों में यह कहा जा सकता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य ज़रूरतों की तरह भोजन का भी निजीकरण नहीं होना चाहिए। नये कृषि क़ानूनों के साथ यही होगा। बड़ी बुर्जुआज़ी के दख़ल के साथ खेत में बोये जाने वाली फ़सलों के क्षेत्रफल में बड़े बदलाव आने की सम्भावना है। अधिक मुनाफ़े के लिए अनाज की जगह फल, सब्ज़ियों, दाले, कपास, मसाले, कॉफी आदि व्यावसायिक फसलों के अधीन क्षेत्रफल बढ़ेगा। इससे यह हो सकता है कि यहां की आबादी की ज़रूरतों के अनुसार अनाज भी यहाँ पैदा न हो सके और अनाज के लिए देश को आयात पर निर्भर होना पड़े जो कि बहुत ख़तरनाक होगा। इससे पहले से ही भूखमरी सूचकांक, कुपोषण में चल रही बुरी व्यवस्था ओर भी बदतर होगी और मज़दूरों और मेहनतकशों के लिए दो वक़्त की रोटी खाना भी मुश्किल हो जायेगा।

"इस मामले में साम्राज्यवादी दख़ल को भी आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता है। नवम्बर 2001 में विश्व व्यापार संगठन के 'दोहा विकास एजेण्डे' से ही भारत जैसे मुल्कों पर अनाज को आयात करने तथा अन्य व्यावसायिक फ़सलों को निर्यात करने पर लगातार दबाव बनाया जा रहा है। वास्तव में, पश्चिमी मुल्कों में अनाज की बहुतायत है और जलवायु के कारण बहुत सी व्यावसायिक फ़सलें वहां पर पैदा नहीं होती जिसके लिए उनकी निर्भरता पूर्वी एशिया और अन्य क्षेत्रों के मुल्कों के ऊपर है। साम्राज्यवादी मुल्क चाहते हैं कि भारत जैसे मुल्क उनके फालतू अनाज के लिए मण्डी बने और उनके लिए ज़रूरी अन्य फ़सलें पैदा करके उनको बेचे। अनाज की निर्भरता के साथ साम्राज्यवादियों को समझौतों में अपना दबाव बनाने में फ़ायदा मिलेगा। भारत का पूँजीपति वर्ग तभी से इससे बचता आया है। पर अब यह इसमे अपना हित भी देख रहा है। भारत का कृषि आधारित निर्यात 38.5 अरब डॉलर है। बड़ा पूँजीपति वर्ग कृषि में अपना दखल देकर निर्यात को ओर बढ़ाने के रूप में अपना मौक़ा देख रहा है।"

यह मूर्खतापूर्ण तर्क वास्तव में छोटी पूंजी और अच्छे "राष्ट्रवाद" की संशोधनवादी हिमायत के लिए प्रभात पटनायक और उत्सा पटनायक ने रखा है और यह इस मान्यता पर आधारित है कि भारत का पूंजीपति वर्ग राजनीतिक रूप से स्वतंत्र नहीं है! इसका जवाब हम पहले ही अन्यत्र दे चुके हैं जिसे हम यहाँ हू-ब-हू प्रस्तुत कर रहे हैं:

"'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप ने लाभकारी मूल्य के प्रश्न पर जो यू-टर्न मारा है, उस पर हम पहले लिख चुके हैं और उसके बारे में पंजाब के वाम हलकों के साथियों को पता है। इन्होंने लाभकारी मूल्य को धनी किसानों और कुलकों की मांग मानने और इसे भोजन की औसत कीमतों में बढ़ोत्तरी का एक कारण मानने (जो कि सही था) से एक ऐसी "महान पश्चगामी छलांग" मारी कि उनके ही साथी और कार्यकर्ता चौंक गये! इसके बारे में पहले तो 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय ने तरह-तरह के (कु)तर्क दिये, जिनका खण्डन आप यहां पढ़ सकते हैं: (https://www.facebook.com/600308269985485/posts/4214486091901000/)। लेकिन जब इन कुतर्कों का खण्डन पेश कर दिया गया, तो इन्हें उत्सा पटनायक और प्रभात पटनायक का सहारा मिला है! माकपा के इन संशोधनवादी बुद्धिजीवियों का मानना है कि साम्राज्यवादी देश भारत की खाद्यान्न आत्मनिर्भरता को ख़त्म कर देना चाहते हैं। उनका कहना है कि यह एक प्रकार से औपनिवेशिक काल की वापसी होगी क्योंकि जब भारत खाद्यान्न आयात पर निर्भर हो जायेगा तो उसकी सम्प्रभुता और राजनीतिक स्वतंत्रता समाप्त हो जायेगी! वास्तव में, यह तर्क पटनायक दम्पति का अपने साम्राज्यवाद के 'नये सिद्धान्त' का एक अहम हिस्सा है। मज़ेदार बात यह है 2017 में साम्राज्यवाद पर हुए अरविन्द मेमोरियल सेमिनार में 'प्रतिबद्ध' के सम्पादक महोदय ने इस 'नये सिद्धान्त' का खण्डन किया था! वास्तव में, यह सिद्धान्त बेहद मूर्खतापूर्ण मान्यताओं पर आधारित है और इसका विस्तृत खण्डन हमारे साथी बी. बिपिन ने किया है।

"यह तर्क पटनायक दम्पति से चोरी कर 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व ने कहां चेंपा है? यह 'प्रतिबद्ध' के अंक- 34 के सम्पादकीय में आप देख सकते हैं।

"लेकिन यहां बात सिर्फ लाभकारी मूल्य के समर्थन के लिए महज़ संशोधनवादियों से चौर्य-लेखन और चौर्य-वक्तृता की नहीं है। बात और भी गम्भीर है। वजह यह है कि क़ौमवाद के पंककुण्ड में लथपथ होने और क़ौमी सवाल पर भयंकर अन्तरविरोधी और मूर्खतापूर्ण बातें कहने के बाद भी 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप अभी समाजवादी क्रान्ति की कार्यदिशा को ही मानता है। लेकिन उत्सा पटनायक व प्रभात पटनायक का यह तर्क कि साम्राज्यवादी देश भारत को खाद्यान्न के मामले में निर्भर बनाने की साज़िश कर रहे हैं, ताकि उनकी राजनीतिक स्वतंत्रता ख़तरे में पड़ जाये, वास्तव में, आपको भारतीय पूंजीपति वर्ग के दलाल या एजेण्ट होने के विश्लेषण पर और इसलिए नवजनवादी क्रान्ति की कार्यदिशा पर ले जाता है। लेकिन चूंकि इस ग्रुप के नेतृत्व ने पहले भी सामान्य राजनीतिक, आर्थिक और विचारधारात्मक मामलों में भयंकर अनभिज्ञता और नादानी का परिचय दिया है, इसलिए इस बार भी उसके नेतृत्व ने बिना किसी गहरी जांच-पड़ताल और चिन्तन-मनन के, लाभकारी मूल्य और कुलक आन्दोलन की पूंछ पकड़कर लटकने के वास्ते, पटनायक दम्पति का एक ऐसा तर्क कॉपी कर लिया है, जो कि सीधे जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम पर पहुँचता है।

"'हरित क्रान्ति' के दौर में भारतीय पूंजीपति वर्ग ने खाद्यान्न के लिए कुछ उन्नत पूंजीवादी देशों पर निर्भरता को ख़त्म करने के लिए कृषि के द्रुत पूंजीवादी विकास का रास्तात चुना जिसमें धनी किसानों-कुलकों के एक वर्ग को राजकीय संरक्षण के साथ खड़ा किया गया। 1978 तक भारत खाद्यान्न का प्रमुख तौर पर निर्यातक बन चुका था। यह रास्ता भारतीय पूंजीपति वर्ग ने ठीक इसीलिए चुना था क्योंकि वह साम्राज्यवाद पर अपनी निर्भरता को न्यूनातिन्यून करना चाहता था। वजह यह थी कि वह आम तौर पर साम्राज्यवाद का 'कनिष्ठ साझीदार' था न कि उसका दलाल। साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि खाद्यान्न-आयात पर निर्भरता अपने आप में किसी पूंजीपति वर्ग के दलाल होने का कारण नहीं होता है, बल्कि वह कुल आर्थिक सम्बन्धों के समुच्चय पर निर्भर करता है। बहुत से साम्राज्यवादी देश हैं, जो कि अपनी ज़रूरत का सारा अनाज पैदा नहीं करते हैं। पटनायक दम्पयति और अब उनसे चौर्य-चिन्तन कर रहे 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व का यह तर्क वैसे भी मूर्खतापूर्ण और बेतुका है।

"लेकिन एक स्तर पर पटनायक दम्पति तो फिर भी अपने "तर्क" में सुसंगत हैं, क्यों कि उनकी पार्टी तो वैसे भी जनता की जनवादी क्रान्ति की मंजिल को मानती है और भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता को पूर्ण नहीं मानती। वह नेहरू काल के आयात-प्रतिस्थापन और "समाजवाद" पर और "अच्छे राष्ट्रवाद" पर लौटना चाहती है और अब यही उसके कार्यक्रम का राजनीतिक क्षितिज है। इसलिए समस्या उनके लिए नहीं है। समस्या हमारे क़ौमवादी "मार्क्सवादी" बन्धुओं के लिए है, यानी 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के लिए। आख़िर आज भारतीय पूंजीपति वर्ग खाद्यान्न में अपनी आत्मनिर्भरता को क्यों समाप्त कर साम्राज्यवाद पर निर्भर होना चाहता है? वह क्यों अपनी सम्प्रभुता और राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ समझौता करना चाहता है? इसका एक ही जवाब हो सकता है: कि अब भारतीय पूँजीपति वर्ग दलाल में तब्दील हो चुका है, नवउदारवादी पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के दौर में वह साम्राज्यवादी देशों का एजेण्ट बनने को तैयार है। तब तो 'ललकार-प्रतिबद्ध' ग्रुप के नेतृत्व को अपनी समाजवादी क्रान्ति की लाइन भी छोड़ देनी चाहिए। या फिर उन्हें लाभकारी मूल्य का समर्थन करने के लिए प्रभात पटनायक व उत्सा पटनायक सरीखे संशोधनवादी बौद्धिकों से चौर्य-लेखन और चौर्य-वक्तृता बन्द कर देनी चाहिए! लेकिन तब उनके पास लाभकारी मूल्य का समर्थन करने के लिए कोई तर्क नहीं बचेगा! उनकी इसी अवस्था पर बच्चों की दो पुस्तकें हैं: पहली 'मनमानी के मज़े' और दूसरी 'छत पर फंस गया बिल्ला'! (दोनों पुस्तकें अनुराग ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हैं और जनचेतना पर उपलब्ध हैं!) पहले इन्होंने क़ौमवादी, ट्रॉट-बुण्डवादी, नरोदवादी मनमानी के मज़े लिये; और अब वे अपने अन्तरविरोधों में फंस कर 'छत पर फंस गया बिल्ला' की स्थिति को प्राप्त हो गये!

"इसी से एक बार फिर एक सीनियर कॉमरेड की उक्ति याद आती है: "विज्ञान ख़लीफ़ा से टक्कर लोगे, तो भर मुँह माटी ले लोगे!""

निष्कर्ष

वैसे तो 'प्रतिबद्ध' अंक संख्या-34 का पूरा सम्पादकीय ही इतने कुतर्कों से भरा पड़ा है कि इन सभी का जवाब देने का मतलब एक पूरी किताब लिखना हो जायेगा। दूसरे, इनके तमाम पुराने कुतर्कों का जवाब हम पहले ही कई बार दे चुके हैं इसलिए उन्हें यहाँ दुहराना अर्थहीन है। हमारे मौजूदा लेख का मक़सद इनकी नयी ग़लतबयानियों और झूठों को उजागर करना था जो अब इरादतन बेईमानी के सीमान्तों को छू रही हैं। सोवियत यूनियन को 'फ़ेडरेशन' घोषित करने की अवसरवादितापूर्ण जल्दबाज़ी में 'प्रतिबद्ध-ललकार' ग्रुप के नेतृत्व ने इतिहास और सिद्धान्त दोनों का ही भयंकर विकृतिकरण कर डाला है। यह अनजाने में हुई ग़लती नहीं है बल्कि राष्ट्रीय प्रश्न पर अपनी गैर-मार्क्सवादी कार्यदिशा को वैधीकरण प्रदान करने के लिए सोचे-समझे तरीक़े से अंजाम दिया गया कपट, झूठ-लफ्फाज़ी और धूर्तता है। पाठक स्वयं तय करें कि इस घटिया क़िस्म की "बौद्धिक" चार सौ बीसी को मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी विचारधारा में संशोधनवाद को मिलाना न कहा जाये तो और क्या कहा जाये?

●

फ़िल्म समीक्षा

‘द ग्रेट इण्डियन किचन’: उच्चवर्गीय नारीवाद को अभिव्यक्ति देती फ़िल्म

वृषाली

हाल में ही मलयालम में एक फ़िल्म आयी थी। ‘द ग्रेट इण्डियन किचन’ नामक इस फ़िल्म को देश भर में काफ़ी प्रसिद्धि और सराहना मिली। फ़िल्म का निर्देशन किया है जियो बेबी ने। इसमें नायिका की भूमिका निभायी है निमिशा सजयान ने और नायक की भूमिका निभायी है सूरज वेंजरामुडु ने। इसमें कोई दो राय नहीं है कि ‘द ग्रेट इण्डियन किचन’ फ़िल्म समाज में स्त्रियों के उत्पीड़न को दर्शाती है और यह एक प्रभावशाली फ़िल्म है। भारत में स्त्रियों का उत्पीड़न आज भी जारी है, भले ही उत्पीड़न का पैमाना अलग-अलग घरों में अलग-अलग ही क्यों न हो। भारतीय समाज में यह स्थापित मान्यता है कि घरेलू कामों और खासकर रसोई के कामों की ज़िम्मेदारी महिलाओं की ही होगी। 2014 की नेशनल टाइम यूज़ सर्वे की रिपोर्ट भी इस बात की पुष्टि करती है। इसके अनुसार भारत में होने वाले घरेलू काम में प्रतिदिन पुरुष औसतन 19 मिनट और स्त्रियाँ औसतन 298 मिनट व्यतीत करती हैं।

फ़िल्म की कहानी की शुरुआत नृत्य का अभ्यास कर रही नायिका के दृश्य से होती है। दूसरी ओर रसोई में अलग-अलग व्यंजन पकते दिखाये जाते हैं। इसी दौरान नायिका का विवाह घर वालों की इच्छा से तय हो रहा होता है। अगले ही दृश्य में नायिका विवाह के उपरान्त अपने रूढ़िवादी, धार्मिक और पारम्परिक ससुराल में प्रवेश कर रही होती है। यहाँ पर वह अपनी सास को घरेलू कामों में व्यस्त देखती है। उसे लगता है कि ज़ल्द ही उसकी भी यही नियति होने वाली है। नायिका की सास अपने पति को टूथब्रश से लेकर चप्पलें तक खुद अपने हाथों से उठाकर देती है। नायिका का पति स्कूल में इतिहास का शिक्षक है। सास के अपनी बेटी के घर चले जाने के बाद घर की सारी ज़िम्मेदारी नायिका के ऊपर आ जाती है। विदेश में पली-बढ़ी नायिका को इस घर में खाने के टेबल पर हो रही अशिष्टता से लेकर अन्य तमाम तरह का व्यवहार अखरता है। घर में ‘वॉशिंग मशीन’ जैसी तकनीकी सुविधाएँ होने पर भी कपड़े धोने जैसे काम उसे पारम्परिक तरीक़े से यानी हाथ से ही करने को कहा जाता है। नौकरी हेतु आवेदन करने के सवाल पर भी नायिका का ससुर उसे मना कर देता है और कहता है कि नौकरी के लिए महिलाओं के बाहर निकलने पर घर के काम उपेक्षित हो जाते हैं। साथ ही नायिका के नृत्य सीखने को भी शान के खिलाफ़ कहकर दुतकारा जाता है। एक दृश्य में नायिका अपने पति के साथ बाहर खाने पर गयी होती है। वहाँ पर उसका पति काफ़ी तमीज़ से पेश आता है जबकि घर पर वह ऐसा नहीं करता। इस पर नायिका टिप्पणी कर देती है, इससे उसके पति के अहम को चोट पहुँचती है और अन्ततः नायिका को ही माफ़ी माँगनी पड़ती है। फ़िल्म के एक दृश्य में नायिका को इस कारण से डाँट खानी पड़ती है क्योंकि उसका नौकरी के लिए चयन हो गया था। बिना बताये आवेदन करने को पति और ससुर के आदेश की अवहेलना समझा जाता है और वे ऐसा करने पर उससे ख़फ़ा हो जाते हैं। दाम्पत्य जीवन में यौन सम्बन्धों की बेहतरी के विषय में चर्चा करना भी नायिका के पति को नागवार गुज़रता है। उसका पति उसकी इच्छा पर अंकुश लगाते हुए उसे ताने मारता हुआ दुत्कार देता है।

पुरानी रूढ़ियों और पाखण्ड को ढोते हुये नायिका के मन में धीरे-धीरे रोष पनपता रहता है। इसी बीच उसके पति और ससुर सबरीमाला के दर्शन के लिए संकल्प लेते हैं। धार्मिक अनुष्ठान के दौरान माहवारी के कारण नायिका के साथ भेदभाव किया जाता है और उसके रहने, खाने, नहाने तक की अलग व्यवस्था कर दी जाती है। इस विषय में नायिका को “शिक्षित” करने और रीति-रिवाज़ सिखाने के लिए नायिका का ससुर अपनी बहन को बुलाता है। फिल्म में दक्षिणपन्थी ताकतों का स्त्रियों की अभिव्यक्ति पर अंकुश लगाया जाना भी नज़र आता है। सबरीमाला के मुद्दे पर सोशल मीडिया पर पोस्ट करने के कारण नायिका को भी यन्त्रणा झेलनी पड़ती है और उस पर भी पोस्ट को हटाने का दबाव बनाया जाता है। आखिरकार तंग आकर वह अपने पति और ससुर पर नाली का गन्दा पानी फेंक देती है और उनका धार्मिक अनुष्ठान भ्रष्ट करके उन्हें घर में बन्द कर बाहर निकल आती है। इसके बाद नायिका अपने मायके आ जाती है। इसके बाद वह कभी ससुराल नहीं जाती और अपनी ज़िन्दगी का नया रास्ता तलाशने लगती है।

फिल्म का लम्बा हिस्सा महिलाओं की दिनचर्या की तरह रसोई में ही फ़िल्माया गया है। तुच्छ, उबाऊ और पस्त कर देने वाले घरेलू कामों का चित्रण दर्शकों में भी वही खीज पैदा करता है जो महिलाओं की आम दिनचर्या का हिस्सा होता है। पितृसत्ता के वाहक केवल पुरुष ही नहीं होते, बल्कि महिलाएँ भी होती हैं। माहवारी के दौरान नायिका के साथ भेदभाव करने वाली एक महिला ही होती है। इसके इतर जब नायिका अपने घर वापस लौटती है तो उसकी माँ की भी यह सलाह होती है कि वह एक प्रतिष्ठित धार्मिक परिवार की सदस्य होने पर ख़ुद

को सौभाग्यशाली समझे और पति व ससुर से माफी माँग कर समझौता कर ले। फिल्म में स्त्री-उत्पीड़न का वास्तविक चित्रण दर्शकों को प्रभावित करने में काफ़ी हद तक सफल होता है। फिल्म में दर्शाये गये रसोई और घरेलू कामकाज की नीरसता के दृश्यों से कोई भी स्त्री खुद को वास्तव में जोड़ सकती है।

कुल मिलाकर इस फिल्म को नारीवादियों और आलोचकों द्वारा काफ़ी सराहा गया है। हालाँकि कुछ के अनुसार फिल्म की पटकथा पुरानी है। यह फ़िल्म निश्चित तौर पर महिला उत्पीड़न का यथार्थवादी चित्रण पेश करती है, लेकिन क फिल्म में इस उत्पीड़न के समाधान की जो कुछ झलकें दिखती हैं वो वास्तव मौजूदा पूंजीवादी पितृसत्ता के दायरे का अतिक्रमण नहीं कर पाती। यह इस उत्पीड़न का समाधान देने में भी क़ामयाब होती है? फिल्म के एक दृश्य में नायिका की एक नर्तक सहेली उसे अपने एक कार्यक्रम में आने के लिए आमन्त्रित करती है। इस दृश्य में हम सहेली के पति को चाय बनाते व रसोई के अन्य काम करते देख सकते हैं। ज़ाहिर है नायिका के घर में पुरुष प्रधान गृहस्थी के बरक्स उसकी सहेली का सापेक्षिक तौर पर जनवादी घर ही आदर्श रूप में चित्रित किया गया है। अर्थात पितृसत्ता के खिलाफ़ लड़ाई घरेलू कामों में पुरुषों की भागीदारी सुनिश्चित करके ही लड़ी जा सकती है। और फ़िल्म के अनुसार इस प्रकार की भागीदारी सिखा पाने में मौजूदा शिक्षा प्रणाली अक्षम है। फ़िल्म में नायिका का पति स्कूल में इतिहास का शिक्षक है। घर से बाहर उसमें भी शिष्टाचार की कोई कमी नहीं रहती है। लेकिन चूँकि घर में स्वामी वह है, इस लिए वह घर की चौहद्दी के भीतर अपनी मर्ज़ी के अनुसार आचरण कर सकता है। ज़ाहिरा तौर पर यह फिल्म बुर्जुआ नारीवाद की सीमाओं का अतिक्रमण करने का ख़तरा नहीं उठाती है। फिल्म के अन्त में नायिका अपने पति को छोड़ कर समाज में बाहर निकल आती है और अपनी आर्थिक आज़ादी प्राप्त कर लेती है। लेकिन उसके इस क़दम का पति और उसके घरवालों पर कोई असर नहीं पड़ता है। वे अपने लिए एक नयी, ज़्यादा आज्ञाकारी "घरेलू गुलाम" की व्यवस्था कर लेते हैं। अंततः फ़िल्म जिस गीत के साथ समाप्त होती है वह बुर्जुआ नारीवाद का ही प्रतीक साबित होता है।

फ़िल्म वैचारिक स्तर पर जिस तरह से पितृसत्ता और इसके उत्पीड़न से लड़ने के तरीके सुझाती है उससे पितृसत्तात्मक मूल्य-मान्यताओं पर रत्ती भर की खरोंच नहीं आती। पूँजीवादी व्यवस्था में सिनेमा पर भी शासक वर्ग की विचारधारात्मक छाप होती है। यह फ़िल्म भी इस बात की कोई अपवाद नहीं है। फ़िल्म के अनुसार घरेलू कामकाज के प्रति पुरुषों की मानसिकता को बदल देना और उन्हें बचपन से ही घरेलू कामों में भागीदारी करना सिखा देना ही परिवार के जनवादीकरण का तरीका है और स्त्री-पुरुष समानता के लिए यही पर्याप्त है। यह फ़िल्म न केवल पूँजीवादी शोषण पर चुप है, बल्कि साथ ही घरेलू गुलामी की उत्पत्ति और इसके भौतिक आधार के बारे में भी ख़ामोश है। वर्ग समाज में परिवार समाज की आर्थिक इकाई है, और यह फ़िल्म इस

आर्थिक इकाई को नष्ट करने या इसे ख़त्म करने के तरीक़ों पर कोई बात नहीं करती।

स्त्रियों की मुक्ति का रास्ता क्या है? परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति में एंगेल्स कहते हैं "स्त्रियों की मुक्ति की पहली शर्त यह है कि समस्त नारी जाति फिर से सार्वजनिक श्रम में प्रवेश करे और इसके लिए यह आवश्यक है कि समाज कि आर्थिक इकाई होने का वैयक्तिक गुण नष्ट कर दिया जाये।" अर्थात व्यक्तिगत परिवारों के घरेलू कामों को सामाजिक/सार्वजनिक कर दिया जाये। बड़े पैमाने पर सार्वजनिक भोजनालय, लौंड्री, पालनाघर इत्यादि की सहायता से ही आधी आबादी को घरेलू कामों की दासता से मुक्त किया जा सकता है। पितृसत्ता के खिलाफ़ लड़ाई को विचारधारात्मक स्तर पर अपचयित नहीं किया जा सकता। स्त्रियों की गुलामी निजी सम्पत्ति की उत्पत्ति के साथ शुरू हुई और इसका ख़ात्मा भी निजी सम्पत्ति के ख़ात्मे के साथ ही सम्भव है। 'एक महान शुरुआत' में लेनिन कहते हैं, "स्त्रियों की वास्तविक आज़ादी तब ही सम्भव है जब सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में इस तुच्छ घरेलू अर्थव्यवस्था के खिलाफ़ संघर्ष किया जाये या यूँ कहें कि उसे बड़े पैमाने पर बृहत सामाजिक अर्थव्यवस्था में तब्दील कर दिया जाये।"

स्मृति शेष

विदा कॉमरेड मीनाक्षी!
लाल सलाम!

हमारी वरिष्ठतम कामरेड मीनाक्षी 21 अप्रैल की सुबह हमारे बीच नहीं रहीं।

कोविड की महामारी और इस हत्यारी सरकार की आपराधिक लापरवाही ने उन्हें हमसे छीन लिया। हम जीवनरक्षक दवाओं और प्लाज़्मा डोनर के लिए तीन दिनों तक ज़मीन-आसमान एक करते रहे, ऑक्सीजन और अस्पताल में बेड के लिए दौड़ते रहे। जब कुछ सफलता मिली, तभी कई दिनों की जद्दोजहद से थकी हुई साँसों ने का. मीनाक्षी का साथ छोड़ दिया। कोविड की महामारी जो क़हर बरपा कर रही है, उसे इस हत्यारी व्यवस्था ने सौ गुना बढ़ा दिया है। हम इस फ़ासिस्ट सत्ता के ऐतिहासिक अपराध को कभी नहीं भूलेंगे, कभी नहीं माफ़ करेंगे।

का. मीनाक्षी

कई निकटवर्ती और दूर के शहरों से ऑक्सीजन और जीवनरक्षक दवाएँ जुटाने के लिए साथी दिन-रात एक किये रहे और क़ीमती समय हाथ से फिसलता चला गया। कठिन मेहनत से काला बाज़ार से हासिल ऑक्सीजन और दवाएँ काम न आ सकीं और का. मीनाक्षी का बहुमूल्य जीवन हम बचा नहीं सके। का. मीनाक्षी सिर्फ़ कोविड का ही शिकार नहीं हुईं, बल्कि उससे भी अधिक इस हत्यारी बर्बर बुर्जुआ व्यवस्था का शिकार हुईं, जिसने आज पूरे देश को एक मृत्यु उपत्यका में बदल डाला है। यह बात हम कभी नहीं भूलेंगे!

21 अप्रैल की शाम को का. मीनाक्षी के शरीर को लाल झण्डे में लपेटकर कई शहरों से आये कॉमरेडों के लाल सलाम के नारों के साथ अन्तिम विदाई दी गयी।

22 अप्रैल को अनुराग पुस्तकालय में का. मीनाक्षी की स्मृति सभा में उपस्थित कामरेडों ने अपनी वरिष्ठतम कामरेड के व्यक्तित्व और जीवन के विविध पक्षों और रंगों को भावविह्वल होकर याद किया, उनके साथ बिताये गये अपने दिनों की चर्चा की और यह संकल्प लिया कि वे शोक को शक्ति में बदलकर आजीवन मज़दूर क्रान्ति और मानव-मुक्ति की उस परियोजना को मूर्त रूप देने में जुटे रहेंगे जिसमें का. मीनाक्षी ने अपना पूरा जीवन लगा दिया।

का. मीनाक्षी से गहन भावनात्मक स्तर पर जुड़े सैकड़ों कार्यकर्ता और हमदर्द साथी गोरखपुर, बनारस, लखनऊ, दिल्ली, इलाहाबाद, कानपुर आदि शहरों में बिखरे हुए हैं। देश के विभिन्न हिस्सों के जो साथी उनसे विविध आयोजनों में मिले थे, वे भी उनके निश्छल, सरल, पारदर्शी व्यक्तित्व और बेहद जनवादी मृदुल

व्यवहार के कारण बहुत निकटता महसूस करते थे। लेकिन कोविड दुष्काल में स्मृति सभा में उनका आ पाना किसी भी तरह से सम्भव नहीं था। हालात देखकर लखनऊ के मित्रों-शुभचिंतकों को भी या तो सूचना नहीं दी गयी, या आग्रहपूर्वक आने से रोक दिया गया। फिर भी शहर के सभी सहकर्मी कामरेडों के साथ गोरखपुर, इलाहाबाद, पटना, दिल्ली, हरियाणा और पंजाब के कई साथी स्मृति सभा में शामिल हुए, जिनमें का. मीनाक्षी के दशकों के राजनीतिक जीवन के सहयात्री वरिष्ठ साथियों से लेकर वे युवा साथी भी शामिल थे जिन्होंने विभिन्न मोर्चों पर उनके साथ काम किया था और राजनीतिक शिक्षा-दीक्षा ली थी। इनके साथ ही कुछ वे साथी भी उपस्थित थे जिनका बचपन गोरखपुर में मीनाक्षी के निर्देशन में संचालित बाल कम्यून में बीता था। सभा में सभी वक्ताओं ने अपनी दिवंगत कामरेड के साथ बिताये गये दिनों को याद किया।

का. मीनाक्षी 1980 में ही एक हमदर्द के रूप में क्रान्तिकारी वाम आन्दोलन से जुड़ चुकी थीं। इस भूमिका को और प्रभावी

लखनऊ में जनचेतना की पुस्तक प्रदर्शनी के दौरान

बनाने के लिए ओ.एन.जी.सी के अधिकारी पद की नौकरी ठुकरा कर उन्होंने दो वर्ष तक मुम्बई हाई कोर्ट में प्रैक्टिस की, और फिर पूरा समय राजनीतिक कामों में देने के फ़ैसले के साथ गोरखपुर लौट आयीं। 1985-86 से एक पूरावक्ती संगठनकर्ता के रूप में उनके जीवन की नयी शुरुआत हुई। इन छत्तीस वर्षों के दौरान उन्होंने गोरखपुर, कानपुर, बनारस, लखनऊ और दिल्ली में छात्रों-युवाओं के बीच, स्त्री मज़दूरों के बीच, आम मेहनतकश आबादी के बीच और बुद्धिजीवियों के बीच काम किया, कामरेडों के परिवारों के बच्चों को लेकर एक बाल कम्यून चलाने का मौलिक और सफल प्रयोग किया तथा शुरुआत से ही 'जनचेतना' पुस्तक प्रतिष्ठान के साथ ही हम लोगों के प्रकाशन प्रभाग के एक स्तम्भ की भूमिका निभायी। राहुल फ़ाउण्डेशन की कार्यकारिणी की वह संस्थापक सदस्य थीं। इस समय वह 'अरविन्द स्मृति न्यास' की अध्यक्ष की ज़िम्मेदारी सम्हालने के साथ ही 'कोंपल' बाल पत्रिका और 'अनुराग ट्रस्ट' के बाल साहित्य के सम्पादन और प्रकाशन का काम भी देख रही थीं।

वे एक कुशल लेखक और अनुवादक भी थीं। 'दायित्वबोध, 'आह्वान', 'मज़दूर बिगुल', 'रविवार', 'जनसत्ता', 'समयान्तर' आदि में उनके अनेक लेख और अनुवाद प्रकाशित हुए थे। उन्होंने मैरी वोल्सटनक्राफ़्ट की प्रसिद्ध कृति 'स्त्री अधिकारों का औचित्य-साधन' का भी अनुवाद किया था जो राजकमल प्रकाशन की विश्व क्लासिक्स श्रृंखला में प्रकाशित हुआ।

का. मीनाक्षी बच्चों के मोर्चे पर और क्रान्ति के युवा उत्तराधिकारियों की तैयारी पर बहुत अधिक बल देती थीं और आश्चर्य नहीं कि उनके सानिध्य में शिक्षित-प्रशिक्षित युवा क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं की एक पूरी क़तार आज हमारे साथ है जो उनके सपनों को पूरा करने के लिए आजीवन संघर्षरत रहने को संकल्पबद्ध है। देश के विभिन्न हिस्सों में ऐसे ढेर सारे मेहनतकश और बुद्धिजीवी साथी हैं जो का. मीनाक्षी के ओजस्वी, सरल, निश्छल, पारदर्शी, प्रेरक व्यक्तित्व और मृदुल जनवादी व्यवहार को कभी नहीं भूल सकते।

लगभग एक दशक से कुछ अधिक समय के भीतर हमने का. अरविन्द, शालिनी और नितिन जैसे साथियों के बाद का. मीनाक्षी को भी खो दिया। का. मीनाक्षी, का. अरविन्द की जीवन साथी भी थीं और सही मायने में दोनों एक-दूसरे के लिए बने थे। इत्तेफ़ाक़ यह भी है कि का. शालिनी ने भी लम्बे समय तक जनचेतना और प्रकाशन के मोर्चे पर अपनी प्रिय मीनाक्षी दी के साथ काम किया था। आज, इस कठिन अन्धकारमय समय में ये अप्रतिम साथी हमारे साथ नहीं हैं, लेकिन उनका जीवन हमारी प्रेरणा है और उनकी स्मृतियाँ हमारी शक्ति हैं।

का. मीनाक्षी के सपनों, विचारों और संघर्षों के सच्चे उत्तराधिकारी अभी भी मैदान में डटे हुए हैं और आगे भी डटे रहेंगे। माना कि इतिहास आज एक अन्धी सुरंग से गुज़र रहा है। लेकिन रोशनी की घाटी की ओर यात्रा जारी रहेगी। हमारा कारवाँ चलता रहेगा, बढ़ता रहेगा!

विदा कामरेड मीनाक्षी! आप हमारे संकल्पों में हमेशा जीवित रहेंगी! लाल सलाम! लाल सलाम!!

– अरविन्द स्मृति न्यास, राहुल फ़ाउण्डेशन, अनुराग ट्रस्ट और जनचेतना के साथी।

– नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, स्त्री मुक्ति लीग, स्त्री मज़दूर संगठन और विभिन्न मज़दूर संगठनों, यूनियनों तथा बौद्धिक मंचों के साथी।

स्मृति शेष

विदा कॉमरेड लालबहादुर वर्मा! लाल सलाम!

प्रसेन

पिछली 17 मई को प्रसिद्ध इतिहासकार और सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकर्ता डॉ. लालबहादुर वर्मा नहीं रहे। देहरादून के एक अस्पताल में उन्होंदने अन्तिम साँस ली। अप्रैल और मई के महीने में सरकारी बदइन्तज़ामी और चौतरफ़ा घनघोर लापरवाही के बीच कोरोना ने अनेक मूल्यवान बुद्धिजीवियों और कार्यकर्ताओं को हमसे छीन लिया। डॉ. वर्मा भी इसके शिकार हुए। वे 83 वर्ष के थे लेकिन बौद्धिक रूप से बिल्कुल सक्रिय थे और विभिन्नं सामाजिक-राजनीतिक गतिविधियों में भी लगातार शामिल होते रहते थे।

कॉमरेड लालबहादुर वर्मा ने एक अकादमिक शिक्षक, एक राजनीतिक शिक्षक, इतिहासकार, सांस्कृतिक संगठनकर्ता, रंगकर्मी, साहित्यकार, अनुवादक, सम्पादक और निरन्तर ज़मीनी बौद्धिक-सांस्कृतिक सरगर्मियों के ज़रिए आम जनता के बीच सक्रिय रहने वाले 'जन-बुद्धिजीवी' के रूप में हज़ारों लोगों को गहराई से प्रभावित किया, सैकड़ों नौजवानों के जीवन की दिशा बदल दी। उनके अपने परिवार के लोग भी इनमें शामिल थे। बलिया के सतीशचन्द्र डिग्री कॉलेज, गोरखपुर विश्वविद्यालय, मणिपुर विश्वविद्यालय और इलाहाबाद विश्वविद्यालय में वे इतिहास के बेहद लोकप्रिय अध्यापक ही नहीं रहे बल्कि अपने सम्पर्क में आने वाले बड़ी संख्या में छात्र-छात्राओं के विचारों और जीवन मूल्यों को बदलने में भी उन्हों ने बड़ी भूमिका निभायी।

'आह्वान' की शुरुआत उन्होंने ही गोरखपुर में पर्चों की एक श्रृंखला के रूप में की थी, जिसने आगे चलकर अन्य साथियों की अगुवाई में पहले छात्रों-युवाओं के पाक्षिक अख़बार की और बाद में पत्रिका की शक्ल अख्तियार की।

डॉ.वर्मा आजीवन प्रगति, मुक्ति और बदलाव के आकांक्षी रहे, लेकिन इन मूल्यों की व्याख्या और इन्हें हासिल करने के रास्तों के बारे में उनके विचारों में बदलाव आता गया। अपनी युवावस्था में एक उदारतावादी बुद्धिजीवी से मार्क्सवाद तक का सफ़र उन्होंने एक लम्बी प्रक्रिया में तय किया और फिर बाद के दिनों में मार्क्सवाद की अपनी अलग व्याख्या तक, उनकी विचार यात्रा बहुत उतार-चढ़ावों-भटकावों से भरी रही, लेकिन वे जिस भी विचार के साथ रहे, निरन्तर बहस-मुबाहसा और संवाद उनके व्यक्तित्व का

हिस्सा रहा। जिन लोगों से उनकी वैचारिक और सक्रियता की राह अलग हो गयी, उनके साथ भी अनेक शिकवे-शिकायतों के बावजूद उनका संवाद बना रहता था।

आज उन्हें प्यार करने वाले लोगों में भाँति-भाँति के सोशल-डेमोक्रेट्स, बुर्जुआ लिबरल्स, एन.जी.ओ.-पंथी और 'फ्री-थिंकर्स' आपको मिलेंगे, (खासतौर पर जो लोग पिछले पच्चीस वर्षों के दौरान उनके निकट सम्पर्क में आये), दिल्ली के बहुत सारे रंग-बिरंगे सोशल-डेमोक्रेट्स से भी उनके प्यार-भरे रिश्ते चलते थे और पिछले करीब बीस वर्षों के दौरान उनके आसपास ऐसी ही रंग-बिरंगी जमातों का जमघट होता था, लेकिन उतना ही बड़ा सच यह है कि बहुत सारे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं, बहुत सारे सच्चे प्रगतिशील लेखकों-कवियों-संस्कृतिकर्मियों-बौद्धिकों की एक विशाल सेना अपने जीवन-काल में वर्माजी ने खड़ी की।

कॉ. वर्मा के व्यक्तित्व की यह ख़ासियत थी कि उन्होंने उनकी सीमाओं का अतिक्रमण करके आगे जाने वाले, स्वयं उनके व्यक्तित्व और चिन्तन के अन्तरविरोधों को भी आलोचनात्मक दृष्टि से देखने वाले और प्रयोगों की अपनी राह निकालने वाले शिष्य तैयार किये। रूढ़िग्रस्त, मंथर गति और सांस्कृतिक सड़ाँध से भरे भारतीय समाज में यह एक बड़ी बात थी, सचमुच बड़ी बात थी। उनकी वैचारिक अवास्थितियाँ सुस्थिर और सुसंगत नहीं थीं, मार्क्सवाद का उनका अध्ययन बहुत ही सीमित था (अपनी आत्मकथा में उन्होंने इसे साहस के साथ स्वीकार किया है), दर्शन, राजनीतिक अर्थशास्त्र और यहाँ तक कि मार्क्सवादी इतिहासकारों और विचारकों का अध्ययन भी उनका बहुत सीमित था। काफ़ी हद तक वह 'कॉमन सेंस लॉजिक' और अनुभवसंगत तर्कों के उपकरण से ही काम चलाते थे और बेशक़, अपनी बातों को बेहद लोकप्रिय, सुन्दर और प्रभावी भाषा में प्रस्तुत करते थे। विचारों के धरातल पर बहुतेरे अन्तरविरोधों से ग्रस्त होते हुए भी, यही सारे कारण थे कि किसी भी युवा को सामाजिक सरोकारों के साथ जीना सिखाने में, सृजनशीलता की महत्ता बताने में, पुराने जड जमाये हुए संस्कारों को तोड़ने में और रूढ़ियों से बगावत करने के लिए प्रेरित करने में वर्माजी सचेतन जीवन की शुरुआत के प्रारम्भिक चरणों में अद्भुत प्रभावी भूमिका निभाते थे। उन प्रारम्भिक चरणों के बाद उनके बहुत सारे शिष्य अलग-अलग दिशाओं में आगे बढ़ गये और इस बात पर डॉ. वर्मा को कोई शिकायत नहीं थी, बल्कि सन्तोष था।

गोरखपुर जैसे कस्बाई शहर में एक निम्न-मध्यवर्गीय परिवार में पैदा हुए डा. लाल बहादुर वर्मा की प्रारम्भिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की यात्रा वहीं पूरी हुई। इतिहास से स्नातकोत्तर उपाधि उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से ली और फिर पी-एच.डी. उपाधि के लिए शोध-कार्य अपने पुराने शिक्षक प्रो.हरिशंकर श्रीवास्तव के निर्देशन में एंग्लो-इंडियन्स के इतिहास पर किया। शोध पूरा करने के बाद उन्होंने कुछ समय तक बलिया के सतीशचन्द्र डिग्री कॉलेज में अध्यापन किया और फिर गोरखपुर विश्वविद्यालय में प्रवक्ता बनकर आ गये। पोस्ट-डॉक्टोरल रिसर्च के लिए 1967 में वह फ्रांस चले गये। फ्रांस में उन्होंने आधुनिक भारत के इतिहास-लेखन पर प्रख्यात दार्शनिक और समाज-वैज्ञानिक रेमों आरों के साथ काम किया। ये वही रेमों आरों थे जिन्होंने पचास और साठ के दशक में कम्युनिज़्म के ख़िलाफ़ जमकर वैचारिक संघर्ष चलाया था और डैनियल बेल और काहन के साथ मिलकर 'पोस्ट-इण्डस्ट्रियलिज़्म' का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। लाल बहादुर वर्मा एक ओर तो प्रो. आरों की विद्वत्ता और व्यक्तित्व से काफ़ी प्रभावित थे (कुछ हद तक, बाद में भी रहे), दूसरी ओर, फ्रांस में 1968 के छात्र आन्दोलन का भी उनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा था जिसके वह प्रत्यक्षदर्शी थे। एक माओवादी पत्रिका के युवा सम्पादक की गिरफ्तारी के बाद सार्त्र को स्वयं वह पत्रिका छापकर सड़कों पर बेचते हुए उन्होंने देखा था। जिस तरह वह आरों की विद्वत्ता से प्रभावित थे, उसी तरह सार्त्र के एक्टिविज्म से भी प्रभावित थे।

लेकिन उनके व्यक्तित्व का दूसरा पहलू यह था कि भारत लौटकर मार्क्सवादी बनने के बाद तक न तो उन्हें आरों की घोर प्रतिगामी राजनीतिक अवस्थिति की स्पष्ट समझ थी, न ही मार्क्सवाद के निकट आने के प्रयासों में तमाम अन्तरविरोधों में जा उलझे सार्त्र के अस्तित्ववाद के बारे में उनका कोई अध्ययन था। फ्रांस के ऐतिहासिक छात्र-युवा आन्दोलन से भी वह वैसे ही रोमांचित और अभिभूत हुए, जैसे तमाम देशव्यापी स्वतःस्फूर्त जन-उभारों और जन-विद्रोहों की लहर से आज भी बहुतेरे प्रगतिशील बुद्धिजीवी रोमांचित और अभिभूत हो जाया करते हैं।1968 के आन्दोलन के उत्तरवर्ती नकारात्मक प्रभावों और परिणतियों के पक्ष के बारे में वर्माजी की बाद तक कोई समझ नहीं बनी थी। यही वह दौर था जब फ्रांस में विचारधारात्मक उथल-पुथल भी ज़बरदस्त रूप में जारी था। 1968 से '71 का काल ही गोदार के बौद्धिक मार्क्सवादी सिनेमा का स्वर्णिम काल भी था। पर इन बौद्धिक-दार्शनिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्शों के सरगर्म माहौल से सॉरबॉन विश्वविद्यालय में रहते हुए भी वर्माजी काफी हद तक अप्रभावित ही रहे। कुछ वर्षों पहले फ्रांस के छात्र-आन्दोलन को केन्द्र में रखकर उन्होंने जो उपन्यास लिखा, उससे भी इस बात का पता चलता है। इन बातों से उनके व्यक्तित्व और मानस की बनावट-बुनावट को हम बेहतर ढंग से समझ सकते हैं।

व्यक्तित्वों, विचारों और ऐतिहासिक घटनाओं का तात्कालिक और आभासी प्रभाव, उनकी कौंध और आभा वर्माजी के लिए सम्मोहनकारी हुआ करती थी। और यह बात मार्क्सवादी बनने के बाद भी किसी हद तक उनके व्यक्तित्व में मौजूद रही। इसके चलते चीज़ों से प्रभावित होने के दौर में वह एकदम अनालोचनात्मक और अति-प्रशंसात्मक रुख अपनाते थे और फिर उतने ही मनोगतवादी ढंग से दूसरे अतिरेकी छोर तक भी जाते थे और बिना किसी विश्लेषण के उन्हीं चीजों के आलोचक हो जाते थे। उनका व्यक्तित्व ऐसा था कि वह जहाँ भी रहे, नयी मण्डलियाँ बनाते रहे। वह बुनियादी तौर पर सड़क की सरगर्मियों के व्यक्ति थे, लेकिन वैचारिक-दार्शनिक मशक्क़तों की दुनिया उनकी दुनिया नहीं थी और यही कारण था कि उनकी अनुभववादी सोच अक्सर ही लोकरंजकतावाद के मुकाम तक चली जाती थी। इसलिए, यह अनायास नहीं था कि 1990 के बाद कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के ठहराव-बिखराव के ऐतिहासिक कारणों की पड़ताल करने की जगह वर्माजी उनके लिए व्यक्तियों को ज़िम्मेदार मानने लगे जो नितान्त अनैतिहासिक और भाववादी नज़रिया है। इस सोच की तार्किक परिणति उन्हें मार्क्स के साथ बुद्ध, गाँधी, अम्बेडकर आदि को मिलाने की मंजिल तक ले गयी।

अपनी पीढ़ी के अधिकांश प्रबुद्ध नागरिकों की तरह वर्माजी एक सेक्युलर और डेमोक्रेटिक चेतना के व्यक्ति थे। यह वह पीढ़ी थी जो टीटो, नेहरू, नासेर, सुकर्णो, पैट्रिस लुमुम्बा, क्वामे एन्क्रूमा, कास्त्रो-चे आदि-आदि को एक साथ प्यार करती थी, मार्क्सवाद को आलोचना और शंका के साथ सराहती थी, स्तालिन और माओ के प्रति संशय-भाव रखती थी और केनेडी को भी पसंद करती थी और उसकी हत्या को लेकर दुखी रहती थी। फ्रांस-प्रवास और यूरोप के कुछ अन्य देशों की यात्रा ने डॉ. वर्मा की जनवादी चेतना को रेडिकलाइज़ कर दिया था और भारतीय समाज की कूपमण्डूकता, ठहराव की सड़ांध, किसानी समाज की लिसलिसी रागात्मकता और "प्राच्य निरंकुशता" से नफ़रत करना सिखा दिया था, हालाँकि अपने समाज और ज़मीन के जन्मचिह्न फिर भी कहीं न कहीं स्वाभाविक तौर पर, उनके अवचेतन और व्यवहार में बने रहे। वर्माजी जब सेण्ट एण्ड्रयूज़ कॉलेज में छात्र थे तब एस.एफ.आई. समर्थित उम्मीदवार के रूप में छात्रसंघ-अध्यक्ष का चुनाव लड़े थे और जीते थे। उस समय संशोधनवादी विपथ-गमन के बावजूद, गोरखपुर क्या, पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में कम्युनिस्ट आन्दोलन का व्यापक जनाधार था, साफ़ और जुझारू छवि थी। उनके कुछ मित्र भी एस.एफ.आई. में सक्रिय थे लेकिन वर्माजी पार्टी या एस.एफ.आई. से नहीं जुड़े।

1972 के अन्त के किसी महीने में डॉ. वर्मा ने 'भंगिमा' मासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया। शुरू में पत्रिका का स्वरूप न तो पूरी तरह साहित्यिक था, न ही वर्माजी की चेतना मार्क्सवाद तक पहुँची थी। 'भंगिमा' शुरू करते समय उनके दिमाग़ में रोमेश थापर सम्पादित पत्रिका 'सेमिनार' और किसी एक ऐसी ही फ्रांसीसी पत्रिका का मॉडल था – जो तमाम जनवादी, सेक्युलर, प्रगतिशील विचारों का एक मंच या सिम्पोजियम हो। शुरू के चार-पांच अंक ऐसे ही निकले भी। लेकिन उन दिनों गोरखपुर का माहौल क्रान्तिकारी वामपंथी सरगर्मियों से भरा हुआ था।1973-74 के वर्ष वे वर्ष थे जब वर्माजी की वैचारिक अवस्थिति भी तेज़ी से बदली और उसी के हिसाब से 'भंगिमा' का स्वरूप भी। इस प्रक्रिया में कई उपादानों की एकसाथ महत्वपूर्ण भूमिका थी। गोरखपुर विश्वविद्यालय में छात्रों के एक मार्क्सवादी ग्रुप के साथ सम्पर्क-संवाद के सिलसिले ने वर्माजी के वैचारिक रूपान्तरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आनन्दस्वरूप वर्मा, भगवान सिंह, डॉ.माहेश्वर आदि के साथ भी वर्माजी के सम्पर्क-संवाद ने उनकी विचार-यात्रा में एक भूमिका निभाई जिसकी चर्चा आ चुकी है। 'भंगिमा' की पहली और दूसरी वार्षिकी में दूधनाथ सिंह, कामतानाथ, भैरव प्रसाद गुप्त, मार्कंडेय आदि साहित्यकार आये। वर्माजी इलाहाबाद जाकर भी वहाँ के साहित्यकारों से मिले। 'भंगिमा' के अंक लेकर एकाधिक बार वह कलकत्ता में इसराइल, विमल वर्मा, तड़ित कुमार, ध्रुवदेव मिश्र 'पाषाण' आदि-आदि से मिले। दिल्ली में अजय सिंह, पंकज सिंह, मंगलेश डबराल, प्रभाती नौटियाल, त्रिनेत्र जोशी, शिवमंगल सिद्धांतकार, विष्णुचंद्र शर्मा, सुरेश सलिल, बिभास दास आदि-आदि से भी उनका सम्पर्क हुआ। इस तरह 'भंगिमा' ने वर्माजी के वैचारिक रूपान्तरण में अहम भूमिका निभाई और उनके मार्क्सवादी प्रतिबद्धता की सुस्पष्टता के साथ 'भंगिमा' भी लगभग दस से पन्द्रह अंकों तक की यात्रा तय करके वाम धारा की महत्वपूर्ण लघु पत्रिकाओं में गिनी जाने लगी।

अगर कोई व्यक्ति लघु पत्रिका आन्दोलन या अस्सी के दशक के वाम साहित्यान्दोलन पर शोध करे तो 'पहल', 'उत्तरार्द्ध', 'उत्तरगाथा', 'वाम', 'पुरुष', 'आईना', 'आमुख', 'सर्वनाम', 'परिबोध' और 'युग-परिबोध', 'वर्त्तमान' (आगे 'वर्तमान साहित्य' के रूप में पुनर्प्रकाशित), 'फिलहाल', 'तनाव', 'शेष' आदि-आदि के साथ अगर उसने 'भंगिमा' की फाइलें न देखी हों तो उसका शोध पूरा नहीं माना जा सकता। और सबसे बड़ी बात यह थी कि कई सयुक्तांको के प्रकाशन और बीच-बीच की अनियमितता के बावजूद 'भंगिमा' साहित्य की अकेली नियमित मासिक पत्रिका थी! '72 के अन्त से लेकर '77 के मध्य तक उसके कुल तिरेपन

अंक निकले जिनमें आपातकाल के दौरान निकले बहुचर्चित कहानी विशेषांक और कविता विशेषांक, पचासवाँ विशेष अंक और पंजाबी कविता विशेषांक तो दस्तावेज़ी थे। पंजाबी कविता विशेषांक की सारी सामग्री जुटाने और अनुवाद करने का काम पंकज सिंह और शकुन्तला चन्दन ने बहुत मेहनत से किया था। उसके पहले पाश और अमरजीत चन्दन की इक्की-दुक्की कविताओं से ही हिन्दी पाठक परिचित थे। पहली बार पाश, अमरजीत चन्दन, सुरजीत पात्तर, लाल सिंह दिल, हरभजन हलवारवी आदि सभी प्रतिनिधि पंजाबी कवियों की रचनाओं से हिन्दी पाठकों का साक्षात्कार 'भंगिमा' के पंजाबी कविता विशेषांक के ज़रिये ही हुआ था।

आपातकाल के दौरान डा. लाल बहादुर वर्मा रंगकर्म की दुनिया में आये और रंगकर्म के ज़रिए न सिर्फ़ गोरखपुर के सांस्कृतिक माहौल में नई हलचल पैदा की बल्कि अनेक युवाओं को रंगकर्मी और अनेक रंगकर्मियों को सामाजिक कार्यकर्ता भी बना दिया। बौद्धिक से अधिक वह ज़मीनी कार्रवाइयों की दुनिया के आदमी थे। कुछ सामाजिक-सांस्कृतिक सरगर्मियों के बिना वह रह ही नहीं सकते थे। हर साल कुछ छात्रों की टीम लेकर वह राप्ती-रोहिन नदियों के कछारों में बाढ़ से प्रभावित होने वाले गाँवों में, शहर में घर-घर से सहयोग इकट्ठा करके राहत बाँटने जाया करते थे। उस समय गोरखपुर में सिनेमा हालों में सुबह के शो में पोर्न या सॉफ्ट-पोर्न फ़िल्में चला करती थीं। इनके ख़िलाफ़ वह पर्चा लेकर ऐसे सिनेमा हालों के बाहर कई दिनों तक मुहिम चलाते रहे जिसका नतीजा यह हुआ कि काफी समय के लिए शहर में ऐसी फिल्मों का प्रदर्शन बन्द हो गया।

आपातकाल के तुरन्त बाद ही वह क्रान्तिकारी वाम की धारा से जुड़ गये थे और अगले डेढ़ दशक तक इस धारा के साथ जुड़कर राजनीतिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में लगातार सक्रिय रहे। 1980 में गठित 'राष्ट्रीय जनवादी सांस्कृतिक मोर्चा' के वह महासचिव थे और 'भंगिमा' के बन्द होने के बाद शुरू हुई इसकी पत्रिका 'लोकचेतना' के सम्पादक मण्डल में थे। हालाँकि इसके कुछ ही अंक निकल सके। बाद में 'इतिहासबोध' पत्रिका का प्रकाशन सांगठनिक योजना के तहत ही शुरू हुआ था, हालाँकि कुछ अंकों के बाद ही संगठन में हुई टूट के बाद वह इसे स्वतन्त्र रूप से निकालते रहे।

बाद के दशकों में वह क्रमशः मार्क्सवाद से दूर होते गये, या यह कहें कि मार्क्सवाद की उनकी एक अपनी व्याख्या अस्तित्व में आयी जिसमें वर्ग-संघर्ष, सर्वहारा अधिनायकत्व, पार्टी की लेनिनवादी समझ, समाजवादी प्रयोगों की मार्क्सवादी-लेनिनवादी व्याख्या आदि से वह काफी दूर हो गये थे। वह कहते भी थे कि वह किसी वाद से बँधे हुए नहीं हैं, और बिना किसी दार्शनिक विस्तृत-गहन विमर्श के, मार्क्स के साथ ही गाँधी (कुछ मामलों में), अम्बेडकर और बुद्ध को भी रखने लगे थे। इतिहास-पुरुषों की भूमिका, अन्तर-वैयक्तिक मानवीय संबंधों और भावनाओं (जैसे प्रेम, दोस्ती आदि) की समझ उनकी ज्यादा से ज्यादा हेगेलियन भाववादी होती चली गयी थी और समाज को बदलने से पहले व्यक्ति के बदलने पर उनका बल भी अधिक से अधिक भाववादी किस्म का होता चला गया था। समाजवाद की परियोजना को लागू करने को लेकर जड़सूत्रवाद के अतिरेकी और असंगत विरोध ने डॉ. वर्मा के विचारजगत में एक पश्चगामी यात्रा को जन्म दिया। इसे विज्ञान से यूटोपिया की ओर यात्रा, वैज्ञानिक समाजवाद से यूटोपियाई समाजवाद के एक नये संस्करण की ओर यात्रा कह सकते हैं। बाद के वर्षों में सम्पर्क में आये युवाओं को भी वह किसी सांगठनिक दायरे में बँधे बिना बौद्धिक और सामाजिक कार्य करने का सुझाव देते थे।

लेकिन उनकी ख़ास बात यह थी कि अपनी इन अवस्थितियों पर भी वह स्थिर और सुसंगत नहीं थे। उनसे एकदम अलग विचार रखने वाला नयी पीढ़ी का कोई व्यक्ति, जैसे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की किसी भी उपधारा का कोई युवा, उन्हें अगर कुछ मौलिक और श्रमसाध्य काम करता हुआ दीखता था तो वह मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा करते थे और उसके कामों के बारे में विस्तार से जानकारी लेते थे।

पहले उनसे जुड़ा रहा कोई पुराना साथी या उसी धारा का कोई नया परिपक्व साथी कहीं उनसे टकरा जाता था तो उनके सैद्धान्तिक कामों, योजनाओं और ज़मीनी प्रयोगों की विस्तार से जानकारी लेते थे और विभिन्न मुद्दों पर उनकी पोज़ीशन जानने में न केवल दिलचस्पी दिखाते थे, बल्कि प्रशंसा और प्रोत्साहन का भाव भी प्रदर्शित करते थे। उनसे मिला हुआ व्यक्ति आज चाहे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की जनदिशा वाली धारा में कहीं खड़ा हो, चाहे माओवादी पार्टी के साथ खड़ा हो, चाहे कोई स्वतन्त्र वाम बुद्धिजीवी हो, चाहे कोई एन.जी.ओ. का शीर्ष ओहदेदार हो, या लेखक अथवा इतिहासकार हो, वे सभी इस बात को स्वीकार करते हैं कि युवावस्था में डॉ. लालबहादुर वर्मा ने उनकी जीवन की दिशा को मोड़ देने में, रूढ़ियों-संस्कारों-आदतों से मुक्त होने में, परम्परा से विद्रोह करके जीवन को सोद्देश्य बनाने में सबसे अहम भूमिका निभायी थी और लीक से हटकर जीने-सोचने का प्रारम्भिक संवेग उन्हें वर्माजी से ही मिला था।

गतिविधियाँ

प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट लीग द्वारा ऑनलाइन प्रदर्शनी 'यथार्थवाद का मण्डप-2' का आयोजन

प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट लीग ने 'महामारी के दौर में कला' विषय पर ऑनलाइन प्रदर्शनी आयोजित की। इस प्रदर्शनी में अलग-अलग जगहों से कलाकारों ने हिस्सेदारी की व उक्त विषय पर बनाई गई पेंटिंग, स्केच, वीडियो, कविताएँ एवं कोलाज साझा किए। यह प्रदर्शनी कोरोना काल में पैदा हुई मानवीय संकट के कारणों को कला के जरिये आमजन तक ले जाने का एक प्रयास थी।

कलाकारों ने इस क्रूर समय की कठोर सच्चाई को अपनी कूची, रंग, स्याही, शब्दों एवं अन्य तकनीकों के माध्यम से उजाकर किया। इस प्रदर्शनी में शामिल कलाकारों ने अपनी कला के जरिये आज के वक्त की भयावहता के कारणों को खोलकर रखा, बजाय उसको रहस्यमयी और धुँधला बनाने के। साथ ही, इंसानों की मौत पर शासन कर रहे भेड़ियों को किसी बनावटी कोमलता से ढ़कने की कोशिश नहीं की बल्कि उनकी असलियत को उजागर किया। महामारी के इस काल में कलाकारों पर ये ज़िम्मेदारी आयद होती है कि वो अपनी कला से आमजन के भीषण कष्ट को चित्रित करें,उनकी कलाकृति करुणा नहीं बल्कि क्रोध उपजाती हो और आमजन के सामने एक विकल्प पेश करती हो क्योंकि असल में मनुष्य को बचाना ही अपने आप में कला को बचाना है।

इस प्रदर्शनी में शामिल कुछ कलाकृतियों को हम आह्वान के पन्नों पर आपके साथ साझा कर रहें हैं। पूरी प्रदर्शनी को देखने के लिए प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स लीग के फेसबुक पेज (https://www.facebook.com/ProgressiveArtistsLeague/) पर ज़रूर जाएं।

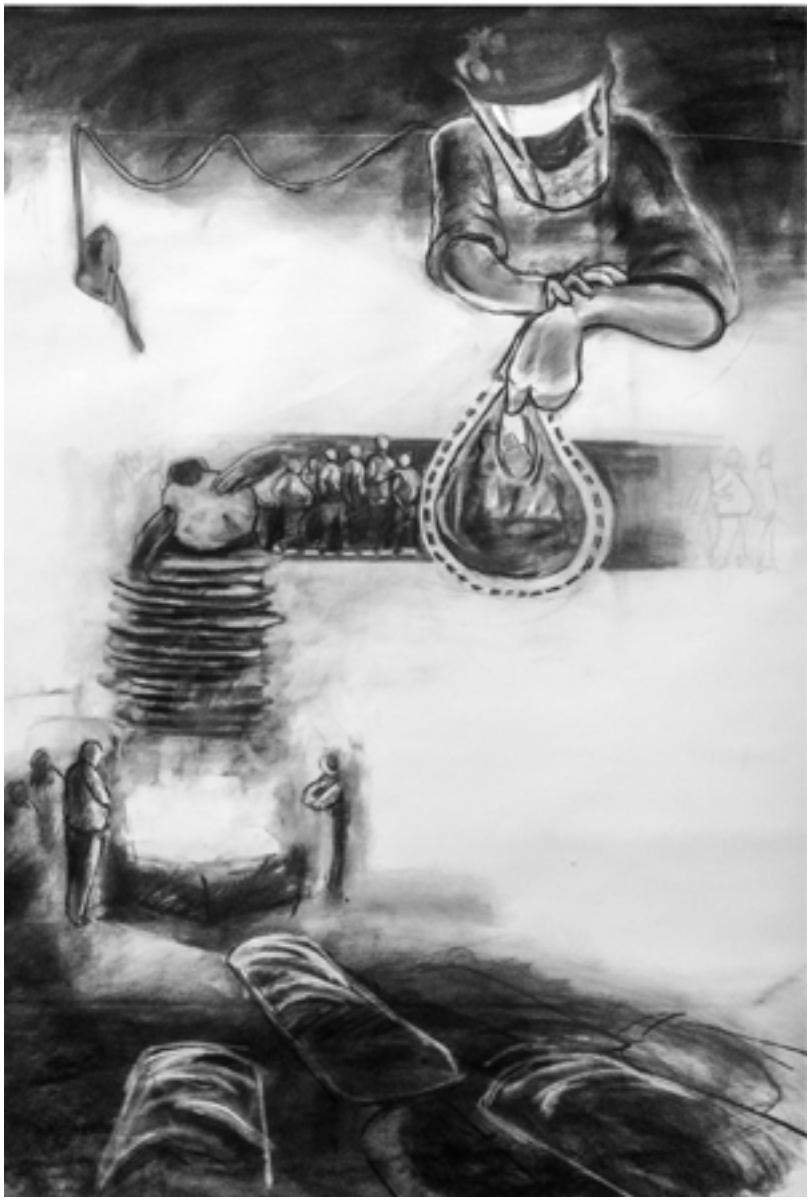

शीर्षक - रोटी, **कलाकार** - प्रांजल

शीर्षक विहीन, कलाकार - जगविन्दर

शीर्षक - स्मोकिंग क्रिमिटोरियम, **कलाकार** - उत्तम घोष

शीर्षक - स्मोकिंग क्रिमिटोरियम -2, **कलाकार** - उत्तम घोष

शीर्षक विहीन, **कलाकार** - अरबिन्द

गतिविधियाँ

एकसमान सार्वभौमिक और नि:शुल्क स्वास्थ्य सुविधा के लिए 'जन स्वास्थ्य अधिकार मुहिम'

कोरोना महामारी और फ़ासीवादी सत्ता की आपराधिक लापरवाही का खामियाजा देश की आम आबादी को चुकाना पड़ रहा है। अप्रैल और मई के महीने में जब कोरोना महामारी की दूसरी लहर उफान पर थी तब देश के हुक्मरान कुम्भ, विधानसभा और पंचायत चुनाव करवाकर लोगों को मौत के मुँह में धकेल रहे थे। फासिस्टों के इस आपराधिक कुकृत्यों का नतीजा यह है कि पूरे देश में मौत का तांडव पसरा हुआ है। सरकार के द्वारा आँकड़ों के छुपाने की लाख कोशिश के बावजूद शमशान पर जलती लाशें, कब्रिस्तान में पहुंचने वाले जनाज़े इस भयानक स्थिति की सच्चाई को चीख-चीख कर बयान कर रही थी और अब बरसात के वजह से नदियों के तटों से बालू की पहली परत हटते ही दफ़्न की गई लाशें फासिस्टों की बेहयाई को उजागर कर रही हैं। कोरोना से ज्यादा लोगों की मौतें बदहाल चिकित्सा व्यवस्था और हत्यारी फ़ासीवादी सरकार की उदासीनता, बदइन्तज़ामी और लापरवाही हुई। यदि लोगों को सही समय पर अस्पताल, बेड, ऑक्सीजन और सही इलाज मिल गया होता तो इनमें से बहुत सारे लोगों को बचाया जा सकता था। ये मौत नहीं है बल्कि इस मनुाफ़ाखोर-आदमखोर पूँजीवादी व्यवस्था और बेशर्म फ़ासिस्ट मोदी सरकार के हाथों होने वाली हत्याएँ हैं।

इस पूरी स्थिति के मद्देनजर दिशा छात्र संगठन, नौजवान भारत सभा, स्त्री मुक्ति लीग, भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी सहित अन्य प्रगतिशील संगठनों की ओर से देशभर में 'जन स्वास्थ्य अधिकार मुहिम' चलायी जा रही है। इस मुहिम के तहत लोगों को इन माँगो पर संगठित किया जा रहा है।

1. पूरे देश में समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का तत्काल राष्ट्रीकरण करो! सभी को एक समान सार्वभौमिक और निशुल्क स्वास्थ्य सेवाएँ प्रदान करो और स्वास्थ्य के अधिकार को मूलभूत अधिकार घोषित करो!

2. सभी निजी अस्पतालों, नर्सिंग होमों, पैथोलॉजी लैबों, दवा कम्पनियों, कोरोना वैक्सीन फैक्टरियों और चिकित्सा-सामग्री निर्माण उद्योगों का राष्ट्रीकरण करो! कोरोना वैक्सीन को पेटेण्ट से मुक्त करो!

3. आबादी के अनुपात में व्यापक पैमाने पर डॉक्टरों व स्वास्थ्यकर्मियों की तत्काल पक्की भर्ती करो!

4. मज़दूरों की तत्काल भर्ती कर नए ऑक्सीजन प्लांट चालू करो!

5. सभी नागरिकों को मास्क, दस्तानों व सैनेटाइज़र का निशुल्क वितरण किया जाये! तुरन्त प्रभाव से सभी ज़रूरतमन्दों तक ऑक्सीजन और जीवनरक्षक दवाएँ निशुल्क पहुँचायी जायें!

6. ऑक्सीजन और दवाओं की कालाबाज़ारी करने वालों पर फ़ास्ट ट्रैक कोर्टों के माध्यम से कठोर से कठोर कार्यवाई की जाये!

7. सभी स्टेडियमों, बैंक्वेट हॉलों, होटलों और खाली सरकारी इमारतों को सरकारी कोविड सेण्टरों में तब्दील करो!

8. देश के प्रत्येक नागरिक तक सार्वभौमिक राशन वितरण प्रणाली से भोजन की आपूर्ति की जाये!

9. मज़दूरों-कर्मचारियों की कोरोना संक्रमण से सुरक्षा की व्यवस्था की जाये तथा सक्रंमितों को सवैतनिक अवकाश दिया जाये!

10. बिना किसी तैयारी के थोपे जा रहे अनियोजित लॉकडाउन को तत्काल रोका जाये। लॉकडाउन की काबिल डॉक्टरों-वैज्ञानिकों के बहुलांश द्वारा सस्तुतिं स्तुति करने पर भी इसे तभी लागू किया जाये जब सरकार प्रत्येक नागरिक तक खाद्य सामग्री पहुँचाया जाना सुनिश्चित करे और प्रत्येक नागरिक को सीधे न्यूनतम आमदनी मुहैया कराये।

अगर अब भी लोग मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था और मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाहियों को चुपचाप बर्दाश्त करते रहे तो कल को बहुत देर हो जायेगी। आज पुरज़ोर तरीक़े से यह माँग उठानी होगी कि देश की समूची स्वास्थ्य व्यवस्था का राष्ट्रीकरण करके उसे सरकारी नियन्त्रण में लाया जाये। जब तक स्वास्थ्य सेवाएँ निजी हाथों में रहेंगी तब तक हम इसी तरह अपने परिजनों को अपनी आँखों के सामने दम तोड़ते हुए देखते रहेंगे। कोरोना महामारी के इस भीषण दौर में जनता की जीवन रक्षा के लिए सरकार को इसी वक़्त सभी निजी अस्पतालों, नर्सिंग होमों व पैथोलॉजी लैबों का राष्ट्रीकरण कर अपने नियन्त्रण में लेना चाहिए। हर प्रकार के ज्ञान का उदभव् पूरे समाज के मेहनतकशों के श्रम से ही चलता है इसलिए ज्ञान पर किसी भी तरह का पेटेण्ट नहीं होना चाहिए। कोरोना वैक्सीन को भी हर तरह के पेटेण्ट से मुक्त करके इसके उत्पादन को भरसक बढ़ाया जाना चाहिए।

उत्तर प्रदेश के लखनऊ, इलाहाबाद, गोरखपुर, अम्बेडकरनगर, चित्रकूट, मऊ, ग़ाज़ीपुर, नोएडा आदि जिलों

में इस अभियान के तहत घर-घर सम्पर्क अभियान चलाकर, सभाएं कर व्यापक पैमाने पर पर्चा वितरित किया जा रहा है। उत्तर प्रदेश कोरोना महामारी के पहली और दूसरी दोनों लहर के दौरान सबसे प्रभावित राज्यों में रहा है। ऊपर से देश के सबसे निरंकुश योगी सरकार द्वारा किये जाने वाले पुलिसिया दमन इस संकट को और भी गंभीर बना दी है। जब पूरा प्रदेश ऑक्सीजन, दवाएं, अस्पताल बेड की भयंकर कमी से जूझ रहा था और लोगों तिल-तिल कर मर रहे थें, तब योगी सरकार इसके खिलाफ़ बोलने वाले हर आवाज़ को दबाने के लिए सम्पति जब्त करने, रासुका और यूएपीए जैसे काले कानूनों में फंसा देने की धमकी दे रही थी। संघी सच से इतना डरते हैं कि महामारी के दौर में लोगों को जागरूक करने की मुहिम भी उनसे बर्दाशत नहीं होती। इस मुहिम के दौरान देश की कई जगहों पर अन्धभक्तों और संघी

कार्यकर्ताओं से बहसें-झड़पें हुई। लखनऊ में तो संघियों ने नौजवान भारत सभा और स्त्री मुक्ति लीग के कार्यकर्ताओं पर हमला कर दिया। 17 मई को नौभास के अविनाश व अनुपम और स्त्री मुक्ति लीग की रूपा डालीगंज इलाक़े में 'जन स्वास्थ्य अधिकार मुहिम' के तहत लोगों से सम्पर्क कर रहे थे, तो पहले से घात लगाये बैठे संघियों ने उन पर ऐसे बेहूदे आरोप लगाने शुरू कर दिये कि "तुम तो नक्सली हो", "तुम यहाँ कोरोना फैलाने आये हो", "दिल्ली की ही तरह यहाँ भी बवाल करने आये हो", "हिन्दू-मस्लिम को लड़वाने आये हो" और साथ ही गन्दी गालियाँ देने लगे। यह देखकर कि मोहल्ले के लोग उनकी बातों में नहीं आ रहे हैं और कार्यकर्ताओ का ही साथ दे रहे हैं, ये संघी और भी ज़्यादा बौखला उठे और मारपीट की कोशिश करने लगे। पुलिस ने मारपीट करने वाले संघियों पर कोई कार्रवाई करने के बजाय मुहिम के साथियों पर ही महामारी एक्ट की विभिन्न धाराओं में केस दर्ज कर लिया और मुहिम के साथियों का एफ़आईआर दर्ज करने से ही इनकार कर दिया। अब अदालत के ज़रिए एफ़आईआर दर्ज करने का आदेश हो चुका है। यह पूरी घटना पुलिस-अफ़सर-संघी और सत्ता सबकी मिलीभगत को अच्छे से उजागर कर दी है। इलाके में फिर से यह अभियान जोर शोर से चलाया जा रहा है।

दिल्ली के मज़दूर बहुल इलाकों में इस अभियान के तहत नौजवान भारत सभा और भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी की ओर से मोहल्ला कमेटियों का गठन किया जा रहा है। दिल्ली के ये मज़दूर इलाके कोरोना महामारी से भयंकर रूप से प्रभावित थे, लेकिन इन इलाकों में न तो अस्पताल है, न ही कॉरेन्टीन होने की कोई सुविधा और न ही सरकार की दृष्टि इन मज़दूर बस्तियों की तरफ कभी जाती है। यह पूरी स्थित हज़ारों मेहनतकशों के मौत का कारण बनी। स्थिति के भयानकता का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि दिल्ली की केजरीवाल सरकार ने इन बस्तियों के किनारे शमशान घाट तक बनवा डाला। भारत की क्रान्तिकारी मज़दूर पार्टी ने बस्ती में बने इस शमशान घाट के खिलाफ लोगों को संगठित किया। ऊपर से लॉकडाउन में राशनिंग की समुचित व्यवस्था न होने की वजह से इन बस्तियों में भुखमरी की स्थिति भी पैदा होने लगी है। इन सब समस्याओं को धयान में रखते हुए बनाई गई कमेटी रोजमर्रा की दिक्कतों-परेशानियों जैसे- साफ पीने का पानी या साफ-सफाई की उचित व्यवस्था का न होना इत्यादि के साथ साथ कई अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं जैसे बेरोजगारी, तय न्यूनतम वेतन से बहुत कम वेतन मिलना तथा शिक्षा-स्वास्थ्य-आवास इत्यादि मसले पर लोगों को संगठित करने का काम कर रही है।

इन कमेटियों की मीटिंग में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किए:

1. घर-घर जाकर एक सर्वे किया जाएगा जिसमें मुख्यत: निम्नलिखित जानकारी जुटाई जाएगी:

i. बेरोजगारों की संख्या

ii. वेतन व काम के घण्टों की स्थिति

iii. घर में स्कूल जाने लायक बच्चे तथा स्कूल में उनके एडमिशन की स्थिति

iv. बच्चों की ऑनलाइन कक्षा ले पाने में समर्थता की स्थिति और अगर वे असमर्थ हैं तो उसके कारण

v. सप्लाई के पानी की गुणवत्ता के बारे में लोगों की राय

vi. खरीद कर पानी पीने वाले घरों की संख्या

vii. इलाके की सफाई व्यवस्था के बारे में लोगों की राय

viii. लोगों के राशन कार्ड बने होने की स्थिति और राशन व्यवस्था के बारे में लोगों की राय

ix. आधार कार्ड व वोटर कार्ड बने होने की स्थिति

2. राशन कार्ड से संबंधित समस्याओं के निवारण के लिए तत्काल ही संबंधित विधायक तथा अधिकारियों पर अपनी एकजुटता से दबाव बनाकर सभी लोगों को राशन कार्ड उपलब्ध करवाया जाये।

3. एक रात्रि पाठशाला की शुरुआत की जाए जिसमें गली में रहने वाले निरक्षर मजदूरों को अक्षर ज्ञान से परिचित कराया जाये।

इसके अलावा यह अभियान बिहार, हरियाणा, महाराष्ट्र, पंजाब आदि प्रदेशों में जोर-शोर से चलाया जा रहा है।

●

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छात्रों ने जीती एक और लड़ाई : प्रमोशन और अंक सुधार के मुद्दे पर प्रशासन को किया झुकने पर मज़बूर

इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रशासन को दमन के तमाम हथकण्डे अपनाने के बाद भी छात्रों के जुझारू आन्दोलन के आगे झुकना पड़ा रहा है। कोरोना महामारी के मद्देनजर इस बार विश्वविद्यालय प्रशासन ने स्नातक प्रथम वर्ष और परास्नातक

प्रथम सेमेस्टर के छात्रों को छोड़कर सभी छात्रों को प्रोन्नति दे दी गयी।विश्वविद्यालय प्रशासन का कहना था कि प्रथम वर्ष और प्रथम सेमेस्टर के छात्रों के मूल्यांकन के लिए विश्वविद्यालय के पास कोई डेटा नही है। यह वही विश्वविद्यालय है जो पिछले साल कोरोना के पहली लहर के दौरान स्नातक प्रथम वर्ष और परास्नातक प्रथम सेमेस्टर के छात्रों को प्रोन्नत कर चुका है, और इस साल भी उन छात्रों को (द्वितीय वर्ष के छात्रों को) प्रोन्नति दे दी गयी है। अब सवाल उठता है कि विश्वविद्यालय के पास इन छात्रों प्रोन्नत करने के लिए डेटा कहाँ से आया? और अगर इन छात्रों का डेटा विश्वविद्यालय के पास है तो उसी विश्वविद्यालय में पढ़ने वाले दूसरे छात्रों का डेटा कैसे नही है?

प्रोन्नत छात्रों को परेशान करने का कोई भी मौका विश्वविद्यालय हाथ से नही जाने दे रहा है। प्रोन्नत करते समय यह बात कही गयी थी कि छात्रों को 7 फीसदी तक अंक बढ़ाकर दिया जाएगा। लेकिन जब अंकपत्र मिलने लगा तब पता चला कि बढ़ाना तो दूर जो छात्र परीक्षा देकर पिछली बार बेहतर अंकों से पास हुए थे उनके अंक कम कर दिए गए। सबसे मजेदार बात तो यह है कि विश्वविद्यालय इसमें भी बहुत से छात्रों को अनुपस्थित, अनुचित चीज़ों के प्रयोग आदि दिखलाकर फेल तक कर दिया है। बहुत से छात्रों का रिजल्ट अब तक विश्वविद्यालय की वेबसाइट पर नही अपलोड हुए है जिससे छात्रों में अनिश्चितता बनी हुई है। ऊपर से तुर्रा यह कि विश्वविद्यालय ने तानाशाहीपूर्ण फ़रमान जारी कर दिया कि स्नातक तृतीय वर्ष के प्रोन्नत छात्रों को अंक सुधार परीक्षा में बैठने का मौका नही दिया जाएगा। मतलब एक तो छात्रों का अंक कम कर दिया गया ऊपर से उसको सुधारने के सारे दरवाज़ों पर ताला जड़ दिया गया।

विश्वविद्यालय के इस छात्र विरोधी रुख के खिलाफ छात्र आंदोलित होने लगे। दिशा छात्र संगठन समेत अन्य छात्रों ने इसके खिलाफ़ विश्वविद्यालय में प्रदर्शन कर स्नातक प्रथम वर्ष और परास्नातक प्रथम सेमेस्टर के छात्रों को प्रोन्नत करने और स्नातक तृतीय वर्ष के छात्रों के लिए न्यूनतम 60% अंक सुनिश्चित करने की मांग उठाना शुरू किया। बाद में इन माँगो को लेकर परीक्षा नियंत्रक और कुलपति को ज्ञापन दिया गया लेकिन छात्रों को केवल आश्वासन मिलता रहा। विश्वविद्यालय प्रशासन हर रोज़ बैठके करता रहा और अपने छात्र विरोधी रुख पर अड़ियल रहा। हद तो तब हो गयी जब प्रथम वर्ष और प्रथम सेमेस्टर के छात्रों को प्रोमोट करने के माँग पर मीटिंग में बहुमत इस बात की थी कि छात्रों को प्रोमोट कर दिया जाय लेकिन मीटिंग में कुलपति महोदय ने वीटो का प्रयोग करते हुए फैसले को सुरिक्षत रख छात्रों के साथ गंदे मज़ाक की सीमा तक उत्तर आयी। अगले दिन दिशा छात्र संगठन और अन्य छात्रों ने जब आन्दोलन तेज़ किया तब जाकर विश्वविद्यालय को झुकना पड़ा और सभी छात्रों को बिना शर्त प्रोन्नत करना पड़ा। इसके बाद अंक सुधार परीक्षा से छात्रों को वंचित किया जाने के मांग पर आन्दोलन तेज हुआ। 23 जून को छात्रसंघ भवन पर इक्कट्ठा होने के लिए कॉल दिया गया। इसके बाद विश्वविद्यालय प्रशासन और सत्ता के छात्रों-नौजवानों के आन्दोलनों से डर का नमूना इलाहाबाद विश्वविद्यालय कैम्पस में देखने को मिला और अभी तक मिल रहा है। जब छात्र सभी प्रोन्नत छात्रों को न्यूनतम 60 फीसदी अंक सुनिश्चित करने और अंक सुधार परीक्षा के अधिकार को बहाल करने के मांग को लेकर छात्रसंघ भवन पर जुटने लगे तो विश्वविद्यालय को छावनी में तब्दील कर दिया गया है। गौरतलब है कि विश्वविद्यालय का रवैया भी देश की राजनीति से इतर नहीं तय होता है। आज देश की सत्ता में बैठी फ़ासीवादी मोदी सरकार शिक्षा का भी पूरी तरह से लुटेरों के मुनाफ़ा कमाने का अड्डा बनाने में लगी हुई है। नयी शिक्षा नीति भाजपा के फ़ासीवादी एजेण्डे को अमलीज़ामा पहनाने की नीति है जो आम मेहनतकश परिवारों से आने वाले छात्रों-नौजवानों को शिक्षा के बुनियादी अधिकार से भी दूर धकेल देगी। दूसरे विश्वविद्यालय में बचा-खुचा डेमोक्रेटिक स्पेस भी इस नीति की भेंट चढ़ जाएगा और चढ़ रहा है। क्योंकि इस नीति में छात्रों के किसी भी जनवादी मंच का कोई जिक्र तक नही है। मोदी सरकार किस तरह विश्वविद्यालयों के बाहर होने वाले छात्रों-नौजवानों के आन्दोलनों को पुलिस के लाठी के दाम पर कुचल रही है, इसका एक उदाहरण पिछले साल 5 सितम्बर को देखने को मिला जब बेरोज़गारी से तंग नौजवान मोदी के जन्मदिन को देश भर में बेरोज़गारी दिवस के रूप में अपना प्रतिरोध दर्ज कर रहे थे। उस समय अकेले इलाहाबाद में तीन जगहों पर लाठी चार्ज किया गया था।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रशासन जो केन्द्र सरकार का लाडला बनने के लिए इतना उतावला है कि आनन-फानन में नयी शिक्षा नीति को विश्वविद्यालय में थोपने की तैयारी कर रहा है। और साथ ही साथ फ़ासीवादी सत्ता के तर्ज पर नौजवानों को यह संदेश भी देने की कोशिश में लगा हुआ है कि कोई भी अगर प्रशासन के खिलाफ बोलेगा तो उसको पुलिस की लाठियों के दाम पर चुप करा दिया जाएगा। लेकिन तमाम साजिशों, गिरफ्तारी और पुलिसिया दमन के बावजूद न तो देश में और न ही विश्वविद्यालय में छात्र लड़ने की ज़िद छोड़ रहे हैं। इन माँगो को लेकर विश्वविद्यालय में दो दफ़ा गिरफ्तारी भी हुई लेकिन इन मांगों को लेकर आन्दोलन कुलपति कार्यालय पर अनिश्चित कालीन धरने में बदल गया। धरना खत्म करने के लाख कोशिशों, के बावजूद भी छात्र कुलपति कार्यालय पर जमे रहे और अंत मे छात्रों के इस संघर्ष के आगे विश्वविद्यालय प्रशासन को घुटने टेकने पड़े और छात्रों को अंक सुधार परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी गयी।

●

राहुल फाउण्डेशन की चार महत्वपूर्ण पुस्तकें

प्रस्तुत पुस्तक फासीवाद के उभार के इतिहास और उसके सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक कारणों के विश्लेषण के साथ ही जर्मनी और इटली में फासीवाद के उभार और कार्यप्रणाली की चर्चा करती है तथा उनकी विशिष्टताओं के बारे में बताती है। यह भारत में फासीवादी शक्तियों की जन्मकुण्डली का ब्योरा देते हुए यही फासीवाद की विशिष्टताओं के बारे में बताती है तथा इससे लड़ने की रणनीति और क्रान्तिकारी शक्तियों के कार्यभारों की भी चर्चा करती है।

पृष्ठ : 240, मूल्य : 120 रुपये

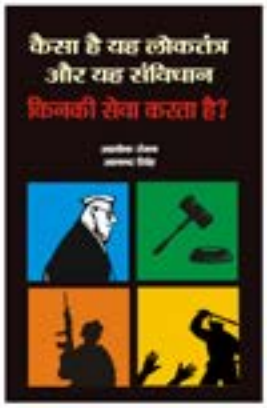

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति-सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के खतरों के बारे में एक विचारोत्तेजक, शोधपूर्ण, आँखें खोल देने वाली पुस्तक।

पृष्ठ : 200, मूल्य : 150 रुपये

आनन-फानन में लाये गये इन कृषि कानूनों से किसे लाभ होगा, किसे नुकसान होगा? मौजूदा किसान आन्दोलन का वर्ग चरित्र क्या है? वे कौन से मुद्दे हैं जिन्हें लेकर मज़दूर वर्ग और ग़रीब किसानों को इन कानूनों का विरोध करना चाहिए? क्या मज़दूर वर्ग इन कानूनों के मज़दूर व ग़रीब-विरोधी प्रावधानों का विरोध कृषि क्षेत्र के पूँजीपति वर्ग, यानी धनी किसानों व कुलकों के मंच से कर सकता है? क्या इनके साथ मिलकर कोई फासीवाद-विरोधी आन्दोलन खड़ा किया जा सकता है? यह पुस्तिका मार्क्सवादी नज़रिए से इन सवालों का विश्लेषण करती है।

पृष्ठ : 60, मूल्य : 40 रुपये

मौजूदा संकलन में शामिल दो लेख 2019-20 में चली एक अहम बहस का हिस्सा हैं। यह बहस हिन्दी पत्रिका 'मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान' और पंजाबी पत्रिकाओं 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' के बीच चली थी। मौजूदा पुस्तक में दो लेख हैं। पहला लेख प्रमुख सैद्धान्तिक लेख है जो 'प्रतिबद्ध' और 'ललकार' की राष्ट्रीय प्रश्न पर अवस्थिति के गैर-मार्क्सवादी और ऑस्ट्रो-मार्क्सवादी, बुण्डवादी व ज़ारवादीपन्थी तथा राष्ट्रीय शायनवादी व भाषाई अस्मितावादी अवस्थिति की विस्तृत आलोचना पेश करता है। दूसरे लेख में सोवियत रूस और फिर सोवियत संघ में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के ऐतिहासिक तथ्यों के विषय में 'प्रतिबद्ध' व 'ललकार' द्वारा पेश अज्ञानतापूर्ण विचारों का खण्डन पेश किया गया है।

पृष्ठ: 220, मूल्य: 150

पुस्तकें मँगाने और सम्पूर्ण पुस्तक सूची देखने के लिए हमारे मुख्य वितरक से सम्पर्क करें :

जनचेतना

मुख्य केन्द्र : डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546 (व्हॉट्सऐप)

ईमेल : janchetna.books@gmail.com **वेबसाइट :** www.janchetnabooks.org

Muktikami Chhatron-Yuvaon ka Aahwan • March '21-June '21 • RNI NO- DELHIN/2008/26966

ख़त्म करो पूँजी का राज!
लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!!

हम पूँजीवादी संसदीय जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी, लूटतंत्र और दमनतंत्र को सिरे से ख़ारिज करते हैं। हम पंचायती राज की कपटपूर्ण सरकारी नौटंकी को भी सिरे से ख़ारिज करते हैं। समय के गर्भ में आज महत्त्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं। विकल्प के निर्माण के लिए उन्हें ही आगे आना होगा जो ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज़ उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, उन्हें ही नयी व्यवस्था बनाने के लिए आगे आना होगा।

साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का एक-एक दिन हमारे लिए भारी है। यह घुटन, यह सड़ाँध अब ज़िन्दा आदमी के बर्दाश्त के क़ाबिल नहीं। हमें उठ खड़ा होना होगा और अपने ज़िन्दा होने का सबूत देना होगा, वरना आने वाली पीढ़ियों को इतिहास क्या बतायेगा कि हम क्या कर रहे थे जब देश ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा हुआ था, तबाही के नर्ककुण्ड में झुलस रहा था?

यही कारण है कि हम विश्व पूँजीवादी तंत्र से नाभिनालबद्ध पूँजीवादी व्यवस्था को चकनाचूर कर पूरे समाज के आर्थिक आधार और ऊपरी ढाँचे का न्याय और समानता के आधार पर पुनर्गठन करने के लिए क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा बुलद करते हैं। इस नारे का मतलब है – उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर उत्पादन करने वाले सामाजिक वर्ग काबिज़ हों, फैसले की पूरी ताक़त उन्हीं के हाथों में हो। इस नारे का सारतत्व है–'सारी सत्ता मेहनतकश को!'

...परिवर्तनकामी छात्रों-युवाओं को नये सिरे से अपने क्रान्तिकारी संगठन और जुझारू संघर्ष संगठित करने होंगे और उन्हें मेहनतकशों के संघर्षों से जोड़ना होगा। उन्हें शहीदेआज़म भगतसिंह के सन्देश को याद करते हुए क्रान्ति का सन्देश कल-कारख़ानों और खेतों-खलिहानों तक लेकर जाना होगा। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवियों को एक नये सर्वहारा पुनर्जागरण और प्रबोधन के सांस्कृतिक कार्यभारों को पूरा करने में सन्नद्ध हो जाना होगा। स्त्रियों की आधी आबादी की जागृति और लामबन्दी के बिना कोई भी सामाजिक परिवर्तन सम्भव नहीं। मेहनतकशों, छात्रों-युवाओं, बुद्धिजीवियों सभी मोर्चों पर स्त्रियों की भागीदारी बढ़ाना सफलता की बुनियादी शर्त है। साथ ही स्त्री आन्दोलन को कुलीन मध्यवर्गीय दायरे, एन.जी.ओ. पन्थी सुधारवादी गलाज़त और निष्क्रिय विमर्शवादी अस्मितावादी वैचारिक विभ्रम के दलदल से बाहर निकालकर जुझारू संघर्षमुखी और व्यवस्था-परिवर्तनवादी दिशा देनी होगी।

बिगुल मज़दूर दस्ता, नौजवान भारत सभा, दिशा छात्र संगठन,
स्त्री मुक्ति लीग और स्त्री मज़दूर संगठन

द्वारा चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान की ओर से जारी

सम्पर्क : नौजवान भारत सभा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94, फ़ोन : 011-64623928
ईमेल : disha.du@gmail.com